भारतीय साहित्यशास्त्र

लेखक

गणेश त्र्यंबक देशपांडे
एम्. ए., एल्‌एल्. बी., डी. लिट्.

रीडर इन् संस्कृत

पॉप्युलर बुक डेपो, बंबई ७

आचार्याणां स्वरूपेण शास्त्रविद्याप्रवर्तनम् ।
करोति काऽपि या तस्याः पादयोरिदमर्पितम् ॥

प रि च य

✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤✤
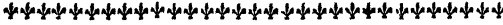
मेरे लिये यह बडे ही हर्ष की बात है कि प्राध्यापक गणेश त्र्यबक देशपाडे का—जो कि मेरे विद्यार्थी और मित्र रहे हैं—एक उत्कृष्ट ग्रथ—'भारतीय साहित्यशास्त्र' विद्वानो के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है। अध्ययनकाल में ही आप बुद्धि कुशाग्रता, ज्ञानग्रहण की उत्सुकता तथा विचक्षणता आदि गुणो के समुच्चय से ख्यातिप्राप्त थे। आगे चल कर, जब आपने प्राध्यापक-वृत्ति स्वीकार की, तो सचित ज्ञान से ही सतोष न मानकर, आपने पूर्वमीमासा, धर्मशास्त्र, साहित्यशास्त्र, साख्यादि दर्शन आदि का गभीर अध्ययन करते हुए अपने ज्ञान का स्तर ऊँचा उठाया और तभी अपनी परिणत प्रज्ञा का फल लेखो तथा भाषणो के द्वारा विद्वानमडली के सम्मुख उपस्थित करना आरम्भ किया। आपकी विवेचनाशैली प्रमाणपरिपुष्ट एवं प्रसादगुणयुक्त होने से, अल्प समय मे ही आपका यश सर्वत्र प्रसारित हुआ तथा अनेकानेक सस्थाएँ भाषणमालाओं के ग्रथन के लिये आपको निमन्त्रित करती रही। बबई मराठी साहित्य सघ की, 'वामन मल्हार जोशी व्याख्यानमाला' के उपलक्ष्य मे आपके दिये भाषण अब ग्रन्थ रूप मे प्रकाशित हो रहे हैं।

विगत तीस चालीस वर्षो मे, भारत मे साहित्यशास्त्र से संबन्धित बहुत कुछ अनुसंधान हुआ है। महामहोपाध्याय डॉ. पां वा. काणे, डॉ. सुशीलकुमार दे, डॉ. राघवन्, डॉ. शकरन् आदि विद्वानो ने, साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत विविध समस्याओं की गभीर चर्चा की है। डॉ. काणे ने एव डॉ दे ने सस्कृत साहित्यशास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास भी लिखा है। किन्तु ये सभी ग्रन्थ अग्रेजी मे लिखे गये है। मराठी मे प्रा. द. के. केळकर का 'काव्यालोचन' डॉ. के. ना. वाटवे का 'रसविमर्श' आदि ग्रन्थो का निर्माण तो हुआ है, किन्तु फिर भी सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य का आलोडन करते हुए, ऐतिहासिक पद्धति से, तद्गत विविध समस्याओं का विस्तरशः

विवेचन करनेवाले ग्रन्थ की आवश्यकता थी ही। स्वाधीनता प्राप्ति के अनन्तर उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप मे देश्य भाषाओ का अधिकाधिक मात्रा मे उपयोग किया जा रहा है। ऐसे समय मे इन भाषाओ मे स्वतन्त्र एव विचक्षरा पद्धति से लिखे ग्रन्थो की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत हो रही है। मराठी मे साहित्यशास्त्रविषयक ग्रन्थो के इस अभाव की पूर्ति, प्रा देशपाडे कृत इस ग्रन्थद्वारा अच्छी तरह से होगी।

प्रा. देशपाडे के ग्रन्थ के दो विभाग है। पूर्वार्द्ध मे भरताचार्य के नाटचशास्त्र से लेकर तो पंडित जगन्नाथ कृत रसगगाधर तक के, अर्थात् ख्रि पू २०० से लेकर तो ख्रिस्तोत्तर १७०० तक के लगभग दो सहस्र वर्षो की अवधि मे साहित्यशास्त्र विकास किस प्रकार होता रहा यह, भिन्न भिन्न कालखडो मे हुए ग्रन्थकारो के ग्रन्थान्तर्गत विषयो का सूक्ष्म पर्यालोचन करते हुए दर्शाया गया है। इस ग्रन्थ मे, अनेक स्थानो मे प्रा. देशपाडे की स्वतन्त्र प्रज्ञा का आभास मिलता है। उदाहरण के लिये, भरत द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो का उत्तरकालीन अलकारो से आपने प्रस्थापित किया हुआ सबन्ध देखिये। इसी तरह, भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, आदि ग्रन्थकार भिन्न भिन्न सप्रदायो (Schools) के प्रवर्तक न हो कर, उन्होंने 'सिद्धपरमतानुवाद' के आधार पर निज ग्रन्थो मे विषयो की विवेचना की है, यह भी प्राध्यापक देशपाडे ने सिद्ध किया है।

उत्तरार्द्ध मे शब्दार्थों का स्वरूप, अभिधा, लक्षरा तथा व्यजना की शक्तियाँ, व्यंग्यार्थ अर्थात् ध्वनि, रसप्रक्रिया आदि साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत विषयो का विवेचन आकर ग्रन्थो का अनुसरण करते हुए विस्तारपूर्वक किया गया है। इनमे, 'रसप्रक्रिया' का अध्याय इस विभाग का मर्म है। अभिनवगुप्त कृत अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोकलोचन इन टीकाओ का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए, उनके सिद्धान्त तथा उनके द्वारा की गयी पूर्वाचार्यो के मतों की आलोचना प्रा देशपाडे ने अति विशद रूप मे विवेचित की है। साहित्यशास्त्रान्तर्गत विविध विषयो के विवरण में व्याकरण, पूर्वमीमासा, न्याय आदि शास्त्रो की पारिभाषिक संज्ञाओं का एव सिद्धान्तो का उपयोग किया जाता है। ग्रन्थकार ने स्थानस्थान पर उन सज्ञाओ को एव सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। इससे, जिनका उन शास्त्रो से परिचय नही है उनके लिये ग्रन्थकारकृत विषयप्रतिपादन सरल हो गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे अनेक स्थानो पर, उदाहरण के लिये सस्कृत पद्य लिये गये है। इन पद्यो मे व्यग्यार्थ तथा सौदर्य स्पष्ट करने में ग्रन्थकार ने उच्च कोटी की रसिकता दर्शायी है।

आजकल मराठी में रस के विषय मे चर्चा चलती है। और कई बार, विवेचक का सस्कृत ग्रन्थों से साक्षात् परिचय न होने के कारण, सस्कृत साहित्य-

शास्त्रकारों के मतो का विपर्यास होने की संभावना रहती है। इस दशा मे प्रस्तुत ग्रन्थ से, सस्कृत साहित्यशास्त्रकारो के मतो का यथार्थ ज्ञान होने में सहाय्यता मिलेगी। इसी प्रकार, विश्वविद्यालयो की बी. ए., एव एम् ए. परीक्षाओ मे मम्मटाचार्य कृत 'काव्यप्रकाश' आनन्दवर्धनाचार्य कृत 'ध्वन्यालोक' आदि ग्रन्थ सस्कृत के पाठ्यक्रम मे समाविष्ट रहते है। इसमे सदेह नही कि सस्कृतज्ञ छात्रो को भी उन ग्रन्थों के अध्ययन मे प्रस्तुत ग्रन्थ से बहुत कुछ सहाय्यता मिलेगी।

प्रा देशपाडे की शैली प्रवाहपूर्ण, आकर्षक एवम् सुदर है। उनके विवेचित विषय गहन है, किन्तु जहाँतक हो सके आपने उनको सरल किया है। आपके इस ग्रन्थ को मै सहर्ष प्रस्तुत करता हूँ।

नागपुर
मकरसक्रमरण
दि. १४-१-१९५८

वा. वि. मिराशी

ऋ ण नि र्दे श

मन्दो (बुध) यश प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहूरिव वामन ॥
अथवा कृतवाग्द्वारे (शास्त्रे) ऽस्मिन् पूर्वसूरिभि ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति ॥

"मङ्गलादीनि शास्त्राणि प्रथन्ते" भगवान. भाष्यकार का वचन है, "पूर्वेभ्यो भरतादिभ्य सादरं विहितोऽञ्जलिः ।" आदि मगल से शास्त्र आरभ करने की शिष्टो की मान्य रीति है। और शास्त्रसमत शिष्टाचार का पालन सर्वदा श्रेय प्रद होता है ।

ऐसा समझना ठीक नही कि मुनि भरत से प्रचलित पूर्वसूरियों की परम्परा जगन्नाथ के अनन्तर खण्डित हुई । भाषा तथा विवेचना की पद्धति में परिवर्तन यद्यपि स्पष्ट है, तथापि साहित्यशास्त्र के आधुनिक विवेचक भी मुनि के ही गोत्रज है। मुनि के इन आधुनिक गोत्रजो मे, सर्वप्रथम निर्देश महामहोपाध्याय डॉ पा वा. काणेजी का ही करना आवश्यक है। साहित्यदर्पण की डॉक्टर साहब द्वारा लिखित प्रस्तावना ही है कि मुझे मीमासा से साहित्यशास्त्र की ओर आकर्षित किया। एक ग्रन्थ की प्रस्तावना के रूप मे लिखा आपका यह निबन्ध, साहित्यशास्त्र के इतिहास के रूप मे मौलिक सिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ का यह महत्त्व है कि साहित्य-ग्रन्थो के कालानुक्रम के विषय में इस ग्रथ का कोई भी आधार लें। डॉ सुशील-कुमार दे का Sanskrit Poetics ग्रथ भी इसी स्तर का है। साहित्यमीमासा के विविध अंगो की कल्पना इस ग्रथ से पूर्णरूपेण आती है। इस ग्रंथ से स्पष्ट है कि शास्त्रीय विवेचन भी साहित्य के समान आकर्षक होता है। इसके अतिरिक्त, कई लोगो को इस ग्रन्थ से अध्ययन की प्रेरणा भी प्राप्त हुई है। डॉ. शंकरन् के निबध,

Some Aspects of literary Criticism in Sanskrit तथा Rasa and Dhvani, डॉ. लाहिरी का प्रबन्ध Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics, डॉ. राघवन् के ग्रन्थ Bhoja's Shringar Prakash तथा Number of Rasas, एवम् लेखसग्रह Some Concepts of Alankar Shastra आदि, तथा ऐसे अन्य ग्रन्थ भी साहित्यशास्त्र के प्रमेय विशेषो के पूर्ण रूप से परिचायक है। इनके अतिरिक्त, विभिन्न पत्रपत्रिकाओ मे प्रसिद्ध स्फुट लेखन है ही।

साहित्यशास्त्र के मूल ग्रन्थो के अध्ययन मे, उपर्युक्त सभी ग्रन्थो से तथा लेखों से मुझे अनेक प्रकारो से सहाय्यता मिली है और अनेक बार मेरे विचारो को गति प्राप्त हुई है। मूल ग्रन्थो के सम्बन्ध मे इन ग्रन्थो का पठन तथा इन ग्रन्थो के सम्बन्ध मे मूल ग्रन्थो का पुन अवलोकन, इस प्रकार अध्ययन करने से, मेरे विचार धीरे धीरे निश्चित रूप धारण करने लगे। यह बात नही कि, इन ग्रन्थकारो के सभी मतो से मै आज सहमत हूँ, किन्तु तब भी मै इस उपकार को नही भूल सकता कि मेरे विचारो को गति तथा आकार इन्ही ग्रन्थो ने दिया है। मूल ग्रथो के बारे मे क्या कहा जायँ, मै जो कुछ हूँ, इन मूल ग्रन्थो के कारण ही हूँ।

प्रकृत ग्रन्थ के पूर्वार्ध की प्रेरणा मुझे डॉ राघवन् के कुछ लेखो से मिली। डॉ. राघवन् के लिखे दो सुदर लेख है—'Names of Sanskrit Poetics' और 'Lakshana'। इनमे से प्रथम लेख मे डॉ. राघवन् ने दर्शाया है कि साहित्यशास्त्र की 'अलकार' के साथ और भी दो सज्ञाएँ है— 'काव्यलक्षण' और 'क्रियाकल्प'। इस लेख को पढते ही, साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत अनेक बाते मेरे सम्मुख उपस्थित हुई, एव मेरी धारणा हुई कि ये प्राचीन नाम केवल सज्ञा के लिये न हो कर, शास्त्र के विकास की अवस्थाओ के वे द्योतक है। डॉ. राघवन् ने लक्षणों पर लिखे निबध मे अभिनवगुप्तकृत विवेचना की आलोचना मे, एक दो स्थानो पर अर्थ के विषय मे संदेह प्रकट किया है, किन्तु मुझे प्रतीत हुआ कि निरुक्त तथा मीमासा की सहाय्यता से, वह सदेह भी नष्ट हो सकता है। इस विषय में पण्डित ताताचार्यकृत भामह टीका तथा प्रस्तावना से भी मुझे क्वचित् आधार प्राप्त हुआ। तब, मुझे हिमत बँध गयी कि मेरा तर्क गलत तो नही था, और इस दृष्टि से मैने मूलग्रथों का पुन. अवलोकन आरम्भ किया। इसीसे, पूर्वार्ध मे ग्रथित विचार सिद्ध हुआ है।

मेरे ये विचार कदाचित् मन ही मन मे रह जाते, अधिक से अधिक यही होता कि कुछ एक विचार लेखरूप मे प्रकट हुए होते। किन्तु ये सब विचार ग्रन्थनिविष्ट होनेवाले ही थे, मानो इसी लिये, विद्वानों के सम्मुख इन्हे प्रस्तुत करने का प्रसंग भी

आ गया । बबई मराठी साहित्य सघ के तत्त्वावधान मे, प्रतिवर्ष ' वामन मल्हार जोशी व्याख्यानमाला ' आयोजित की जाती है । सन् १९५३ में मुझे इस माला के लिये निमन्त्रित किया गया । उस समय साहित्यशास्त्र के सबन्ध मे मेरे विचार मैंने विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत किये। कुल पाँच भाषणों में मैंने इसका पूरा मानचित्र उपस्थित किया । इसीका अब यह ग्रन्थरूप है।

भाषणो के लगभग पाँच वर्ष बाद यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। इस विलब के लिये अधिकांश उत्तरदायित्व मेरा ही है । बबई मराठी साहित्य सघ के तत्कालीन मन्त्री डॉ. भालेराव की हार्दिक इच्छा थी कि करीब २०० से २५० पृष्ठो का ग्रन्थ मै उसी समय लिख दूँ। किन्तु उस समय वह कार्य नही हो सका। इसके अतिरिक्त मै भी यह निश्चय नही कर सका कि मात्र पूर्वार्ध ही दे या उत्तरार्ध भी दिया जाये। अन्तत , कई मित्रो के विचार से तय हुआ कि, पृष्ठसख्या चाहे जो हो, जो कुछ कहना है एक बार कह दे । किन्तु तब आरभ मे जो उत्साह था वह कुछ कम होने लगा था । और प्रो. वा. ल. कुलकर्णी, प्रो. पु. शि. रेगे, प्रो रा. भि जोशी, डॉ. ग्रामोपाध्ये, प्रो. अनन्त काणेकर आदि मित्रो का अनुरोध न होता, तो कह नही सकते कि आजतक भी यह ग्रन्थ पूरा हो पाता या नही ।

इसके बाद सवाल था प्रकाशन का । ग्रन्थ पूरा लिख कर, पाण्डुलिपि मैंने साहित्यसघ को प्रस्तुत की । किन्तु सघ की रखी पृष्ठो की मर्यादा का मैंने उल्लघन किया था—दो गुना पृष्ठ लिख कर। इससे, उस सस्था को, ग्रन्थ के प्रकाशन के विषय मे मै कुछ कह नही सकता था । तब, इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार पॉप्युलर बुक डिपो के सचालक दोनों बन्धु—श्री. सदानद तथा श्री रामदास भटकल ने सम्हाला । श्री ढवळे के कर्नाटक प्रेस ने मुद्रण कार्य किया — समय की पाबन्दी न रखते हुए मेरी ओर से प्रूफ जाते थे—आपने इस बारे में कोई शिकायत नही की । इस प्रकार यह ग्रन्थ आज प्रकाशित हो रहा है । इस ग्रन्थ के निर्माण का श्रेय—उन ग्रथो तथा ग्रन्थकारो को जिन्होने मुझे प्रेरणा दी,—बबई मराठी साहित्य सघ को—जिसने मुझे भाषणो का अवसर दिया, मेरे मित्रगण जिन्होंने नित्य अनुरोध किया—भटकल बन्धु—जिन्होंने आर्थिक भार उठाया तथा कर्नाटक प्रेस के सचालक और कर्मचारी आदि सभी का है । इन सभी को मै हृदय से धन्यवाद अर्पित करता हूँ । एक ही बात मन में खटकती है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समय डॉ भालेराव हम लोगो मे नही है ।

मै जब हाइस्कूल में पढ़ता था तभी प्रो. ना. भू. जवादीवार मुझसे कुवलयानन्द की कारिकाओ का पाठ करवाते थे। मुझपर अभी वे सस्कार है। मॉरिस कॉलेज

में जो जीवन बीता, उसमे प. रामप्रतापशास्त्री नित्य भागवत के छन्दों का सौदर्य विशद करते थे। सस्कृत काव्य के सौदर्य का आस्वादन उन्ही का सिखाया है। म म. वा वि. मिराशीजी ने मुझे साहित्यशास्त्र मे प्रविष्ट किया। प. सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदीजी ने तत्त्वबोधिनी मे गति करायी तथा शास्त्रविवेचना की प्राचीन पद्धति की शिक्षा दी। हिस्लॉप कॉलेज के प्रो. गो के गर्दे जी ने मीमासा मे मुझे प्रविष्ट किया। इन सभी गुरुजनो का मुझे इस समय स्मरण हो रहा है। इन गुरुजनो ने ही मेरी सविद्दीपिका को प्रज्वलित किया, आजतक प्रज्वलित रखा तथा मुझे सँस्कारपूत किया। यह जो कुछ मै विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत कर सका, यह उन्हींकी दी हुई शिक्षा का फल है। उस सविद्दीपिका से प्रवर्तित यह ग्रन्थरूप छोटीसी आरती मै आज मेरे गुरुजनो के श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ।

गुरुवर म. म नानासाहेब मिराशी जी की अब भी मेरे लिये पहले जैसी आस्था है। मेरे स्वाध्याय मे खण्ड न हो इस लिये आप नित्य सतर्क रहते है; मेरा छोटासा लेख भी क्यो न हो, शीघ्र ही उसे पढ कर आप उसके विषय मे लिखते रहते हैं एव मुझे प्रोत्साहित करते है। और इस लिये, मै भी चाहे जब आपका चाहे जितना समय लेता रहता हूँ। इस समय, वे वस्तुत कार्य मे निमग्न है, किन्तु मेरा आग्रह था कि आप मेरी यह रचना पढें। आपने भी इस ग्रन्थ को पढ कर, बडे स्नेह से विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत किया। मै कैसे आप का ऋण चुका सकता हूँ ?

मेरे मित्र कई बार मुझसे पूछते है कि, 'इस ग्रन्थ मे आप ने क्या नवीन बताया है?' तब मुझे अभिनवभारती मे से एक प्रसग याद आता है। रसाध्याय में, लोल्लट आदि पूर्व आचार्यो के मतों का अभिनवगुप्त ने परीक्षणपूर्वक सशोधन किया, तब पूर्वपक्षी अभिनगुप्त से पूछते है, 'उच्यतां तर्हि परिशुद्ध तत्त्वम्।' इस पर अभिनवगुप्त उत्तर देते है, 'उक्तमेव हि तत् मुनिना; न तु अपूर्व किञ्चित्।' ऐसा ही कुछ यहाँ भी है। इस ग्रन्थ मे जो कुछ बताया गया है वह पूर्वसूरियो का ही कहा है। मैंने उनके कथन का मात्र अनुवाद किया है। मैंने अपनी कुछ नई बात नही कही; ऐसा कुछ 'अपूर्व' मेरे पास है भी नही।

किन्तु ग्रन्थगत दोष तथा त्रुटियाँ मेरी अपनी है। पूर्वसूरियो से उनका संबन्ध नही है। इन दोषो को मै जानता हूँ। कई स्थानो मे इसमें अनुक्त और दुरुस्त होगे। इन्ही मे मुद्रणदोषों का भी योग है। कई मुद्रणदोप ध्यान में नहीं आये, छपाई मे कई स्थानो में टाइप उखड गया है; और कई पृष्ठोमें पुरानी और आधुनिक लेखनपद्धतियों का मिश्रण हुआ है। ये सब दोष मै देख सकता हूँ। विद्वान् इनके लिये क्षमा की दृष्टि रखे। कुछ विशेष टिप्पणियाँ, तथा विशिष्ट दोषो का एक शुद्धिपत्र साथ जोड दिया गया है। इस परसे शुद्ध करते हुए पाठक ग्रन्थ को पढ़ें।

यह सब करने पर भी, कहा नही जा सकता कि ग्रन्थ पूर्ण निर्दोष हुआ है। दो आँखे कहाँतक देख सकती है और दो हाथ कितना काम कर सकते है ? विश्व मे पूर्ण और दोषरहित केवल परमेश्वर है, किन्तु उनको भी इसके लिये, सहस्त्राक्ष और सहस्रबाहु होना पड़ा। प्रार्थना है कि पाठक इस ग्रन्थ के दोष तथा त्रुटियाँ बतायेगे। द्वितीय संस्करण में उनका सशोधन अवश्य किया जायगा।

अमरावती
वसतपचमी
दि. २४-१-१९५९

ग. त्र्यं. देशपांडे

आ भा र

मेरे मित्र प्रो० **श्रीनिवास गोविंद देउस्कर** जी ने इस ग्रथ का मराठी भाषा से हिन्दी भाषा मे अनुवाद प्रस्तुत किया है। वे सस्कृत साहित्य के व्यासङ्गी अभ्यासक है और भारतीय साहित्यशास्त्र में विशेष अनुराग रखने के कारण उन्होने यह कार्य सपन्न किया है। इस अनुवाद का कोई पारिश्रमिक भी स्वीकार न करके उन्होने साहित्य सेवा का आदर्श चरितार्थ किया है। उनका मै चिर ऋणी हूँ। उनका आभार किन शब्दो में प्रकट करूँ ?

उसी प्रकार मेरे मित्र श्री. रामदास जी भटकल जी ने इस ग्रथ का आत्मीयतापूर्वक प्रकाशन किया है। उनका भी मै ऋणी हूँ।

नागपूर,
१ दिसबर १९६०

ग. त्र्यं. देशपांडे

अनुक्रमणिका

पूर्वार्द्ध

उत्तरार्द्ध

भारतीय साहित्यशास्त्र

पूर्वार्द्ध

पूर्वार्द्ध

उत्तरार्द्ध

अध्याय पहला

विषयप्रवेश

सरितामिव प्रवाहा. तुच्छा. प्रथम यथोत्तरं विपुला ।
ये शास्त्रसमारभा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्या. ।।

नदी के प्रवाह के समान शास्त्र का भी प्रवाह प्रारभ में छोटा-सा होता है। बढते बढते वह विशाल बनता जाता है। ऐसे ही शास्त्र लोकादर के भाजन होते हैं। साहित्यशास्त्र के लिये भी यह नियम लागू होता है। आरभ की प्रायोगिक अवस्था के उपक्रमो से साहित्य का शास्त्र किस प्रकार विकसित हुआ हम इस भाग में देखेंगे।

साहित्यशास्त्र—काव्यालंकार—काव्यलक्षण—क्रियाकल्प

जिस शास्त्र के लिए आज हम साहित्यशास्त्र शब्द का प्रयोग करते है, उसका प्राचीन नाम अलकारशास्त्र है। 'अलकार' शब्द का आधुनिक अर्थ अनुप्रास—उपमा आदि के लिए ही सीमित हुआ है, किन्तु प्राचीन काल में उसकी व्याप्ति कहीं अधिक थी। रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि सभी का अन्तर्भाव 'अलकार' शब्द के अर्थ में होता था। प्राचीन परम्परा के पण्डित आज भी साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों को 'अलंकारग्रन्थ' तथा उसके अध्येता को 'आलकारिक' कहते हैं। कालातर में 'अलकार' शब्द की यह व्याप्ति संकुचित होती गई और उसके स्थानपर 'साहित्य' शब्द रूढ़ होता गया। काव्यविवेचना के प्राचीन ग्रन्थों के नामोंपर केवल दृष्टिक्षेप करने से यह स्पष्ट होता है। कुछ ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—

भामह (सन् ६००-७०० ईसवी)—काव्यालकार;
दण्डी (सन् ६००-७०० ईसवी)—काव्यादर्श;

उद्भट (सन् ८०० ईसवी)—काव्यालकारसारसग्रह,
वामन (सन् ८०० ईसवी)—काव्यालकारसूत्रवृत्ति,
रुद्रट (सन् ८५० ईसवी)—काव्यालकार.

उपर्युक्त ग्रन्थो में केवल अलकारो की ही विवेचना नही, अपितु उस समय के सभी साहित्यविषयक प्रश्नो का ऊहापोह किया गया है। उदाहरणस्वरूप, भामह के ग्रन्थ मे काव्यन्याय, शब्दशुद्धि आदि विषयो पर अध्याय हैं। वामन के ग्रन्थ में रीति पर विवेचना की गई है। रुद्रट के ग्रन्थ में तो रस पर भी विवेचना है। पर केवल दण्डी का अपवाद छोड दिया तो सभी ने अपने ग्रन्थो को 'काव्यालंकार' यही एक नाम दिया है।

लेकिन रुद्रट के बाद ग्रन्थो के नाम कुछ भिन्न प्रकार के दिखाई देते है। काव्य के विविध अंगो की चर्चा जिनमें की गई है उन ग्रन्थो को 'काव्यमीमासा', 'काव्य-प्रकाश', 'काव्यानुशासन' आदि नाम दिये गये है। काव्यविवेचना के किसी विशिष्ट अग की विवेचना जिनमें हो वे ग्रन्थ उन्ही विषयों के अनुसार नामाकित किये गए है। इस प्रकार ध्वनि की विवेचना जिसमें है वह ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक'। व्यञ्जना का परिक्षण जिसमें हैं वह 'व्यक्तिविवेक'। रसास्वाद की प्रक्रिया जिसमें बताई गई है वह–'हृदयदर्पण'। औचित्य की विवेचना जिसमें है वह– 'औचित्यविचार-चर्चा'। इस प्रकार ग्रन्थो के नाम ग्रन्थगत विषय को लक्ष्य करके बनाये मिलते है। इस काल के 'अलकार' ग्रन्थो में सामान्यतया अलकारो की ही विवेचना पाई जाती है। रुय्यक ने दो ग्रन्थ लिखे है–'अलकारसर्वस्व' तथा 'साहित्यमीमासा'। इनमें से प्रथम ग्रन्थ में केवल अलकारो की विवेचना है। दूसरे ग्रन्थ में काव्य के अन्य अगो की विवेचना है।

प्रतीत होता है, 'साहित्य' शब्द काव्यविवेचना में रुद्रट के बाद धीरे धीरे रूढ होता गया। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह तो भामह ने पहले ही कह रक्खा था। किन्तु शब्दार्थो के 'साहित्य' की कल्पना ने रुद्रट के बाद ही स्वतत्र रूप से जड पकड ली प्रतीत होता है। रुद्रट भी 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' कहकर भामह का केवल अनुवादमात्र करता है। परन्तु राजशेखर के समय में (सन् ९०० ईसवी के लगभग) '**साहित्य**' शब्द काव्यमीमासा का शास्त्र अथवा विद्या के अर्थ में रूढ हुआ प्रतीत होता है। साहित्यविद्या अर्थात् साहित्य शास्त्र का 'पचमी साहित्य-विद्या' इस प्रकार स्वतत्रतया निर्देश करते हुए, राजशेखर उसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति इन विद्याओ की श्रेणी में स्थान देता है। इस काल में अनेको ग्रन्थकारो ने काव्यशास्त्र के अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया हुआ मिलता है। श्रीकण्ठचरित काव्य के कर्ता मङ्खकवि, लगभग राजशेखर के ही समय के

मुकुलभट्ट, उनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र, इन सभी ने काव्यशास्त्र के लिये 'साहित्य' शब्द का ही प्रयोग किया है (१)। कुन्तक तथा भोज ने तो 'साहित्य क्या है' इसी प्रश्न को लेकर विचार किया है। और दर्शाया है कि भिन्नभिन्न काव्यागो का शब्दार्थो के 'साहित्य' मे कैसे अन्तर्भाव होता है (२)। इसके अनन्तर रुय्यक ने 'साहित्यमीमासा' नाम से ही स्वतत्र ग्रन्थ की रचना की है एवम् 'व्यक्तिविवेक' पर लिखी टीका में वह 'साहित्य' शब्द का, काव्य के मीमांसको ने रूढ की हुई परिभाषा में निर्वचन करता है (३)। ईसा की चौदहवी सदी में विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ को स्पष्टत. 'साहित्यदर्पण' नाम दिया है, जिसमें काव्य के नाटचसहित सभी अगोपर चर्चा की गई है। इससे प्रतीत होता है कि, 'काव्यालकार' सज्ञा के स्थानपर, 'काव्यविवेचनशास्त्र के अर्थ में 'साहित्य' सज्ञा राजशेखर के पहले से ही रूढ होने लगी थी।

जान पडता है कि 'अलकार' एव 'साहित्य' के समान '**काव्यलक्षरण**' शब्द भी काव्यविवेचना के लिए एक पर्याय था। भामह ने 'काव्यालकार' के अर्थ में 'काव्यलक्ष्म' शब्द का एक स्थान पर प्रयोग किया है (४)। और दण्डी ने भी "यथासामर्थ्यमस्माभि. क्रियते **काव्यलक्षरणम्**" इस प्रकार काव्यलक्षरण शब्द का स्पष्ट रूप मे प्रयोग किया है (५)। काव्य के विवेचक के अर्थ में 'अलकार' शब्द से 'आलकारिक' शब्द बना। 'ध्वन्यालोक' से विदित होता है कि ठीक इसी प्रकार

---

१. (१) विना न साहित्यविदाऽपरत्र गुण' कथचित् प्रथते कवीनाम्।—मङ्ख

(२) पदवाक्याप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिबिंबितम्।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति ॥—मुकुल', अभिधावृत्तिमातृका

(३) 'मीमासासारमेघात्, पदजलधिविधो', तर्कमाणिक्यकोशात्
साहित्यश्रीमुरारे'—प्रतिहारेंदुराज, उद्भट की टीका

(४) श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्य बोधवारिधे' ।—क्षेमेन्द्र., औचित्यविचारचर्चा

२. देखिये · 'साहित्यशास्त्रांतील साहित्य', महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका, अक १०१–१०२

३ 'न च काव्ये शास्त्रादिवत् अर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्र प्रयुज्यते, सहितोय: दब्दार्थयो: तत्र प्रयोगात्' कहते हुए रुय्यक ने 'साहित्य' शब्द का विवरण 'साहित्यं तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनानतिरिक्तत्वम्' ऐसा दिया है। यहाँ रुय्यक ने अधिकतर कुन्तक के ही शब्दों का प्रयोग किया है। विदित होता है कि आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक आदि के ग्रंन्थोंमें साहित्यकल्पना की विवेचना के साथ ही उसकी परिभाषा भी रुढ़ होने लगी थी।

४. अवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म। भामह. 'काव्यालंकार'। (६।६४)

५. काव्यादर्श (१।२)

'काव्यलक्षण' शब्द से 'काव्यलक्षणकारी', 'काव्यलक्षणविधायी' एवम् 'काव्यलक्ष्मविधायी' आदि शब्द भी बने है। (६)

इन तीन सज्ञाओ से भिन्न एक चौथी संज्ञा भी इस शास्त्र के लिए थी। वह है '**क्रियाकल्प**'। क्रियाकल्प का अर्थ है काव्यकरण के नियम। हमारी सम्मति में यह सज्ञा 'काव्यालकार' तथा 'काव्यलक्षण' सज्ञाओ से पूर्वकालिक है। एवम् साहित्यशास्त्र के विकास के आरभकालीन प्रायोगिक अवस्था की वह द्योतक है। क्रियाकल्प का सक्षेप में इतिहास इस प्रकार है।

वात्स्यायन के (सन् २५० ईसवी के लगभग) (७) 'कामसूत्र' में चौसठ कलाओ की सूची दी गई है। उसमें 'सपाठ्य, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोष, छन्दोज्ञान, **क्रियाकल्प**' इस क्रम से कलाओ के नाम दिये गये है। सपाठ्य का अर्थ है दो या अधिक व्यक्तियो ने स्पर्धा के लिए या मनोरजन के हेतु काव्य कण्ठस्थ करना; मानसी काव्यक्रिया का अर्थ है सस्कृत, प्राकृत या अपभ्रश भाषा में की हुई नूतन काव्य-रचना, अभिधानकोष का अर्थ है शब्दसग्रह; छन्दोज्ञान का अर्थ है वृत्तो का ज्ञान; एव क्रियाकल्प का अर्थ है काव्यकरण के नियम अर्थात् काव्यालकार। उपर्युक्त कलाओ के इस प्रकार अर्थ देते हुए कामसूत्र का टीकाकार यशोधर लिखता है— "अभिधानकोष, छन्दोज्ञान तथा क्रियाकल्प तीनो कलाए काव्यक्रिया की अगभूत है एवम् इन तीनों का ज्ञान काव्यनिर्माण तथा काव्य के परिशीलन के लिए आवश्यक है।" (८) यशोधर ने काव्यक्रिया = काव्यनिर्माण, तथा क्रियाकल्प = 'काव्य-करणविधि' अर्थात् 'काव्यालकार' इस प्रकार पर्याय दिये है।

छन्द, अभिधान एव क्रियाकल्प अर्थात् अलकार का काव्यक्रिया अर्थात् काव्य-रचना से अतिनिकट का सबन्ध है। भामह के ग्रन्थ का विषय 'अलकार' है। अलकारविवेचना के इस ग्रन्थ में भामह लिखता है—

> **शब्दच्छन्दोऽभिधानार्था** इतिहासाश्रया: कथा:।
> लोको युक्ति. कलाश्चेति मन्तव्या काव्यवैखरी ॥

---

६. 'काव्यलक्ष्मविधायिभि: "चिरंतनकाव्यलक्षणकारिणां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्" काव्य-लक्षणकारिभि: प्रसिद्धे आदर्शिते प्रकारलेशे' इस प्रकार अनेक उल्लेख 'ध्वन्यालोक' में हैं।

७. वात्स्यायन का समय 'कामसूत्र' में दर्शित राजकीय स्थिति के उल्लेखों से ईसा की तीसरी शताब्दी का मध्य (ई. स. २५०) निर्धारित किया गया है। H. C. Chakladar: *Social Life in Ancient India*, p 33.

८. काव्यक्रिया इति संस्कृतप्राकृतापभ्रंशकाव्यस्य करणम्, प्रतीतप्रयोजनम्। अभिधानकोष इति उत्पलमालादि। छन्दोज्ञानमिति पिंगलादिप्रणीतस्य छन्दसो ज्ञानम्। क्रियाकल्प इति काव्य-करणविधि:, काव्यालंकार इत्यर्थ:। त्रितयमपि काव्यक्रियाङ्गम् परकाव्यावबोधनार्थं च।

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा विद्वदुपासनम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्य. **काव्यक्रियादर:** ।

इन कारिकाओ में भामह ने कामसूत्र के छन्द, अभिधान तथा काव्यक्रिया इन शब्दो, का प्रयोग किया है। दण्डीने भी क्रियाकल्प का निर्देश क्रियाविधि नाम से किया है। वह लिखता है—

अत. प्रजाना व्युत्पत्तिमभिसधाय सूरय ।
वाचां विचित्रमार्गाणा निबबन्धु **क्रियाविधिम्** ।।
तै. शरीर च काव्यानामलकाराश्च दर्शिता· । (का द १।९।१०)

विधि और कल्प पर्यायशब्द है। अत. दण्डी ने उपर्युक्त कारिका में क्रियाकल्प का ही निर्देश किया है इसमें कोई सदेह नही हो सकता। (९) इसके अतिरिक्त काव्य के शब्दार्थमय शरीर तथा अलकारो की विवेचना भी क्रियाविधि अर्थात् क्रियाकल्प का विषय यह भी दण्डी ने इस प्रकरण में बताया है।

वामन के काव्यालकार सूत्रोपर 'कामधेनु' नामक टीका उपलब्ध है। इस टीका में चौसठ कलाओ की सग्रहकारिकाएँ भामह के नामपर दी गई है।

इन करिकाओ मे दी गई कलाओ की सूची वात्स्यायन के कारिकाओं से मिलती-जुलती है। केवल वात्स्यायन के 'क्रियाकल्प' ' कला के स्थान पर भामह ने 'काव्यलक्षण' कला दी है। (१०) 'काव्यलक्षण' शब्द 'काव्यालकार' का समानार्थक शब्द है। इस सत्यपर ध्यान देने से क्रियाकल्प, काव्यलक्षण तथा काव्यालकार का परस्पर सम्बन्ध ध्यान में आता है और तीनो का विषय भी एक ही है यह स्पष्ट दिखाई देता है।

रामायण में भी 'क्रियाकल्प' का निर्देश है। रामायण के कवि ने कहा है कि रामसभा में लव और कुश के रामायण गान के समय श्रोतागण में पौराणिक, शब्दवेत्ता, गान्धर्ववेत्ता, कलावान्, छन्द.शास्त्रज्ञ तथा '**क्रियाकल्पविद्**' उपस्थित थे। (रामायण उ का. ९४।५-७)। यहाँ भी शब्दज्ञ, छन्द शास्त्रज्ञ और क्रियाकल्पविद् का एक ही स्थान में निर्देश है। काव्य के समीक्षक जिस सभा मे हो वहाँ शब्दज्ञ तथा छन्द शास्त्रज्ञो के साथ सिवा आलकारिको के कौन आसनग्रहण कर

---

९ दण्डी के 'क्रियाविधि' पद का अर्थ तरुणवाचस्पति नामक टीकाकार ने 'रचनाप्रकार' दिया है। 'हृदयंगमा' नाम्नी टीका में इसीका अर्थ 'क्रियाविधान' किया गया है। यह दोनों अर्थ तथा 'जयमंगला' टीका मे किया गया 'काव्यकरणविधि' यह अर्थ एक ही है।

१०. 'अत्र कलानामुद्देश: कृतो भामहेन' लिखकर, कामधेनुकार गोपेन्द्रभूपाल ने कारिकाएँ दी है। उनमे 'धोरणमातृका, यन्त्रमातृका काव्यलक्षणम्' इस प्रकार निर्देश किया हुआ है। (वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।३।७ पर टीका)।

सकता है? इसलिए यहाँ भी 'क्रियाकल्पविद्' का अर्थ 'काव्यरचनाशास्त्रज्ञ' ही करना पडता है।

क्रियाकल्प का 'काव्यालकार' अर्थ स्वीकार करने से क्रिया = काव्य यह अर्थ भी क्रमप्राप्त होता है। सभव है कि काव्यक्रिया से 'काव्यक्रियाकल्प' शब्द बना हो और इसकी क्लिष्टता के कारण 'क्रियाकल्प' शब्द प्रयुक्त हुआ हो। यह भी सभव है कि इसी प्रकार साहित्यिक समाज में 'काव्यक्रिया' के लिए 'क्रिया' शब्द भी रूढ हुआ हो। अगर इसमें कुछ तथ्य है तो कालिदास का अपने नाट्य कृति के लिए 'क्रिया' शब्द का उपयोग करना कुछ विशेष अर्थ रखता है। (११)

साराश, साहित्यशास्त्र के इतिहास का अवलोकन करने से विदित होता है कि इस शास्त्र के लिए चार सज्ञाओ का प्रयोग होता था – क्रियाकल्प, काव्यलक्षण काव्यालकार तथा साहित्य (डॉ. राघवन् · *Names of Sanskrit Poetics*)

"सौदर्यम् अलंकार:"

'अलकार' शब्द का आधुनिक अर्थ उपमा, अनुप्रास आदि के लिए ही सीमित है। रुद्रट के समय तक इस शब्द का अर्थ अधिक व्यापक था। 'अलकार' शब्द की यह पूर्वकालिक व्याप्ति कहाँतक थी इसका परीक्षण करना आवश्यक है। जिन्हे आज हम परम्परा के अनुसार 'अलकारवादी' कहते है उन भामह आदि ग्रन्थकारो के ग्रन्थो का सम्यक् ज्ञान बिना इस व्यापक अर्थ को समझ लिए ठीक प्रकार से नही हो सकता। भामह, उद्भट, वामन तथा रुद्रट इन सभी ने अपने ग्रन्थों को 'काव्यालकार' का ही नाम दिया है। भामह ने 'अलकार' शब्द का अर्थ कही भी दिया नही। 'दण्डी की सम्मति में 'अलकार' शब्द का अर्थ 'काव्य शोभाकर धर्म' होता है। (काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते।) अलकार शब्द के व्यापक तथा सीमित दोनो अर्थ वामन ने दिये है। इस लिए वामन से आरभ करके हम पीछे जायेंगे।

अपने ग्रन्थ का आरम्भ ही वामन 'काव्य ग्राह्यमलकारात्' सूत्र से करता है। वास्तव में, गुणालकारसस्कृत शब्दर्थो के लिए ही काव्य शब्द उपयुक्त होता है इसे वामन भलीभाँति जानता है। परन्तु केवल विवेचना के लिए शब्दार्थ = काव्य यह वामन का गहीत कृत्यं है। वामन की सम्मति में काव्य की अर्थात् शब्दार्थो की

---

११. भाससौमिल्लकविपुत्रादीना प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमान'।—मालविकाग्निमित्र.

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यात् अथवा सद्वस्तुबहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात् क्रियामिमां कालिदासस्य॥— विक्रमोर्वशीय

ग्राह्यता अलकारो से होती है। यह अलकार क्या है? इस पर वामन का उत्तर है " **सौदर्यम् अलंकारः** " सौदर्य ही अलकार है। यहाँ अलकार शब्द का अर्थ सौदर्य किया गया है। यही अलकार शब्द का व्यापक अर्थ है। उपमा आदि इस सौदर्य के निर्माण के लिए साधनीभूत है, इसलिए साधनदृष्टि से (साधन होने से)–करण व्युत्पति से–उन्हे अलकार कहा गया है। यह सौदर्यरूप अलकार शब्दार्थो के सम्बन्ध में किस प्रकार सम्पन्न होता है? इस पर वामन का कथन है–"सदोषगुणालंकार-हानोपादानाभ्याम्।" शब्दार्थो के सम्बन्ध में दोषत्याग से एवम् गुण तथा उपमा आदि अलकारो के स्वीकार से यह सौदर्यरूप अलकार सम्पन्न किया जा सकता है। वामन के विचार में गुण तथा उपमा आदि अलकार काव्य के सौदर्य के साधन है। इन दोनो साधनो में भेद दर्शाते हुए वामन कहता है–"काव्यशोभाया. कर्तारो गुणाः, तदतिशयहेतव· अलकारा।" गुण काव्यशोभा के कारक हेतु है, उपमा आदि उस शोभा के अतिशय के साधन है।

काव्यसौदर्य के अर्थ में वामन ने यहाँ काव्यशोभा शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द को देखते ही दण्डी का "काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते।"—वचन याद आता है। और वामन के "काव्यशोभाया कर्तार" इस वचन की दण्डी के 'काव्यशोभाकरान्' के वचन से ठीक सगति होती है। अलकार = काव्य-शोभाकर धर्म यह दण्डी का कथन है। अलकार = सौदर्य यह वामन का मत है। किसी भी अर्थ को स्वीकार करने पर भी, अलकार शब्द से दोनो का अभिप्राय काव्य शोभा अथवा काव्यसौदर्य से है यह स्पष्ट हो जाता है।

वामन तथा दण्डी ने 'अलकार' का लक्षण किया है। किन्तु भामह ने किया नही। परन्तु कही कही भामह 'अलक्रति' शब्द का प्रयोग करता है। प्रतीत होता है कि निश्चय ही इन स्थानो पर सौदर्य अथवा काव्यशोभा के अर्थ से ही भामह का अभिप्राय था। उदाहरणस्वरूप–"सुपां तिङा च व्युत्पत्तिम् वाचा **वाञ्छन्त्यलंकृतिम्**" अथवा "इष्टाभिधेय वक्रोक्तिरिष्टा वाचामलकृति।" यहाँ तथा अन्य समान स्थानोपर 'अलकृति' शब्द का सौदर्य अर्थात् काव्यशोभा यही एक अर्थ करना पडता है। 'सौदर्य' के अर्थ में वामन ने 'अलकृति' शब्द का भी प्रयोग किया है। 'सौदर्य-मलकार।' सूत्र के अर्थ में वामन ने लिखा है—"अलकृतिरलकारः।" दण्डी तथा वामन के समान 'अलकार' सज्ञा का अर्थ न करते हुए भामह ने उसका प्रयोग किया है इसका एक कारण यह भी हो सकता है—किसी शास्त्र में किसी सज्ञा का अर्थ न किया हो और उसका प्रत्यक्ष प्रयोगमात्र किया गया हो तो स्वीकार करना पड़ता है—उस संज्ञा का विशिष्ट अर्थ उस शास्त्र के अभ्यासको में पहले से ही ज्ञात एवम् रूढ है। सभव है कि 'अलकार' शब्द का 'सौंदर्य अर्थात् काव्यशोभा'

यह अर्थ साहित्यक्षेत्र में ज्ञात तथा रूढ है इस बात को भामह जानता हो और इस लिए इस सज्ञा का अर्थ करने की कोई आवश्यकता उसने समझी न हो। भामह से पूर्व 'अलकार' शब्दसौदर्य अर्थात् शोभा के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

काव्यचर्चा का उद्‌गम नाटचचर्चा से हुआ, इसे हम आगे विस्तार से दर्शायेंगे। केवल रस के सबन्ध में ही नही, अपितु गुणालकारो के सबन्ध में भी काव्यचर्चा के लिए नाटचशास्त्र का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार आश्रय लेने मे काव्यलक्षण-कारो ने नाटच में रूढ अनेको सज्ञाओ को सही सही उठा लिया है। इन सज्ञाओ मे से एक '**काव्यालंकार**' है।

नाटचशास्त्र में अलकार शब्द का, काव्य के समान अन्य विभागों के लिए भी उपयोग किया गया है। काव्यालकार, पाठचालकार, नेपथ्यालकार, नाटचालकार, वर्णालंकार तथा प्रयोगालकार इस प्रकार अलकारो के छह भेद नाटचशास्त्र में बताये गये है। इन सभी सज्ञाओ में अलकार शब्द का अर्थ सौदर्य अथवा शोभाकर धर्म ही किया गया है। इन छ अलकारो मे से '**काव्यालंकार**' को आलकारिको ने नाटचशास्त्र से पृथक् किया, एवम् उसकी स्वतन्त्र रूप में विवेचना की। तथा इस स्वतन्त्र विवेचना के निर्देश के लिये नाटचशास्त्र में दी गई उसकी मूल सज्ञा को ही निर्धारित किया। आलकारिको में से कई ग्रन्थकारो ने 'काव्यालकार' सज्ञा के स्थान पर नाटचशास्त्र की ही दी हुई दूसरी सज्ञा—'**काव्यलक्षण**' का प्रयोग किया है। यही विवेचना आगे चल कर अलकार शास्त्र में परिणत हुई। इस प्रकार काव्यरचना तथा काव्यस्वरूप के सबन्ध में नाटचचर्चा में पूर्वकाल से ही ज्ञात तथा रूढ सज्ञाओं को काव्य की स्वतन्त्र चर्चा में प्रयुक्त करना आलकारिको ने आरम्भ किया।

काव्यालकार की इस प्रकार स्वतन्त्र विवेचना हो रही थी और इसी समय नाटचशास्त्र के अन्य अनेक विषय इस विवेचना में परिवर्तित रूप में आने लगे थे। उदाहरणस्वरूप, नाटच के सध्यंग, वृत्त्यग तथा लक्षणो को नाटचशास्त्र में 'अलकार' की संज्ञा नही है। किन्तु यही विषय जब काव्यचर्चा में आने लगे, तब उनमें शोभा-कारित्व होने से उन्हे 'अलकार' माना गया। दण्डी कहता है—

यच्च सध्यगवृत्त्यगलक्षणान्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिद चेष्टमलकारतयैव नः॥ (२।३६७)

"अन्य शास्त्र में अर्थात् नाटचशास्त्र में सध्यंग, वृत्त्यग तथा लक्षणो का जो वर्णन किया गया है वह हमें अलकार के रूप में मान्य है। सार यह है कि काव्यविवेचना के आरभकाल में अलकार शब्द का अर्थ "सौदर्य' अथवा 'काव्यशोभाकर धर्म' होता था। जिस किसी से काव्य में शोभा आती थी उसे साहित्यिक 'अलंकार' की

संज्ञा दिया करते थे। इसी हेतु अनुप्रास, उपमा आदि के साथ ही गुण, सन्धि, वृत्ति, लक्षण, रस इन सभी को उन्होने 'अलकार' की ही सज्ञा दी है।"

सौदर्यप्रतीति ही काव्यात्मा है

इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि अलकार शब्द व्यापक अर्थ में सौदर्य अथवा काव्यशोभा का वाचक है। इससे प्राचीन आचार्यो के मत में सौदर्य ही काव्य का सारभूत तत्त्व निर्धारित होता है। उत्तर काल मे अलकार शब्द का अर्थ सीमित हुआ। किन्तु इस कारण सौदर्यतत्त्व का महत्त्व काव्यचर्चा में किसी दृष्टि से कम हुआ, ऐसा समझने की कोई आवश्यकता नही है। उसके लिए विवेचको ने प्राचीन आचार्यो के अलकार शब्द प्रयोग न करते हुए चारुत्व, कामनीयक, सौदर्य, रमणीयता आदि शब्दो का प्रयोग किया। उदा. 'शब्दगताश्**चारुत्व**हेतवः।', '**कामनीयकम्** अनतिवर्तमानस्य।' काव्यस्य हि ललितोचितसनिवेश चारुण।', 'विविधविशिष्ट-वाच्यवाचकरचनाप्रपचचारुण। आदि प्रयोग आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में पाये जाते है। ध्वन्यालोक के 'प्रतिभाविशेषम्' पदपर अभिनवगुप्त का व्याख्यान है—"प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषोरसावेशवैशद्य **सौंदर्य**-निर्माणक्षमत्वम्।" महाकवियों की प्रतिभा का विशेष यह होता है कि रसावेश के लिए आवश्यक प्रज्ञा की निर्मलता उसमें होती है। और उस निर्मलता के द्वारा उसे सौदर्य की प्रतीति होती है। सौदर्य के इसी प्रतीति का महाकवि के काव्य में आविर्भाव होता है। अभिनवगुप्त का यहाँ अभिप्राय यह है कि यही सौदर्य—जो कि प्रज्ञा-नैर्मल्य के द्वारा प्रतीत होता है—काव्य का स्वरूप होता है। द्वितीयोद्योत में—

> कि हास्येन न मे प्रयास्यसि पुन. प्राप्तश्चिराद्दर्शनम्।
> केय निष्करुणप्रवासरुचिता केनाऽसि दूरीकृत॰॥
> स्वप्नान्तेष्वपि ते वदन् प्रियतमव्यासक्त कण्ठग्रहो।
> बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तार रिपुस्त्रीजन.॥

इस श्लोक पर लिखते हुए अभिनवगुप्त कहता है—"न हि त्वया रिपवो हता॰, इति यावत् अनलकृतोऽयम् वाक्यार्थ. तादृगयम्, अपि तु **सुन्दरीभूतः**।" राजा ने किया हुआ शत्रुनाश इस पद्य का वर्ण्य विषय है। किन्तु "हे राजन्, आपने शत्रुओ का नाश किया" इस वाक्य से जो अर्थ प्रतीत हुआ होता वह यहाँ प्रतीत होता नही। यहाँ जो अर्थ प्रतीत होता है वह सौदर्ययुक्त है।

केवल इतना ही नही कि चारुत्व अर्थात् सौदर्य काव्य के लिए आवश्यक घटक है, बल्कि सौदर्य के बिना कोई काव्य हो ही नही सकता, यह अभिनवगुप्त का कथन है। 'गुणीभूतव्यग्यत्व च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानामनुक्ताना सामान्यम्।

तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति।' आनन्दवर्धन के इस वाक्य के व्याख्यान के अवसरपर अभिनवगुप्त कहते है—

"तथाजातीयानामिति चारुत्वातिशयवताम्–इत्यर्थ. 'सुलक्षिता इति **यत्किलैषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत्काव्येऽभ्यर्थनीयम्**। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवयः।' इति। रूपक 'गौर्वाहीक।' इति। श्लेष· 'द्विर्वचनेऽचि' तन्त्रात्मक. —एवमन्यत्। **न चैवमादि काव्योपयोगीति**।" साराश, काव्य में अर्थ चारुत्वातिशय से युक्त चाहिये, अर्थ का सौदर्यहीनरूप काव्य में अभ्यर्थनीय नही होता।' यथा गौस्तथा गवय।' इस वाक्य में उपमासदृश रचना है। 'गौर्वाहीक.।' में रूपक है और 'द्विर्वचनेऽचि' इस पाणिनीय सूत्र में श्लेष है। किन्तु इनका तथा इनसे सदृश अन्य वाक्यो का काव्य के लिए उपयोग नही हो सकता। क्यौ कि उनमें सौदर्य प्रतीत नही होता।

इतना ही नही बल्कि अन्य सभी मतों के विरोध में ध्वनि का समर्थन करनेवाले अभिनवगुप्त ने सूचित किया है कि ध्वनि भी सुदर होनी चाहिये। भट्टनायक ध्वनितत्त्व के एक विरोधक थे। उनका कहना था कि ध्वन्यर्थ की कोई सीमा न होने से, सभी स्थानो मे, यहाँ तक कि 'सिहो बटुः' इस वाक्य में भी, काव्यत्व का स्वीकार करना पड़ेगा। इसपर अभिनवगुप्त कहते हैं—"यह ठीक नही। अभिव्यजनीय रस के लिए उचित वाच्य, वाचक तथा रचना के प्रपच से सुदर हुए अर्थात् गुणालकार-सस्कृत शब्दार्थो के द्वारा व्यक्त हुई ध्वनि के लिए ही 'काव्य' की सज्ञा है। केवल ध्वनि है इसलिए वह काव्य भी है यह कहना ठीक नही।" (१२) मीमासको के 'श्रुतार्थापत्ति में भी ध्वनित्व स्वीकार करना होगा' इस आक्षेप के उत्तर में वे कहते है, "ध्वनि काव्यविशेष है। गुणालकारसस्कृत शब्दार्थो के द्वारा व्यक्त ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। किसी भी अन्य प्रकार की ध्वनि काव्यात्मा कतई नही हो सकती।" (१३)

काव्य में तो सौदर्य रहता ही है एवम् बिना सौदर्य के, शब्दार्थो में काव्यत्व-व्यवहार नही होता इस प्रकार काव्य और सौदर्य में अव्यभिचारी भाव अभिनव-गुप्त ने अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध किया। इसपर आक्षेपक प्रश्न करता है—"तो **चारुत्वप्रतीति ही काव्य की आत्मा है** यह आपको स्वीकार करना होगा।"

---

१२. तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहार.। ..तेन, एतन्निरवकाशं यदुक्तं हृदयदर्पणे–'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यादिति।'

१३. काव्यग्रहणात् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षण आत्मा इत्युक्तम्। तेन एतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति।

अभिनवगुप्त का इस पर उत्तर है—" बिलकुल ठीक ! आपका कहना हमें स्वीकार है। इस सबध में तो हमारा आपका कोई विवाद ही नही।" (१४)

विदित होता है कि काव्यालकार शब्द प्राचीन आचार्यों ने काव्यसौदर्य के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया। इस अर्थपर ध्यान देने से काव्यचर्चा के किसी भी अग की विवेचना के लिए यह सज्ञा कैसे सुयोग्य है यह स्पष्ट होता है। अलकार=काव्यशोभा अथवा काव्यसौदर्य इस व्यापक अर्थ में वाच्यवाचकसबध जब तक साहित्य के क्षेत्र में रूढ तथा ज्ञात था तब तक काव्यविवेचना के किसी भी ग्रन्थ को 'अलकार' यही सज्ञा दी जाती थी। कुन्तक का ग्रन्थ '**वक्रोक्तिजीवित**' नाम से परिचित है किन्तु कुन्तक ने स्वयम् अपने ग्रन्थ को 'अलकार' ही कहा है। और वहाँ भी उसका काव्यसौदर्य अर्थात् चारुत्व से ही अभिप्राय है। (१५)

किन्तु अलकार शब्द की यह व्याप्ति ज्यो ज्यो सीमित होने लगी त्यो त्यो अलकार तथा काव्यशोभा में वाच्यवाचकसम्बन्ध नष्ट होने लगा। अलकार = सौदर्य अर्थात् काव्यशोभा इस अर्थ के स्थान पर अलकार = उपमा आदि सौदर्यसाधन का अर्थ उपस्थित होने लगा। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में, वाचक अर्थ मे ही अलकारशास्त्र काव्यसौदर्य का शास्त्र था। किन्तु अलकार शब्द की व्याप्ति उपमा आदि के लिए ही सीमित होनेपर, अलकार शास्त्र एवम् काव्यसौदर्यशास्त्र में वाच्यवाचकसम्बन्ध बताना साहित्य के आचार्यों के लिए असभव हुआ। इस लिए वे लक्षणा अथवा प्रधानव्यपदेश का आश्रय करते हुए वे 'अलकारशास्त्र' का व्यापक अर्थ करने लगे (१६)। किन्तु काव्यालकारशब्द का इतिहास देखने से तथा नाटचशास्त्र में काव्य-

---

१४ यच्चोक्तम्–'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात् इति,' तदङ्गीकुर्म एव। नास्ति खल्वयं विवाद·।

१५ 'काव्यस्यायमलङ्कार· कोऽप्यपूर्वो विधीयते' इस कारिका की वृत्ति में कुन्तक लिखता है—'ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्।'

१६. 'यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिद शास्त्र तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्र-मुच्यते।' यहाँ कुमारस्वामी ने उपादान लक्षणा के आधार पर अलङ्कारशास्त्र की व्याप्ति विस्तृत की है। शास्त्र में अनेक विषय होने पर भी प्रधान विषय के उद्देश्य से शास्त्र की संज्ञा बनाई जाती है इस प्रकार प्रधानव्यपदेश का आश्रय करते हुए अलङ्कारशास्त्र का व्यापक अर्थ बनाया है। किन्तु प्रधानव्यपदेश का उपयोग करने में एक आपत्ति हो सकती है। काव्य मे रस प्रधान अंग होता है। प्रधानव्यपदेश का उपयोग करना हो तो काव्यशास्त्र की सज्ञा रस को लक्ष्य कर के बनाई जानी चाहिये। एक ओर रस का प्राधान्य स्वीकार करना तथा दूसरी ओर प्रधानव्यपदेश के आश्रय से अलंकारों को प्राधान्य देना यह युक्तिसंगत नहीं। इसके विपरीत इतिहाससुख से अलङ्कार शब्द का व्यापक अर्थ करने पर इस शास्त्र की सज्ञा अलङ्कारशास्त्र क्यों बनी यह विस्पष्ट हो जाता है। और संज्ञा का निश्चित बोध भी होता है।

सौदर्यवाचक ‘ काव्यालकार ’ शब्द ही रूढ हुआ इस बात पर ध्यान देने से ‘ अलंकार-शास्त्र ’ सज्ञा मूलत व्यापक है यह स्पष्ट होता है ।

यहाँ एक बात का अवधान रखना आवश्यक है कि अलकार का ‘ सौदर्य ’ अर्थ करने में अलकारशास्त्र = सौदर्यशास्त्र ऐसा समीकरण सिद्ध होता है । ‘ अलकार ’ शब्द का अर्थ सीमित होने पर, ‘ अलकारशास्त्र ’ सज्ञा का अर्थ करने में, प्राचीन पडितो ने लक्षणा का आश्रय किया । किन्तु चिरन्तन आचार्यों का निर्देशित व्यापक अर्थ आज फिर से प्रकाशित करने पर आधुनिक पडितो से उसके अतिव्याप्त किये जाने का डर है । सभव है कि अलकार = सौदर्य, इस लिए अलकारशास्त्र = सौदर्य-शास्त्र अर्थात् आधुनिक Æsthetics है ऐसी धारणा कोई मोहवश कर लें तो भी इस प्रकार मोह नही होना चाहिये । अलकारशास्त्र में काव्यसौदर्य की विवेचना है किन्तु इसी आधार पर उसे Æsthetics कहना ठीक न होगा । Æsthetics में सभी ललितकलाओ के सौदर्य की विवेचना आती है । सभी—इन्द्रियग्राह्य एवम् केवल मनोग्राह्य—कलाओ का सौदर्य उस शास्त्र का विषय है । काव्यशास्त्र उसका एक अशमात्र हो सकता है । किन्तु एक अंश सम्पूर्ण शास्त्र नही हो सकता ।

कवि, नागरक, सहृदय

काव्य निर्माण के साथ रसिक वृत्ति भी उदित होती है । कवि तथा रसिक के मिलन में काव्यचर्चा प्रारम्भ होती है । इस दृष्टि से काव्य के अनुपद काव्यचर्चा आनी चाहिये और वह आई भी ।

‘ काव्यक्रिया ’ एक कला है । इस लिए काव्यशास्त्र एक कला का शास्त्र है । कला का शास्त्र प्रयोगप्रधान होता है । तदनुसार काव्यशास्त्र भी आरभ में प्रयोगप्रधान था । भरतमुनि के नाटचशास्त्र से यह विस्पष्ट होता है । नाटचशास्त्र में नाटच की केवल तत्त्वत. विवेचना नही है; अपितु नाटच सफल कैसे किया जाता है यह उसमें बताया गया है । नेपथ्य, पाठ, रग आदि की विविध **विधियाँ** अथवा **कल्प** इसमें बताये गये है । **इस दृष्टि से नाटचशास्त्र का क्रियाकल्प के ग्रन्थ के रूप में निर्देश हो सकता है** । काव्यविवेचना के अनेक ग्रन्थों में कविशिक्षा तथा काव्यपठन की दृष्टि से विचार किया हुआ मिलता है । उससे कला के इस प्रायोगिक अंश का ही अभिप्राय है । सस्कृत के अनेक शिक्षा ग्रन्थ तथा राजशेखर के काव्यमीमासा का ‘ पाठचगुणा. ! ’ यह अध्याय इसी प्रयोगशरणता का द्योतक है । काव्य के पठन तथा नाटच के प्रयोग के उपक्रमो से ही नाटचचर्चा उदय हुई है । श्रोता अथवा दर्शको पर काव्य अथवा नाटच का अपेक्षित परिणाम दृष्टिगोचर होने पर ही काव्य-सिद्धि या नाटचसिद्धि हुई ऐसा समझा जाता था । भरत मुनी ने लिखा हुआ नाटच-

सिद्धि का अध्याय इस दृष्टि से पढना आवश्यक है। श्रोता अथवा दर्शको पर इष्ट परिणाम करने के लिए काव्य तथा नाटच में क्या होना चाहिये इस पर विचार प्रारभिक ग्रन्थो में पाया जाता है। इस दृष्टि से विवेचना करने में आवश्यक सैद्धान्तिक विवेचना इन ग्रन्थो में की जाती थी। इसी कारण से प्रारभिक ग्रन्थो में प्रायोगिक विवेचना तथा सैद्धान्तिक विवेचना मिश्ररूप में पाई जाती है।

काव्यचर्चा का उद्‌गम रसिक मनोभूमि में है। आधुनिक काल में काव्य की चर्चा करना कुछ आसान-सा हो गया है। नूतन काव्य पढने पर हम उसकी चर्चा पत्रपत्रिकाओ मे कर सकते है। उसके लिए एकत्रित होना आवश्यक नही है। किन्तु प्राचीन काल में बिना एकत्रित हुए इस प्रकार की चर्चा करना असभव होता था। चर्चा के लिए किसी सभा का आयोजन आवश्यक होता था। ऐसी सभा को '**विदग्धगोष्ठी**' कहा जाता था। गोष्ठी का अर्थ है मडल या सभा। उस काल में काव्यगायन या काव्यचर्चा ऐसी विदग्धगोष्ठी में हुआ करती थी। विदग्धगोष्ठी में सम्मिलित होने की योग्यता रखना शिष्टता का लक्षण माना जाता था। इन विदग्धगोष्ठियो के द्वारा कवि का काव्य तथा उसकी कीर्ति का धीरे धीरे प्रसार होता था तथा अन्त में उसका किसी राजसभा में प्रवेश होता था।

विदग्धगोष्ठी में नित्य काव्य का आस्वाद ग्रहण करनेवाला तथा काव्यचर्चा का प्रवर्तक रसिक ही **नागरक** है। सस्कृत काव्य पर तथा काव्य के द्वारा काव्यशास्त्र पर भी नागरक के आयु क्रम का प्रभाव रहा है। दो पहर के समय शांत चित्त से मित्रोसहित काव्य गोष्ठी में काव्यास्वाद ग्रहण करनेवाला नागरक का चरित्र कैसा होगा यह देखने से साहित्यशास्त्र की अनेक समस्याओ का स्पष्टीकरण हो सकता है।

नगर का निवासी सुखसपन्न गृहस्थ नागरक कहलाता था। परन्तु सुखसपन्न का अर्थ यह नही कि वह निरुद्योगी रहता था। उस व्यक्ति को नागरक कहा जात था जिसने विद्याध्ययन पूरा करने के पश्चात् निज वर्ण के लिए उचित व्यवसाय के द्वारा धनार्जन करते हुए गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया हो। (१७) नागरक का अर्थ है विदग्धजन (नागरको विदग्धजन.–'जयमगला')। साराश, आज जिसे सुशिक्षित, सुसस्कृत, सज्जन समझा जाता है वही पूर्वकालीन नागरक है। चातुर्वर्ण्य के किसी भी वर्ण का व्यक्ति सुशिक्षित तथा शिष्ट होने पर उसे नागरक की प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। वात्स्यायन के वर्णन के अनुसार नागरक का दिनक्रम निम्नलिखित रूप का होता था। (१८)

---

१७. गृहीतविद्यः प्रतिग्रह—जय—क्रय—निर्वेशाधिगतैः अर्थैः अन्वयागतैरुभयैर्वा गार्हस्थ्यमधिगम्य नागरकवृत्तं चरेत्। (कामसूत्र १–४–१)

१८. वात्स्यायन : कामसूत्र, अधि. १, अध्याय ४

ऐसा व्यक्ति नगर का मूल निवासी हो या किसी उद्योगवश नगर में रहने के लिए आया हुआ हो, वह नगर के सभ्य लोगो की बस्ती में रहा करता था। उसके घर के सामने छोटा-सा उद्यान हुआ करता था। घर के कक्ष सुविधा के अनुकूल हुआ करते थे। साधारणत. उसका घर द्विवासगृह हुआ करता था। अर्थात् घर में एक शय्यागृह और उससे सट कर बाहर की ओर आराम करने के लिए एक बैठक हुआ करती थी। ऊँचे तख्तपोश पर गद्देतकिये रख कर बैठक बनाई जाती थी। इस तख्तपोश के शिरोभाग की ओर एक छोटी-सी वेदी पर चन्दन का चूर्ण,सुगन्धित द्रव्य और पसीना थामने के लिए लेप करने के सुगन्धित चूर्ण, ताम्बूल इत्यादि वस्तुएँ रखी जाती थीं। तख्तपोश के नीचे पतद्ग्रह (हाथ धोने का बर्तन), पीकदान इत्यादि वस्तुएँ रखी जाती थी। कमरे में एक ओर खूँटी पर वीणा रहती थी। दूसरी ओर एक चित्रफलक होकर उसके समीप चित्रकला की आवश्यक सामग्री रखी रहती थी। तख्तपोश के पास ही कुछ पुस्तके ऐसी रखी रहती जो हाथ बढाकर ली जा सके। पुस्तके साधारणतया स्वकृत या परकृत काव्य की हुआ करती थी। इनके अतिरिक्त सजावट के लिए कमरे में जगह जगह कुरटमाला अर्थात् कुरट वृक्ष से बनायी हुई नकली फूलो की मालाएँ लटकाइ रहती थी। कमरे में दूसरी ओर एक बड़ी बिछायत बिछाई रहती थी और उसपर चौसर आदि खेलने का सामान रखा रहता। वासगृह के बाहर की ओर शुकसारिकाओ के पिजड़े टगे दिखाई देते। आँगन के बाग में एक ओर एक झूला रहता और उसके पास ही शाम की बैठक के लिए एक चबूतरा हुआ करता। शाम के समय उस पर बैठे हुए दोस्तमित्रों के साथ शरबत इत्यादि पीने का कार्यक्रम हुआ करता। नागरक के घर की हर चीज अपनी अपनी जगह इस तरह रखी रहती कि जिससे उसकी विदग्धता का परिचय मिलता। इसी सबंध में यशोधर ने कहा है .—" अनुरूपस्थाननिवेशनमपि वैदग्ध्यजननम्। "

इस प्रकार के घर में निवास करनेवाला नागरक प्रात काल शुचिर्भूत हो सुदर वेष परिधान कर तथा दर्पण मे वेष निरीक्षण कर, अपने काम के लिए निकलता। दो पहर काम से वापस आ कर फिर स्नान के पश्चात् भोजन करता। भोजन के बाद शुकसारिकाप्रलाप, ताबूलभक्षण इत्यादि मे कुछ समय बिताता। थोडा आराम करने के बाद तीसरे पहर उचित वेषभूषा पहने **गोष्ठीविहार** के लिये जाता। इस गोष्ठीविहार में उसकी काव्यसमस्याएँ तथा कलासमस्याएँ चलतीं।

साधारणतया नागरक का दैनिक क्रम इस प्रकार का रहता था। किन्तु उसकी विदग्धता नैमित्तिक गोष्ठियो में विशेष रूप से प्रकाशित हुआ करती थी। घटानिबन्धन, गोष्ठीसमवाय, समापानक, उद्यानगमन, समस्याक्रीडा आदि विविध प्रकार की गोष्ठियाँ होती थी।

घटानिबन्धन का अर्थ है किसी देवता के मेले के उपलक्ष्य में एकत्रित होना। पक्ष में या महीने में एक बार नागरक सरस्वती मदिर मे एकत्रित हुआ करते थे। इसे 'समाज' कहा जाता था। (१९) विद्या तथा कला के सबन्ध में सरस्वती नागरको की अधिष्ठात्री देवी थी। निर्धारित (साधारणतया पचमी के) दिन नियुक्त नागरक सरस्वती के भवन में एकत्रित होते थे और वहाँ विविध कलाओ के कार्यक्रम तथा स्पर्धाएँ हुआ करती थी। कुशीलव तथा नटनर्तक वहाँ नाट्य के प्रयोग कर दिखाते थे। दूसरे दिन पारितोषिक वितरण समारोह हुआ करता। समेलन का एक और भेद गोष्ठीसमवाय होता था। कला में कुशल किसी वेश्या के यहाँ अथवा किसी नागरक के घर पर ही इस सभा का आयोजन हुआ करता था। समान वयस्क, समविद्य तथा समान अभिरुचि के नागरक वहाँ एकत्रित हुआ करते थे। इस गोष्ठीसमवाय में विशेषरूप से काव्यसमस्याएँ तथा कलासमस्याएँ हुआ करती थी। कला में निपुण वेश्याएँ तथा विदग्ध गणिकाएँ भी इस कार्यक्रम मे भाग लिया करती थी। इस समेलन में कलाकारो का सम्मान किया जाता था। इसके अतिरिक्त समापानक, उद्यानक्रीडा आदि के निमित्त नागरक एकत्रित हुआ करते थे।

नागरकगोष्ठी में जो काव्यसमस्याएँ तथा कलासमस्याएँ चलती वह केवल पडितो के लिए ही सीमित नही रहती थीं। सभी प्रकार के लोग उसमें भाग लिया करते थे। समस्याओ के यह प्रयोग समय समय पर जनपदो में किये जाते थे। इसी हेतु इन सब का वर्णन करने के पश्चात् कामसूत्रकार कहते है—

नात्यन्तं सस्कृतेनैव नात्यन्त देशभाषया।
कथा गोष्ठीषु कथयन् लोके बहुमतो भवेत्॥
लोकचित्तानुवर्तिन्या क्रीडामात्रैक कार्यया।
गोष्ठया सह चरन् विद्वान् लोके सिद्धि नियच्छति॥

नागरक के सामान्य जीवनक्रम का परिणाम कवि की काव्यरचना पर तथा आनुषगिक रूप में काव्यचर्चा पर भी हुआ करता था। कीर्ति के इच्छुक कवि को किन विषयों में सतर्क रहना चाहिये इस सबन्ध में राजशेखर कहता है—"कविः प्रथममात्मानमेव कल्पयेत्, कियान् मे सस्कार, क्व भाषाविषये शक्तोऽस्मि, कि रुचिर्लोक परिवृढो वा, **कीदृशि गोष्ठयां विनीत**।" कवि का काव्य, भाषा तथा सस्कारो की, वह जिस गोष्ठी में काव्य पठन करता हो उसके गोष्ठी के सभ्य जनो के सस्कारो से समानता होनी चाहिये। राजशेखर का कथन है कि भोजन के पश्चात् कवि को काव्यगोष्ठी प्रवर्तित करनी चाहिये। वह कहता है कि वहाँ प्रश्नोत्तरभेदन,

---

१९. पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेतऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्ताना नित्यं समाजः।

काव्यसमस्या, धारणा, मातृकाभ्यास तथा चित्रायोग आदि कलाओं को प्रवर्तित करना चाहिये। ये सब कामशास्त्र की चौसठ कलाओं के अन्तर्गत हैं। समय समय पर एकान्त में अथवा परिमित परिषद् में (चुने हुए रसिको की मण्डली में) अपने काव्य की शोधनपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। अनेकश. रसावेश में विवेक छूटता है। राजशेखर का विचार है कि इस प्रकार शोधन करने से विवेक आता है। (का. मी. ५२)। काव्यगोष्ठी में भाग लेने के लिये नागरक की कुछ अपनी योग्यता आवश्यक होती थी। काव्यशास्त्र का प्रठन इस प्रकार की योग्यता पाने के लिये अत्यन्त साधक होता था। दण्डी का कथन है—

तदस्ततन्द्रैरनिश सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभि।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

"जिन्हे कीर्ति की अभिलाषा हो उन्हे अहोरात्र श्रमपूर्वक काव्यविद्या की उपासना करनी चाहिये। जो इस प्रकार परिश्रम करेंगे वे कवित्वशक्ति कृश रहने पर भी, विदग्धगोष्ठी में विहार करने में समर्थ रहेगे।"

कामसूत्र तथा काव्यमीमासा में क्रमशः नागरक तथा कवि का जो दिनक्रम लिखा हुआ है, उस पर विद्वानो को विश्वास नही होता। उसमें वे अतिशयोक्ति की कल्पना करते है। उसे स्वीकार करने पर भी यह नही कहा जा सकता कि इन ग्रन्थो में दी गई सूचना पूर्ण रूप से कल्पित है। राजशेखर ने कवि के सबन्ध में जो कुछ बताया है, दण्डी तथा वामन के ग्रन्थो में भी वह पाया जाता है। राजशेखर ने निर्देशित किये हुए 'प्रश्नोत्तरभेदन' से समान 'प्रहेलिका' नामक भेद दण्डी ने 'काव्यादर्श' में दिया हुआ है। और कहा है कि प्रहेलिका क्रीडागोष्ठी में विशेष उपयुक्त होती हैं (२०)। चित्रायोग के अनेक प्रकार दण्डी ने काव्यादर्श के तीसरे परिच्छेद में तथा रुद्रट ने काव्यालकार के पाँचवे अध्याय में दिये हुए है। इन सब का उपयोग काव्यगोष्ठी में होता था। काव्यगोष्ठी का अर्थ ही विदग्धगोष्ठी या नागरक गोष्ठी है। इस प्रकार नागरकगोष्ठी काव्यविवेचना के लिए एव काव्य के प्रसार के लिए एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

काव्यगोष्ठी में कवि की रचना प्रस्तुत होने पर उसकी केवल प्रशसा ही होती थी सो बात नही। अनेकशः उसकी कड़ी आलोचना भी होती थी। इस सबन्ध में कवियो के लिए राजशेखर ने कहा है—अपनी कृति के लिए जनता की मान्यता क्या है यह जानना चाहिये। सतर्क रहना चाहिये कि जनता को वह असम्मत न हो।

---

२०. क्रिडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका॥ (३।९७)

किन्तु जनता निरकुश होती है, इसलिये केवल जनापवाद से डरकर रहना भी ठीक नही। स्वयम् अपनी शक्ति को जानना चाहिये। कवि की अनुपस्थिति में उसके काव्य की प्रशसा होती है। एवम् उसके देशातर जाने के पश्चात् समाज उसकी महत्ता को समझता है। महाकवि की भी निकटवर्ती परिचितजन अवज्ञा ही करते है। प्रत्यक्ष कवि का काव्य, कुलस्त्री का रूप और घर के ही वैद्य की विद्या आज तक किसे अच्छी पसद आई है? किन्तु, इस स्थिति में भी कवि के कीर्ति के प्रसार का वही एक मार्ग है। विदग्धगोष्ठी के कारण कवि की रचना समाज के सम्मुख प्रस्तुत होती है। सज्जन उसकी प्रशसा करते है एवम् बाल, स्त्रियाँ आदि की मुखपरम्परा से उसका प्रचार होता है। (२१)

पूर्व 'घटानिबन्धन' नामक नैमित्तिक कवि गोष्ठी का वर्णन किया है। राजशेखर विशेष रूप से कहता है कि स्वयम् राजा अगर कवि हो तो उसे इस प्रकार के कविसमाज (समेलन) का आयोजन करना चाहिये। केवल इतना ही नही, उसका कथन है कि काव्यपरीक्षा के लिए बड़े बडे नगरो में '**ब्रह्मसभा**' आयोजित करनी चाहिये और उनमें जो कवि प्रवीण या प्रमाणित हो उसका ब्रह्मरथयान तथा पट्टबन्ध आदि से सम्मान करना चाहिये। काव्यगोष्ठी, कविसमाज तथा ब्रह्मसभा के द्वारा कवि के कवित्व की परीक्षा तथा उसके यश का प्रसार होता था तथा योग्यता के अनुसार उसे राजाश्रय प्राप्त होता था।

सस्कृत के साहित्यग्रन्थो में अनेक शिक्षाग्रन्थ क्यो लिखे गये होगे, यह समझना अब सरल है। आधुनिक काल में हमें शिक्षाग्रन्थो का कोई महत्त्व तो रहा ही नहीं बल्कि शिक्षाग्रन्थो की ओर कुछ तिरस्कार से ही देखने की आधुनिक पण्डितो की प्रवृत्ति दिखाई देती है। किन्तु प्राचीन काल में काव्य का प्रसार काव्यगोष्ठी से ही होता था, काव्य भी, एक कला होने के नाते रसिक सभा में प्रदर्शित करना आवश्यक होता था, एवम् इसी कारण से यत्नपूर्वक काव्य की शिक्षा ग्रहण करना पडता था, इस पर ध्यान देने से पूर्व काल में शिक्षाग्रन्थो का महत्त्व क्यों था यह स्पष्ट हो जाता है। विदित होता है कि इस प्रकार की काव्यगोष्ठियो में ही साहित्यविवेचना के आरम्भकालीन ग्रन्थों की विचारसामग्री तैयार हुई है।

काव्यगोष्ठी में सरलता से काव्य के आस्वादन का आनन्द विदग्ध नागरक लिया करता था। आगे चल कर राजा कवि को आश्रय प्रदान करता था। ये दोनो रसिक रहते थे। इन दोनो से भिन्न तथा दोनों से कुछ विशेष योग्यता रखनेवाला काव्य का एक तीसरा भी रसिक होता था। वह था '**सहृदय**'। काव्यगोष्ठी,

---

२१. राजशेखर : काव्यमीमांसा, पृ. ५१

कविसमाज एवम् ब्रह्मसभा इन सभी मे 'सहृदय' की उपस्थिति रहती थी। काव्यप्रेमी राजा तथा अन्य सदस्यो के साथ 'सहृदय' भी काव्य के आस्वादन का आनन्द लिया करता था। किन्तु इसीमें उसे इतिकर्तव्यता न थी। काव्य के आस्वादन की उपपत्ति खोजने का भी वह प्रयास करता था; उसने जो काव्य पढे हो अथवा सुने हुए हो उनके गुण तथा दोषो का वह विवेक करता; समय समय पर काव्य के सम्बन्ध में अपना विचार भी वह प्रस्तुत किया करता था। एक दृष्टि से 'सहृदय' स्वयम् कवि के काव्य का आलोचक भी रहता था तो दूसरी दृष्टि से काव्यचर्चा के सिद्धान्तो का वह प्रस्थापक भी होता था। कविसमाज का सदस्य होने के नाते, प्रस्तुत किये गये काव्य पर वह अपनी समति भी देता था और समति देने में काव्य के सिद्धान्तो की विवेचना भी किया करता था। इस प्रकार की विवेचना ही शनै शनैः शास्त्र में परिणत हुई। विदग्ध-गोष्ठी में सभी नागरक रसिक रहा करते थे, किन्तु सभी के पास विवेचना की प्रज्ञा होना सभव नही है। इस लिए, सारस्वत के 'किमपि रहस्य' के अन्वेषण का प्रयास वे सब करते ही थे, यह असभव है। इस रहस्य के अन्वेषण का कार्य विमलप्रतिभावान् 'सहृदय' ने किया और इसी अपूर्व प्रयास के कारण वह काव्य के लिए एक निकष बना।

'सहृदय' ही काव्य के आस्वादन का मूल अधिकारी है। अभिनवगुप्त कहते है— "अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशाली सहृदय.।" एक ओर है काव्य का निर्माता कवि,दूसरी ओर है तन्मयभाव से काव्य का आस्वाद ग्रहण करनेवाला 'सहृदय'। कवि तथा 'सहृदय' के हृदयसवाद के लिए अत्यत उपकारक साधन है–शब्दार्थमय काव्य, तथा रसिक जिनसे आनन्दमयी अवस्था को प्राप्त होता है उन शब्दार्थो के स्वरूप की विशेष रूप से विवेचना जिस शास्त्र में होती है वह शास्त्र है—काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र। साहित्यशास्त्र के नियमो की रचना में 'सहृदय' ने अन्य अनेकों शास्त्रों से लाभ उठाया है। किन्तु ऐसा करने मे उसने जीवन को–लौकिक अनुभव को अपनी दृष्टि से क्षणभर के लिये भी ओझल नही होने दिया। जीवनानुभव के ठोस भित्ती पर साहित्य भवन की सृष्टि करने में जहाँ कही किसी शास्त्र से लाभ हो सकता था वहाँ उसने अवश्य लाभ उठाया है। और तो क्या, सभी शास्त्रों का सार निचोड़ कर, उनके यथावत् मेल से जीवन की जिस रमणीय मूर्ति को उसने अकित किया वही है साहित्यविद्या। इसी हेतु, साहित्यविद्या में सभी विद्याओ का सार मिलता है। राजशेखर का कथन है–पञ्चमी साहित्यविद्या, सा तु सर्वासा विद्यानाम् निष्यद.।"

साहित्यग्रन्थों के अध्ययन की चतु.सूत्री

सस्कृत ग्रन्थो से अलंकारशास्त्र का अध्ययन करने में कुछ एक बातो का ध्यान रखना आवश्यक है। काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण के अध्ययन से काव्य के भिन्न

भिन्न अगो से परिचय होता है। सस्कृत काव्यग्रन्थो का प्राचीन पद्धति के अनुसार अध्ययन करने में इतना परिचय भी पर्याप्त होता है। किन्तु उपर्युक्त दोनो ग्रन्थों में जो विचार विवेचित किये गये है, वे किसी एक विशेष क्रम से विकसित होते हुए इन ग्रन्थो में आये है। अगर यह जानना है कि यह विकास किस क्रम से हुआ, तो हमें मम्मट से पूर्व जो ग्रन्थकार हो गये उनका अध्ययन करना आवश्यक होता है एवम् उनके विचारो में अन्वय लगाना पडता है। जब तक हम इस अन्वय को नही समझ पाते तब तक हमारी एक ऐसी गलत धारणा रहती है कि साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त केवल एक ही ढाँचे मे ढले हुए और सम्प्रदायनिष्ठ है। यह धारणा अनेक अपसिद्धान्तो का कारण है। साहित्यशास्त्र के विकास का सस्कृत ग्रन्थो से अन्वेषण करने में, किसी भी शास्त्रग्रन्थ के अध्ययन के लिए आवश्यक चार नियम आँखो से ओझल नही किये जा सकते। वे नियम इस प्रकार है—

१ **लक्ष्यानुसारि लक्षणम्**—काव्यशास्त्र का प्रयोजन है काव्य का लक्षण निर्धारित करना। "लक्षण" का अर्थ है असाधारण धर्म। काव्यलक्षण का अर्थ है काव्य का विशेष धर्म जो वाङमय के अन्य प्रकारो से काव्य का भेद दर्शाता है। काव्य के इस विशेष धर्म के अन्वेषण में काव्यमीमासको ने उनके समक्ष जो काव्य-प्रपच था उसका अध्ययन किया। काव्य के इन लक्षण ग्रन्थो की जिस काल में रचना हुई उस काल में शास्त्रज्ञो के समक्ष विस्तृत सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा देशी वाङ्मय प्रस्तुत था। उस वाङमय का उन्होने वर्गीकरण किया तथा अन्वयव्यतिरेक की रीति का अवलबन करते हुए सामान्य नियमो की रचना करने का उपक्रम किया। इस प्रकार शनै· शनै शास्त्रविचार प्रकट हुआ। उस काल की यह शास्त्रपद्धति आज हमें दुर्बोध होने लगी है। वैसे ही उस समय के कई काव्य प्रकार भी हम ठीक तरह से नही समझ पाते। इस हेतु, प्राचीन ग्रन्थो का कुछ अश आज हमें अनुचित विस्तार सा प्रतीत होता है। किन्तु जिस काव्य के आधार पर उस शास्त्र का निर्माण हुआ उस काव्य से ऐसे अश का स्थान स्थान पर सम्बन्ध देखना चाहिये, जिससे कि जिन्हें, हम दुर्बोध समझते है ऐसी कई बातो का भेद आज भी खुल सकता है। उदाहरण-स्वरूप—कई ग्रन्थो मे रस पर लिखे गये अध्यायो में नायक तथा नायिकाओं के भेद, उपभेद, उनके मित्र, सहेलियाँ इत्यादि का वर्णन मिलता है। ऐसे वर्णन को हम केवल अनुचित विस्तार ही नही अपितु अनावश्यक भी समझते है। किन्तु साहित्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में उस काल में जो आन्तरिक सम्बन्ध था उस सम्बन्ध पर ध्यान देने से वे विषय उसी प्रकार से क्यों आये यह स्पष्ट हो जाता है, एवम् नाट्यशास्त्र में लिखे गये वर्णन का उस काल की समाजस्थिति से सम्बन्ध देखने का प्रयास करने से उस वर्णन का तत्कालीन महत्त्व समझने में भी कोई असुविधा नही होती। पीठमर्द

विट, चेट, नायिका की अनेकानेक सखियाँ अथवा कामतन्त्र में सचिवत्व करनेवाली स्त्रियाँ इन सबका प्राचीन साहित्य ग्रन्थो में वर्णित स्वरूप, ४०।५० वर्ष पूर्व के ग्रामीण जीवन में कुछ अश में पाया जाता था इस बात पर ध्यान देने से साहित्य ग्रन्थो में किये गये इस वर्णन का महत्त्व स्वीकृत होता है। जिस प्रकार व्याकरण प्रयोगशरण होता है ठीक उसी प्रकार साहित्यशास्त्र भी साहित्यशरण होता है, और अगर साहित्यशास्त्र में किये गये वर्णनो का साक्षात् जीवन के स्तर से स्पष्टीकरण हो सका तो उन वर्णनो का महत्त्व और भी विशद रूप में प्रतीत होता है।

२. **प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति**—यह नियम सभी शास्त्रो के लिये सत्य है। शास्त्रीय ग्रन्थो की रचना किस प्रकार होती है यह इस नियम से विदित होता है। शास्त्र में अनेक विषयो की प्रक्रिया बताई जाती है। जिसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण प्रक्रिया बताई गई हो वह है प्रधानवस्तु। पीछे वही प्रक्रिया कुछ अश में बदल कर अन्य वस्तुओ को लागू की जाती है। जिन वस्तुओ को वह लागू होती है उन्हे प्रधान-वस्तु के ही वर्ग मे रखा जाता है तथा उस वर्ग को प्रधान वस्तु का ही नाम दिया जाता है। यही शास्त्रो में बताया गया प्रधान वस्तु व्यपदेश है। शास्त्रीय ग्रन्थो की रचना की यह एक रीति है। इस रीति से शास्त्रीय विवेचन-विशद होती है। साहित्यशास्त्रो के ग्रन्थ लिखने में इस पद्धति का अनुसरण किया गया है इस बात पर ध्यान न देने से अनेक विद्वानो को भ्रान्ति हुई है। उदाहरण के रूप में साहित्यग्रन्थो में दी गई रसप्रक्रिया ही लीजिये। रस के सम्बन्ध में बताई गई प्रक्रिया रस के समान ही भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावा शबलता इत्यादि को भी लागू होती हैं। रस के समान भाव आदि का काव्यात्मत्व भी शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है। "काव्य में रस प्रधान होता है" यह शास्त्रकार, वचन, भाव, आदि के प्राधान्य के सम्बन्ध में भी सत्य है। "प्रतीयमानस्य अन्यभेद-दर्शनेऽपि रसभावमुखेनैव उपलक्षण प्राधान्यात्" कहते हुए आनन्दवर्धन ने रस के साथ भाव का भी प्राधान्य माना है। अभिनवगुप्त ने "व्यभिचारिणोऽपि प्राणत्वम्" बताया है। केवल इतना ही नही, तो "रसभावशब्देन च तदाभासतत्प्रशमावपि सगृहीतौ एव, अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात्" इन शब्दो में रस, भाव तथा उनकी भिन्न भिन्न छटाओ (Shades) की एकजातीयता बताई है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इस प्रकार काव्य का लक्षण करनेपर, "रसात्मकम्" शब्द की व्याप्ति बताते हुए विश्वनाथ कहता है—"रस्यते इति रसः इति व्युत्पत्तियोगात् भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।" यहाँ उसने "रस" शब्द का "रस्यमानता" के अर्थ में प्रयोग किया है, तथा भाव आदि में भी रस्यमानता होने से, उनमें भी काव्या-त्मत्व स्पष्टरूप से स्वीकार किया है। इसी को वह "रसधर्मयोगित्वात् भावादिष्वपि

रसत्वमुपचारात्" इस प्रकार दुहराता है। सारांश, काव्यात्मा होने के नाते रस के विषय में चर्चा करने में शास्त्रकारों ने भाव आदि का भी एकजातीय होने से ग्रहण किया है, एवम् उस सम्पूर्ण विवेचना को रसविवेचन अर्थात् रसप्रक्रिया की सज्ञा प्रधानव्यपदेश के न्याय से दी है। किन्तु सस्कृत ग्रन्थो की यह शास्त्रीय पद्धति कई आधुनिक पण्डित न समझ सके और सस्कृत ग्रन्थो मे भाव-काव्यपर आवश्यक विचार नही हुआ ऐसी अपनी धारणा उन्हो ने बना ली (२२)।

३. **यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**—यह नियम व्याकरण शास्त्र का माना जाता है। किन्तु साहित्यशास्त्र के लिये भी वह लागू हो सकता है। विशेष रूप से, जिसे साहित्यशास्त्र के विकास का अध्ययन करना हो उसके लिये उत्तरोत्तर प्रामाण्य ध्यान मे रखना नितान्त आवश्यक है। किसी भी शास्त्र के विकास में उत्तरकालीन आविष्कार का प्रामाण्य होता है। इसका कारण यह है कि उत्तरकालीन विवेचना में पूर्वकालीन सभी विषयो की विवेचना तो होती ही है, और पूर्वकालीन आविष्कार से जिनकी उपपत्ति नही हो सकती थी उन विषयो की उपपत्ति भी सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ, दण्डी ने काव्यमार्ग की विवेचना की है। वामन दण्डी के पश्चात् हुए। उन्होने दण्डी की विवेचना से दोष वर्ज्य कर के गुणो की और भी ठीक प्रकार से विवेचना की, और रीति की उपपत्ति सिद्ध की। इन दोनो पूर्वाचार्यो के मतो का कुन्तक ने सकलन किया तथा उनके विचारो का अधूरापन दर्शाकर, रीतियो की विवेचना सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग की सज्ञाओ से और भी शास्त्रशुद्ध की, एवम् रीति कवि के स्वभाव की द्योतक किस प्रकार होती है यह दर्शाया। विश्वनाथ ने "पदसघटना रीतिरगसस्थाविशेषवत्। **उपकर्त्री रसादीनाम्**–।" कहकर रीति का स्वरूप निर्देशित किया तथा दण्डी और वामन ने सूचित किया हुआ उनका रसोपकार-कत्व विशद किया। इस प्रकार क्रमश. रीतियो का इतिहास है। ऐसा होने पर भी अनेक विद्वान् आज भी वामन कृत रीतिविवेचना ही प्रमाण मानते है एवम् उसीके आधार पर अपने सिद्धान्तो की रचना करते है (२३)।

४. **सिद्धपरमतानुवाद**—साहित्यशास्त्र पर रचे गये सस्कृत ग्रन्थो में व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रो के सिद्धातो का उपयोग प्रतिपद किया गया है। अपने मत की सिद्धि के लिये उन्होने इन शास्त्रो के सिद्धान्तो का अनुवाद मात्र किया है। एक शास्त्र की विवेचना करने में, अन्य शास्त्रो में सिद्ध मत का अनुवाद करना ही

---

२२. देखें–डॉ. मा. गो. देशमुख कृत 'भावगन्ध' प्रमेय की विवेचना।

२३. देखें–डॉ. मा. गो देशमुख: 'मराठीचें साहित्यशास्त्र'–'रीति आणि रेखा' अध्याय तथा *Sanskrit Poetics* में. डॉ. De ने की हुई रीति की विवेचना।

सिद्धपरमतानुवाद है। साहित्यशास्त्र के ग्रन्थो में इस प्रकार का अनुवाद अनेक स्थानो पर किया गया है (२४) । अनुवाद करने में, अनूदित सिद्धान्त की विवेचना या व्याख्यान के लिये शास्त्रकार समय देता नही। वह व्याख्यान हमें अपने आप ही स्वतत्र रूप से समझ लेना चाहिये। अन्य शास्त्रो के सिद्धान्तों के समान, साहित्यशास्त्र के सबन्ध में अन्य ग्रन्थकारो के जो मान्य विचार हों उनका भी शास्त्रकार अनुवाद मात्र करते है, और आगे बढते है। इससे ग्रन्थ की रचना सक्षेप में हो सकती है। इस प्रकार के अनूदित विचार हमें मूल ग्रन्थो से समझ लेने पडते है; एवम् प्रकृत ग्रन्थ में उनका सम्बन्ध भी जोड़ लेना पडता है। किसी बात का किसी ग्रन्थकार ने केवल निर्देश ही किया है, उसकी विवेचना के लिए अपेक्षाकृत अधिक पृष्ठ नही दिये इसलिये, उसे वह मानता नही था या वह बात उसे स्वीकार न थी इस प्रकार शीघ्र ही हम परिणाम पर पहुँचते हैं, यह हमारी भूल है। भामह के सम्बन्ध में अनेक विद्वानो की यह भूल हुई है (२५) ।

इन चार नियमो को साहित्यशास्त्र के ग्रन्थो के अध्ययन की चतु सूत्री कहा जा सकता है। इन नियमो के अनुसार ग्रन्थ का अर्थ करना नितान्त आवश्यक है। इन नियमो की ओर ध्यान न देने से अनुचित परिणाम निकल सकते है।

---

२४. सिद्धपरमतानुवाद का एक अच्छा उदाहरण वामन के काव्यालकारसूत्रवृत्ति में है। पाँचवें अधिकरण के प्रथम अध्याय में 'स्तनादीना द्वित्वाविष्टा जातिः प्रायेण' सूत्र है। इस सूत्र की वृत्ति में वामन ने लिखा है—

"अथ कथं द्वित्वाविष्टत्वं जाते । तद्धि द्रव्ये न जातौ। अतद्रूपत्वात् जातेः। न दोषः। तदतद्रूपत्वात् जाते। कथ तदतद्रूपत्वं जातेः। तद्धि जैमिनिया जानन्ति। वयं तु लक्ष्यसिद्धौ सिद्धपरमतानुवादिनः।। न चैवमतिप्रसगः। लक्ष्यानुसारित्वान्न्यायस्य।।"

यहाँ वामन ने लक्ष्यसिद्धि के लिये मीमांसकों के सिद्ध मत का अनुवाद किया है: मीमांसकों का यह मत ऐसा ही क्यों? इस प्रश्न पर "यह मीमांसक जानते हैं, वही देखें।" यह उसका उत्तर है। काव्यगत वस्तुस्थिति का जिससे स्पष्टीकरण हो ऐसा न्याय खोजने का ही साहित्य के मीमांसकों का कार्य है। वह न्याय वैसा ही क्यों यह समझाने का कार्य उस शास्त्र का है जिससे वह लिया गया हो। काव्यशास्त्र में जिन न्यायों का उपयोग किया गया वे वस्तु विवेचना के लिये उपयुक्त थे इस कारण लिये गये।। न्याय के होने से वस्तुस्थिति में फर्क़ नही होता। काव्यशास्त्र काव्यानुसारी है यही वामन यहाँ सूचित करता है।

२५. डॉ. शकरन्, श्री. रामस्वामी, डॉ. De आदि के भामह के सम्बन्ध में विचार देखें।। इन विचारों की आलोचना आगे की है।

आजकल के अध्ययन करनेवालों की कुछ कठिनाइयाँ—

इसके अतिरिक्त और भी कई कठिनाइयाँ हमने ही निर्माण कर रक्खी हैं। आजकल विश्वविद्यालयों में साहित्यशास्त्र का सम्पूर्ण ग्रन्थ अध्ययन के लिये नियुक्त नही होता। केवल एक या दो अध्याय ही नियुक्त किये जाते है। उस पर से इस शास्त्र के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान भी प्राप्त नही किया जाता। इस स्थिति में रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति, अलकार इत्यादि के सम्बन्ध में हम कुछ गलत धारणाएँ बना लेते है एवम् प्राचीन ग्रन्थो के विषय में मन चाहे परिणाम निकालते रहते हैं।

आजकल अनेक विद्वानों ने रस सिद्धान्त की पुनर्व्यवस्था करने का प्रयास आरम्भ किया है। इस प्रयास में भी उन्होनें शास्त्रीय दृष्टिकोण का आवश्यक निश्चय नही रखा है। उदाहरणस्वरूप, 'रसविमर्श' ग्रन्थ में वीररस की विवेचना में वीररस के उत्साह स्थायी भाव के स्थान पर 'अमर्ष' स्थायी रखने का प्रस्ताव किया गया है। 'अमर्ष' वीररस का स्थायी हो सकता है या नही इस प्रश्न को क्षण-भर के लिये छोड भी दिया और इस प्रकार स्थायी बदला जा सकता है यह स्वीकार भी कर लिया, तो भी कहना पडता है कि इस प्रकार स्थायी बदलने से समूचे शास्त्र पर क्या परिणाम हो सकते हैं इस बात पर ग्रन्थकार ने जरा भी ध्यान नही दिया। प्राचीन शास्त्रकारो ने उत्साह स्थायी मान कर युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, इत्यादि व्यवस्था की। वीर का 'उत्साह' स्थायी हटा कर उसके स्थान पर 'अमर्ष' प्रतिष्ठित करने से इस व्यवस्था में फर्क होगा। इस प्रकार जब फ़र्क होगा तब, पहले जहाँ जहाँ उत्साह का सम्बन्ध था वहाँ अब अमर्ष का सम्बन्ध रहेगा। इस स्थिति में, अमर्ष के स्थायी होने के कारण पूर्व शास्त्र की पुनर्व्यवस्था करना आवश्यक होगा, एवम् यह व्यवस्था सम्पूर्ण शास्त्र के लिये किस प्रकार उपकारक सिद्ध होती है यह भी दर्शाना होगा। अन्यथा वह पुनर्व्यवस्था नही कहलायेगी। पूर्व शास्त्रव्यवस्था में परिवर्तन करते हुए नये प्रस्ताव रखने का कार्य, सुप्रतिष्ठित विधि में Amendment का प्रस्ताव रखने के समान ही महत्त्वपूर्ण है। केवल एक स्थान में परिवर्तन करने का प्रस्ताव रखने से काम नही चलता। उस परिवर्तन का समूचे शास्त्रव्यवस्था पर होनेवाला परिणाम तथा उसके लिये आवश्यक पुनर्व्यवस्था स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। रसविवेचना के सबन्ध में भी रसविमर्श तथा तत्सदृश 'अभिनवकाव्यप्रकाश' आदि अन्य ग्रन्थो में इसी प्रकार भ्रान्ति हुई है। रसप्रक्रिया के सम्बन्ध में ये विद्वान् अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिसिद्धान्त ग्राह्य समझते है किन्तु आनन्दमीमांसा में परिपुष्टिवाद के आश्रय से रस के सुखदु.खात्मक होने का परिणाम निकालते हैं। यह अर्धजरतीय न्याय है। प्राचीन ग्रन्थो में 'आनन्दवाद' तथा 'सुखदु.खवाद' की परम्पराएँ है किन्तु उनमें इस प्रकार विचारों की भ्रान्ति नहीं

है। अभिनवगुप्त की उपपत्ति से हम 'आनन्दवाद' पर पहुँचते है और दण्डी, वामन, लोल्लट, शकुक आदि के परिपुष्टिविचार से 'सुखदु खवाद' पर्यवसित होता है इस बात को प्राचीन ग्रन्थकारों ने भलीभाति ध्यान में रखा है। इस हेतु उनकी रसमीमासा में भ्रान्ति नही है। इसके अतिरिक्त, ध्वनि एक पद्धति है, क्षमेन्द्र का स्वतन्त्र औचित्यविचारसम्प्रदाय है, रस जितना आस्वाद्य है उतना रसाभास नही आदि मत भी इसी प्रकार बनाये गये है।

आजकल के अध्ययन करनेवालो का उत्तरदायित्व

इस स्थिति में, ऐसे ग्रन्थ आज विश्वविद्यालयो में प्रविष्ट हुए है। और सभव है कि मूल सस्कृत ग्रन्थो का स्थान उन्हे प्राप्त होगा। सस्कृत ग्रन्थो का मूल से अध्ययन करने की विद्यार्थियो की प्रवृत्ति दिनप्रतिदिन कम होती जा रही है। इस दशा में, बिना मूल ग्रन्थो से तुलना किये ही इन ग्रन्थो को मूल ग्रन्थो की प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। इन ग्रन्थो में साहित्यविचार का जो दर्शन कराया गया है, वैसाही वह मूल ग्रन्थो में है ऐसी भ्रान्ति भविष्यत् काल में विद्यार्थियो को होने की सभावना है।

इस अवस्था में सस्कृत के विद्वानो पर एक उत्तरदायित्व आता है। सस्कृत ग्रन्थो के विचारो का उन्हे सत्यदर्शन कराना चाहिये। सस्कृत ग्रन्थो मे जिस प्रकार विचार हुआ है उसी प्रकार उसे प्रस्तुत करना चाहिये। उस पर से प्राचीन शास्त्रकारो का कहना स्पष्टरूप में विदित हो जायगा, मूल विचार पूर्ण रूप में अभ्यासको के समक्ष प्रस्तुत होने से उसकी श्रेष्ठकनिष्ठता निर्धारित हो जायगी। इन विचारो को प्रस्तुत करने में आग्रह रखने का कोई कारण नही। "अब रसव्यवस्था का अडगा निकाल लेना चाहिये।" ऐसा अगर किसीने कहा तो हम चिढ़ जाते है; और फिर "हमारे सस्कृत ग्रन्थों में सभी कुछ है" इस आग्रह से प्रेरित होते है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं। सस्कृत ग्रन्थो के विचार पाठको के समक्ष यथार्थ रूपमें प्रस्तुत करना ही हमारा प्रधान कार्य है। वे विचार एकबार अभ्यासको के समक्ष प्रस्तुत होने पर, विचारो की आज की धारणा में वे कहाँ तक ग्राह्य अथवा अग्राह्य है यह आपही निर्धारित हो जायगा। "हेम्न. संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।"

इसलिए यथार्थत. मूल संस्कृत ग्रन्थों के भाषानुवाद होने चाहिये। इससे भरत, भामह, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त अथवा मम्मट क्या कहते है यह अभ्यासको को प्रत्यक्षरूप में विदित होगा। दूसरो के मुख से सुनने की उन्हे जरूरत नही पडेगी। यथार्थत: ऐसा काम कोई सस्थाही कर सकती है। अकेला व्यक्ति यह बोझ नही उठा सकता। किन्तु तबतक बैठे रहने का भी कोई कारण नही। सक्षेप में क्यो न हो वह स्वरूप पाठको के समक्ष प्रस्तुत होना चाहिये। ऐसा करने से, कम से कम इस शास्त्र की रूपरेखा तो ज्ञात होगी। ऐसा ही प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वरूप

प्रस्तुत ग्रन्थ के दो भाग किये गये हैं। साहित्यशास्त्र का विकास किस प्रकार हुआ यह पूर्वार्ध मे इतिहासमुख से दर्शाया है। म. म पा वा काणे महोदय ने सस्कृत अलकारग्रन्थो का जो कालानुक्रम निर्धारित किया है उसे इस विवेचना में स्वीकार किया गया है। उसीके अनुसार शास्त्रविकास की अवस्थाएँ दर्शाई गई हैं। उत्तरार्ध मे साहित्य के सिद्धान्तो का निरूपण किया गया है। उसमें विवेचना का क्रम मम्मटाचार्य के 'काव्यप्रकाश' का ही है। इसका एक कारण यह है कि प्राचीन सम्पूर्ण विचारो का परिगणन करने के बाद मम्मटाचार्य ने वह पद्धति के अवलबसे विद्यार्थीगण पारम्परिक पद्धति से परिचित होगे। दूसरा कारण यह कि 'काव्यप्रकाश' या 'साहित्यदर्पण' ये दोही ग्रन्थ विश्वविद्यालयो में साधारणतया अध्ययन के लिये नियुक्त किये जाते हैं। उनके अध्ययन में भी इससे सहाय्यता होगी।

अ ध्या य दू स रा

नाट्यशास्त्र में काव्यचर्चा

साहित्यशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थो में भरतमुनि विरचित नाटचशास्त्र प्राचीनतम है। परम्परा के अनुसार अग्निपुराण ही प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। सभी पुराणग्रन्थ व्यासविरचित है इस श्रद्धा से अगर उसे प्रथम ग्रन्थ मान लिया जाय तो कोई आपत्ति नही। किन्तु इतिहास के प्रमाणो के अनुसार अग्नि-पुराण ईसा की सातवी शताब्दि से नवीं शताब्दि के काल में लिखा गया सिद्ध हुआ है। स्वयम् नाटचशास्त्र में भी प्राचीन लेखको के निर्देश है एवम् पाणिनि की अष्टाध्यायी में नटसूत्रो का निर्देश है। परन्तु वे ग्रन्थ अब उपलब्ध नही है। इस कारण भरतमुनि के नाटचशास्त्र से ही विवेचना आरम्भ करना ठीक होगा।

नाटचशास्त्र की रूपरेखा

माना जाता है कि नाटचशास्त्र की रचना ईसवी पूर्व २०० से सन् २०० ईसवी तक के काल में हुई। इस ग्रन्थ की श्लोकसंख्या सात सहस्र है। और नाटच के सभी अग तथा उपागों की सूचना इसमें सग्रहीत है। विस्तार के भय से इस ग्रन्थ का सार भी यहाँ दिया नही जा सकता। केवल उसकी रूपरेखा मात्र दी जा सकती है। निम्न रूपरेखा नाटचशास्त्र के निर्णयसागर सँस्करण से दी जाती है।

नाटचवेद अर्थात् नाटचशास्त्र का निर्माण कैसे हुआ यह प्रथम अध्याय में बताया गया है। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठच, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाटचवेद निर्माण किया और वह भरतमुनि को प्रदान किया। दूसरे अध्याय मे नाटच मडप की रचना का वर्णन है। तीसरे अध्याय में रगदेवता का पूजाविधान है। चौथे अध्याय मे तांडवनृत्य तथा पाँचवे अध्याय में पूर्वरग, प्रस्तावना तथा नादी वर्णित है। छठे रसाध्याय में तथा सातवें भावाध्याय

में रस, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव एवम् सचारी भावों की विवेचना है। आठवे अध्याय में अभिनय के आगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक भेद बताये गये है। नवे अध्याय में अगाभिनय अर्थात् हस्तपादादि अवयवो के विक्षेप का विचार किया गया है। दसवे तथा ग्यारहवे अध्याय में नृत्य की गति तथा चारी (नृत्य के गति भेद) की विवेचना की गई है। बारहवे अध्याय में देवता, राजा तथा सेवकगरा आदि की भूमिकाओ के अभिनय का वर्णन है। तेरहवे अध्याय में प्रवृत्तियो का विचार किया गया है एवम् आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाचाली, तथा औड्रमागधी प्रवृत्तियो के विशेष बताये गये है। चौदहवे तथा पँद्रहवे अध्यायो में छन्दो की विवेचना है। सोलहवें अध्याय में काव्य के लक्षण, अलकार, गुण एवम् दोषो का विचार किया गया है। सत्रहवे अध्याय में काकुस्वरविधान एवम् प्राकृत भाषाओ की विवेचना है। १८ वें अध्याय में दशरूपविधान अर्थात् नाटच के नाटक प्रकरण आदि दस भेदो का विवरण है। १९ वे अध्याय में नाटचवस्तु एवम् नाटचसधि वर्णित है। २० वें अध्याय में भारती, सात्वती ,आरभटी एवम् कैशिकी वृत्तियो का वर्णन है। २१ वे अध्याय में पात्रो की वेषभूषा का विधान है। २२ वे अध्याय में स्त्रियो के तथा पुरुषो के हावभाव, प्रेम की दश अवस्थाएँ एवम् नायिकाओ के भेद कथन किये है। २३ वे अध्याय में प्रेम मे सफलता पाने के मार्ग तथा कुटनी के सबन्ध में सूचना है।२४ वे अध्याय में नायकनायिकाभेद, राजा एवम् राजा का अन्त पुर, सेवक, सूत्रधार, विदूषक तथा अन्य पात्रो के सम्बन्ध में सूचना है। २५ वे अध्याय मे अभिनय के विशेष प्रकार दिये गये है। २६ वे अध्याय में पात्रो को कैसे चुनना चाहिये एवम् भूमिका किस प्रकार देनी चाहिये इस विषय में विवरण है। २७ वे अध्याय में नाटच-सिद्धि अर्थात् प्रयोग की सफलता कैसे निर्धारित करनी चाहिये यह बताया है। २८ से ३५ अध्यायो तक नाटचसगीत की विवेचना है। ३६ वे अध्याय में अभिनेता एवम् अन्य कर्मचारियो के गुण वर्णित है। अन्तत , ३७ वें अध्याय में नाटचशास्त्र स्वर्ग से पृथ्वी पर कैसे आया यह बताया गया है।

इस प्रकार, नाटचशास्त्र के ३७ अध्यायो में नाटचसबन्धी सभी बातों की शास्त्रीय विवेचना एवम् क्रियाविधि बताई गई है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्व के कौनसे विषय नाटचशास्त्र में विवेचित किये गये है यह अब देखना चाहिये। म म. पा. वा. काणे महोदय की समति में, "काव्यमीमासा अर्थात् साहित्यशास्त्र की दृष्टि से ६, ७, १६, १८, २० तथा २२ इन्ही अध्यायो का महत्त्व है।" स्थूलत· यह सत्य है। किन्तु नाटच तथा काव्य में जो आन्तरिक सबन्ध है उसपर ध्यान देने से विदित होता है कि इनके अतिरिक्त अन्य अनेक नाटचागो का काव्यचर्चा में अन्तर्भाव हुआ है।

आरम्भ में दी गई किम्वदन्ती

प्रारम्भ में दी गई किम्वदन्ती ही देखिये। ललित साहित्य की ओर हम किस दृष्टि से देखें यह इसमें बताया गया है। पूर्वकाल की बात है। त्रेतायुग में इन्द्र आदि देवता ब्रह्माजी के निकट गये और उन्होंने ब्रह्माजी से प्रार्थना की, "क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यद् भवेत्"—जो श्रवण के लिए मधुर एवम् देखने के लिए सुदर हो ऐसी क्रीडा हम चाहते हैं। ब्रह्माजी ने कहा "ठीक है" और ऋग्वेद आदि चार वेदो से आवश्यक अश सगृहीत कर सब के ग्रहणयोग्य नाट्यवेद का निर्माण किया। फिर इन्द्र को बुला कर ब्रह्माजी ने कहा, "तुम लोगों में जो कुशल, विदग्ध, प्रगल्भ और जितश्रम हो उन्हें यह नाट्यवेद दो।" किन्तु देवताओ में इन गुणो से युक्त कोई था नही। इस लिए इन्द्र ने कहा, "पितामह, इस वेद के ग्रहण, धारण, ज्ञान अथवा प्रयोग में देवतागण समर्थ नही है, क्योकि आपने जिन गुणो की अपेक्षा की है वे उनमें नही है।" तब ब्रह्माजी ने वह नाट्यवेद भरतमुनि को प्रदान किया। भरतमुनि ने अपने लडको को नाट्यवेद पढाया और जिसके लिए जो काम योग्य था उसे वह देकर, भारती, आरभटी और सात्वती वृत्तियो से युक्त नाट्यप्रयोग सिद्ध किया। भरतमुनि की सिद्धता देखकर ब्रह्माजी ने कहा, "इस प्रयोग में कैशिकी वृत्ति का भी उपयोग करो।" इस पर भरत ने प्रार्थना की, "भगवन्, सिवा स्त्रीजनो के कैशिकी वृत्ति का प्रयोग असभव है।" तब ब्रह्माजी ने नाट्यालकार में चतुर अप्सराएँ भरत को दी।

तत्पश्चात्, थोडे ही दिनो में इन्द्रध्वज नाम का उत्सव हुआ। उस अवसर पर भरत ने अपने नाट्य का प्रयोग प्रस्तुत किया। उसकी कथावस्तु का आशय था देवताओ ने दानवो पर पाई हुई विजय। प्रयोग चल ही रहा था कि दानवों ने उसके मध्य में विघ्न उपस्थित किये। तब ब्रह्माजी ने दानवों से पूछा, "दैत्यो, तुम प्रयोग में बाधा क्यो पहुँचा रहे हों?" इसपर विरूपाक्ष नामक दैत्य ने कहा, "पितामह, आपने देवताओ की इच्छा के अनुकूल यह नाट्यवेद निर्माण किया है। इसमें आपने हमारा प्रत्यादेश अर्थात् तिरस्कार दर्शाया है। यह आपके लिऐ उचित नही। देव और दानव दोनो आपसे ही निर्माण हुए है। अत एव आपको दोनो पर समान दृष्टि रखनी चाहिये।" इसपर ब्रह्माजी ने उत्तर दिया, "दैत्यों, तुम्हे क्रोध भी नही करना चाहिये और विषाद भी नही करना चाहिये। नाट्यवेद मैंने किस प्रकार निर्माण किया इसपर ध्यान दो—

> भवतां देवताना च शुभाशुभ-विकल्पकै ।
> कर्मभावान्वयापेक्षी नाट्यवेदो मया कृत. ।।

नैकान्ततोऽत्र भवता देवाना चाऽपि भावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम् ॥

क्वचिद् धर्मः, क्वचित् क्रीडा, क्वचिदर्थ, क्वचित् शम ।
क्वचिद् हास्य, क्वचिद् युद्ध, क्वचित् काम, क्वचिद् वध ॥

धर्मो धर्मप्रवृत्ताना काम. कामार्थसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीताना मत्ताना दमनक्रिया ॥

नाना भावोपसपन्न नानाऽवस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥

(ना. शा. १।१०६-०६, ११२)

"दैत्यो, यह नाट्यवेद, जिसमे तुम्हारे एवम् देवताओ के शुभ तथा अशुभ कर्मफल दर्शाये है, तुम्हारे ही कर्म, भाव एवम् अन्वय के अनुसार मैने निर्माण किया है। इसमें तुम्हारा या देवो का एकान्ततः या तत्त्वतः भावन नही है। नाट्य में सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावो का अनुकीर्तन होता है। अतएव, इसमें कही धर्म देखने को मिलेगा तो कही क्रीडा, कही अर्थ होगा तो कही शम। धर्म में प्रवृत्त लोगो का धर्म, कामसेवियो का काम, दुर्विनीत लोगो का निग्रह, मत्तो का दमन—इस प्रकार त्रैलोक्य में जिसका जिस प्रकार का वृत्त देखा जाता है वैसा ही वह नाट्य में प्रस्तुत किया जाता है। अनेक प्रकार के भावो से सपन्न एवम् नाना अवस्थाओ से युक्त लोकवृत्तानुकरण नाट्य में मिलेगा। अतएव—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते ॥ (१।११९)

"इस ससार में लोकस्वभाव सुख एवम् दु.ख से अन्वित पाया जाता है। और वह जब अग आदि अभिनयो से उपेत अर्थात् अभिसक्रान्त होता है तब उसे नाट्य कहते है।"

ब्रह्माजी ने इस प्रकार दैत्यो की भ्रान्ति नष्ट की। तत्पश्चात् नाट्य यथावत चलता रहा।

किम्वदन्ती से निष्कर्ष—यह किम्वदन्ती अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नाट्य को एवम् उसके साथ ही काव्य को किस दृष्टि से देखना चाहिये, यह हम इस किम्वदन्ती से समझ सकते है। साथ ही कुछ दूसरी बाते भी इससे स्पष्ट हो जाती है। क्रमशः वे ये है—

१ **साहित्यकार के आवश्यक गुण**—नाटचवेद अर्थात् काव्यशास्त्र के ग्रहण, धारण, ज्ञान एवम् प्रयोग के लिए साहित्यकार की कुछ विशेष योग्यता आवश्यक है। अन्य प्रकार से देवतागण श्रेष्ठ तो जरूर थे किन्तु नाटच एवम् काव्य धारण करने के लिए आवश्यक गुण उनमें नही थे। कुशलता अर्थात् विवेचकशक्ति, वैदग्ध्य, प्रगलभता तथा जितश्रमता अर्थात् आलस का अभाव ये गुण कवि अथवा नाटचकार के लिए आवश्यक है। ये गुण न हो तो काव्य का निर्माण नही हो सकता। केवल इतना ही नही, रसिकता भी प्राप्त नही हो सकती।

२ **कैशिकी अर्थात् सौंदर्यव्यापार**— बिना कैशिकी के नाटच अथवा काव्य हो नही सकता। "कैशिकी' ललित वृत्ति है। नाटच अथवा काव्य का विषय कुछ भी हो, उसमें वैचित्र्य अर्थात् लालित्य न हो तो वह नाटच अथवा काव्य नही हो सकता। भरत के नाटच प्रयोग में देवता और असुरो के युद्ध की कथावस्तु थी। अर्थात् वह नाटच का **डिम** या **समवकार** नामक भेद था एवम् उसमें प्रधान रस वीर या रौद्र था। किन्तु उसमें कैशिकी आवश्यक थी। उसमें वैचित्र्य या लालित्य होना जरूरी था। कैशिकी का अर्थ है सौदर्यव्यापार। अभिनवगुप्त कहते है। "सौदर्योपयोगी व्यापार कैशिकीवृत्ति।" उनका कथन है कि काव्य में जो भी कुछ लालित्य है वह सब कैशिकी के ही कारण है। (एव यत्किंचित् लालित्य तत्सर्वं कैशिकीविजृम्भितम्।)। अनेक विद्वानो की यह धारणा है कि कैशिकी का शृंगार से ही सबन्ध है। यह ठीक नही। अन्य रसों से भी उसका सम्बन्ध है। वीर अथवा रौद्र रस को 'आरभटी' वृत्ति अभिव्यक्त करती है किन्तु काव्य एव नाटक में इन रसो की अभिव्यक्ति में जो सौदर्य या वैचित्र्य प्रतीत होता है वह कैशिकी है। कोई भी रस क्यो न हो उसकी अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक अभिनय में वैचित्र्य एवम् सौन्दर्य का होना आवश्यक है। वह अगर उसमें न हो तो रस की अभिव्यक्ति ही नही हो सकती (१)। अतएव अभिनवगुप्त ने कहा है, "इति सर्वत्र कैशिकी प्राणा।" मुनि भरत ने भी कैशिकी को "नृत्याङ्गहार-सपन्ना रसभावक्रियात्मिका" कहा है एवम् उसकी प्रतीकस्वरूप अप्सराएँ 'नाटचा-लकारचतुर' थी ऐसा कहा है। नाटचालकार का अर्थ है नाटचवैचित्र्यहेतु। नाटचालंकार की विवेचना अनुपद की जायगी।

३. साहित्य को हम किस दृष्टि से देखें—काव्य नाटक आदि को हम किस दृष्टि से देखें यह भी उपर्युक्त किम्वदन्ती से स्पष्ट होता है। देवताओं ने दैत्यो को

---

१६. रौद्रादिरसाभिव्यक्तौ अपि कर्तव्यतायां योऽभिनयः उपादीयते सोऽपि सुंदरवैचित्र्य-व्याभि ण्या दुःश्लिष्टः अश्लिष्टो वा न रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवति।

पराभूत करने की कथावस्तु देखकर दैत्य क्रुद्ध हुए। नाटक के कर्ता ने हमारा प्रत्यादेश किया इस प्रकार की उनकी धारणा हुई। किन्तु उनका यह क्रोध 'भ्रान्तिमात्रकृत' था। नाट्य का उन्होने व्यक्ति से सम्बन्ध जोड दिया। किन्तु ब्रह्मा ने उन्हे सत्य दृष्टि दी। नाट्य तो देवताओ का महत्त्व भी नही बढाता और दैत्यो का अधिक्षेप भी नही करता। त्रैलोक्य में जो लोकचरित देखा जाता है उसीका वह अनुकरण (अनुव्यवसाय) है। नाट्य में अनेक प्रकार के भाव तथा अनेक प्रकार की अवस्थाएँ अकित की जाती है। ये भाव तथा ये अवस्थाएँ लोक मे जिस प्रकार प्रसिद्ध है उसी रूप मे नाट्य में दर्शाई जाती है। लोक में प्रसिद्ध अवस्था दर्शाने के लिए व्यक्ति केवल प्रतीकरूप मे लिए जाते है। क्यों कि बिना प्रतीक के लोकजीवन के भाव एवम् अवस्थाएँ अभिव्यक्त ही नही हो सकती। 'नाट्य' व्यक्ति की अनुकृति न होकर अवस्था की अनुकृति है। इसी हेतु नाट्य को अनुव्यवसाय कहा गया है। व्यक्ति के द्वारा प्रतीत होने पर भी नाट्यगत अवस्थाओं की प्रतीति व्यक्ति से निरपेक्ष होनी चाहिये। ऐसी व्यक्ति से निरपेक्ष अवस्थाओ का ही काव्य में आस्वादन होता है। जो यह नही कर पाता वह काव्य या नाटक का रसिक नही हो सकता। 'स्वपरगतदेशकालावस्थावेश' एक बडा रसविघ्न है। काव्यगत अवस्थाओ की व्यक्तिनिरपेक्षता रस के आस्वादन का मूल तत्त्व है। और वह त्रिकाल सत्य है। अवस्थाओ का प्रकटन पौराणिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्तियो के द्वारा होने पर उनकी व्यक्तिनिरपेक्षता विशेष रूप से बताना आवश्यक नही होता, किन्तु आधुनिक नाम धारण करनेवाले पात्रो के द्वारा अवस्थाओ का दर्शन कराया गया हो तो लेखक के लिए कहना आवश्यक होता है कि "कल्पना से पात्रों का निर्माण किया हुआ है।" ऐसे कथन का और ब्रह्मा के कथन का हेतु एक ही है और वह यह कि काव्य एवम् नाट्य के अवस्थाओ का आस्वादन व्यक्तिनिरपेक्ष हो कर करना चाहिये।

४. **कवि के लिए आवश्यक सतर्कता** — रसिक ने नाट्य को व्यक्तिनिरपेक्ष दृष्टि से देखना चाहिये यह जिस प्रकार भरतमुनि कहते है उसी प्रकार कवि को भी वे चेतावनी देते है कि उसने भी अपने नाटक में विशिष्ट व्यक्ति को अकित न करते हुए व्यक्तिनिरपेक्ष अवस्था का ही अकन करना चाहिये। कीर्ति का लाभ होने से, कवि को व्यक्तिसापेक्ष लिखने का मोह कई बार होता है। इस मोह का उसने दमन करना चाहिये। अन्यथा, उसमें कवि का अध पतन है यह भरतमुनि ने "नटशाप" की आख्यायिका के द्वारा जतलाया है। भरतपुत्रो को नाट्यवेद अवगत हुआ और उनकी प्रशंसा होने लगी। उस प्रशसा से वे उन्मत्त हुए और अपने ज्ञान का उपयोग दुसरो का मजाक उड़ाने मे करने लगे। ऋषिमुनियो का उन्होने मजाक उड़ाया। किसी समय वे एक हास्यकारक शिल्पक (छोटा-सा नाटक) खेलें। और

उसमें ब्राह्मण तथा ऋषियो का मजाक उड़ाने के उद्देश्य से उनके ग्राम्यधर्म दिखाएँ। यह शिल्पक ऋषिमुनियो के समक्ष ही खेले। अपना इस तरह व्यक्तिगत मजाक किया हुआ देख कर मुनि क्रुद्ध हुए और क्रोध से उन्होने भरतपुत्रो को शाप दिया—

यस्मात् ज्ञानमदोन्मत्ता न विद्याविनयान्विता ।
तस्मादेतद्धि भवता कुज्ञान नाशमेष्यति ।।

"तुम लोग ज्ञान से उन्मत हुए हो। विद्या से जो विनय आता है उसका तुम लोगों में पूर्ण रूप से अभाव है। इसलिये तुम्हारा यह कुज्ञान नष्ट हो।" यह शाप सुनकर भरतपुत्रो को अनुताप हुआ और उन्होने ऋषियो की शरण ली। तब ऋषियो ने कहा," तुम्हारी विद्या ससार में चलती रहेगी किन्तु तुम्हे फिर से प्रतिष्ठा प्राप्त न होगी।" तत्पश्चात् वे भरतपुत्र भरतजी के पास पहुँचे और उन्हे सब सम्वाद कह सुनाया। इसपर भरतजी ने कहा," तुम्हे यह प्रायश्चित्त तो करना ही पड़ेगा। अब अपना ज्ञान दूसरो को दो जिससे वह बना रहेगा। सिवा इसके दूसरा कोई चारा नही।" लब्धप्रतिष्ठ कलाकारो ने भी अगर कला की सीमा को तोड़ दिया तो उनकी प्रतिष्ठा नष्ट होती है यही इस जनश्रुति का अभिप्राय है।

अब स्पष्ट होगा कि कुशलता, विदग्धता, प्रगल्भता एवम् जितश्रमता इन गुणो की काव्यशास्त्र के ग्रहण के लिए आवश्यकता क्यो है ? नाटच के अनकूल अवस्था को जानने के लिए कुशलता चाहिये। विदग्धता न होने से दर्शक व्यक्ति-निरपेक्षता से नाटक देख ही नही पाएगे। प्रगल्भता न हो तो कवि अपने स्तर को छोड़ देगा और भरतपुत्रो के समान कला को नकल के लिए प्रयुक्त करेगा। और बिना जितश्रमता के इसमें से कुछ भी नही बन सकता। कवि तथा रसिक में अगर जितश्रमता नही है तो वे दोनो भी अभ्यासहीन होकर विकारो के वश में हो जायेंगे।

५. "**लोकस्वभाव का अभिनय के द्वारा दर्शन ही नाटच है**— नाटच है भावों की तथा अवस्थाओ की अनुकृति। इस अनुकृति में सौदर्यव्यापार अभिप्रेत है ही। मतलब यह कि नाटच के लिए दो बातो की आवश्यकता होती है। एक यह कि लोकवृत्त में देखे जानेवाले भाव तथा अवस्थाएँ। इसे लोकस्वभाव कहते है। दूसरी बात है सौंदर्यव्यापार। लोकस्वभाव जब सौदर्यव्यापार के द्वारा अभिव्यक्त होता है तब वह नाटच होता है। मुनि भरत ने यह निम्न रूप में बताया है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदु:खसमन्वितः।
अगाद्यभिनयोपेत. नाटचमित्यभिधीयते ।। (१।११९)

इनमें से लोकस्वभाव में भाव एवम् अवस्था का अन्तर्भाव होता है। तथा सौदर्यव्यापार अभिनय से संपन्न होता है। इस श्लोक के व्याख्यान में अभिनव-

गुप्त कहते हैं— साधारणता को प्राप्त हो कर, रसिको को (दर्शको को) स्वत्त्व-रूप से आस्वाद्य होनेवाला भावरूप अर्थ, अग आदि अभिनय के द्वारा उनके सविदर्पण में सक्रान्त होना ही नाटच है (२)। इस का अर्थ यह है कि नाटच का फल लोकस्वभाव का दर्शन तो है ही। किन्तु उसका एकमात्र साधन अभिनय ही है। नाटच है अभिनय रूप साधन के द्वारा लोकस्वभाव का दर्शन अन्य किसी प्रकार से वह दर्शन होने पर भी वह नाटच नही होता। इसी कारण से भरत मुनि ने लिखा है—'अनेकभेदबहुलं नाटचमस्मिन् (अभिनये) प्रतिष्ठितम्। (८।८)

लोकधर्मी व नाटचधर्मी

किन्तु अभिनय रूप साधन के द्वारा भावो का तथा अवस्थाओ का प्रकटन कैसा होता है? भरतमुनि का कथन है कि यह प्रकटन लोकधर्मी तथा नाटचधर्मी इन दो प्रकार के नाटचधर्मो से होता है। एक दृष्टि से कह सकते है कि ये दोनो नाटचधर्म ही अभिनय की इतिकर्तव्यता है (३)। इस इतिकर्तव्यता की विशेष विवेचना रस के अध्याय में होगी। यहाँ इतना ही ध्यान रहे कि 'लोकधर्मी' अनुभावाभिनय से सबद्ध है तो नाटचधर्मी नाटचस्थित सौदर्यव्यापार से सम्बद्ध है।

लोकधर्मी तथा नाटचधर्मी के स्वरूप तथा सम्बद्ध के विषय में चर्चा करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं–"दोनो भी धर्मी लोकस्वभाव का अनुवर्तन करते है। लोक का अर्थ है जनपदनिवासी जनसमुदाय। उनका स्वभाव उनके वृत्तिप्रवृत्तियो से प्रकट होता है। भरतमुनि ने इन वृत्तिप्रवृत्तियो की पहले सूचना दी, और कहा कि तत्तत् देशों के नाटचप्रयोगों में तत्तत् वृत्तिप्रवृत्तिविशेषो के द्वारा भावो का एवम् अवस्थाओ का दर्शन कराना चाहिये जिससे दर्शको की प्रतीति का विघात न होगा (४) इन प्रवृत्तियों से ही द्विविध धर्मी सम्बद्ध है। नाटचस्थित अभिनय तत्तत् लोकप्रवृत्तिविशेषो से सबद्ध होना चाहिये। साथ ही वह सौदर्य से ओतप्रोत

---

२ लोकस्व सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमान चर्वमाण अर्थ. नाट्यम्। .. स कथं गोचरीभवति इत्याह अंगाद्यभिनयैरुपेत: उपसमीपमित· सविदर्पणमभिसक्रान्त·, एवं भूतो योऽर्थः, तन्नाट्यम्॥ (अ भा. भाग १, पृ ४४)

३ अभिनयस्य द्विविधा इतिकर्तव्यता – लोकधर्मी, नाट्यधर्मी च। (अ. भा. भाग २, पृ २५)

४. येषु देशेषु या पूर्वं प्रवृत्ति· परिकीर्तिता।
तद्वृत्तिकाणि रूपाणि तेषु तज्ज्ञः प्रयोजयेत्॥ (ना. शा. १३।५६)

इसपर अभिनवगुप्त कहते हैं 'देशाद्यौचित्ये तच्चेष्टितव्यावर्तनेन प्रतीतिविघाताद्रसमयत्वाभाव·। रसाश्च नाट्यस्य प्राणाः। व्युत्पत्तिरपि वा परेव भवेत्। असत्यताशङ्का च समूलघातं विहन्यादेव प्रयोगम्, इत्यनेनाभिप्रायेण—तद्वृत्तिकानि इति। (अ भा. भाग २, पृ. २११)

भी होना आवश्यक है। इसमें, लोकप्रवृत्तियो से सम्वादी अभिनयाश 'लोकधर्मी' है एव अभिनय का ही सौदर्याधायक अश "नाट्यधर्मी" है(५)।"

वैसे तो नाट्य ने लौकिक धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म ही नही होता। फिर भी कवि और नट अपने नाटको और प्रयोगो में आकर्षण निर्माण करने के हेतु लोकागत प्रक्रिया पर अपनी कल्पना का सस्कार करते हैं और इस प्रकार उसे सौदर्य-शाली बनाते है। ऐसे नाट्याश में 'नाट्यधर्मी' होती है। लोकधर्मी ही नाट्यधर्मी का आधार है। भित्ति तथा उसमें सौदर्य का आधायक चित्र या रग इन दोनो में जिस प्रकार आधार और आधेय का सम्बन्ध होता है उसी प्रकार लोकधर्मी एव नाट्यधर्मी मे सम्बन्ध होता है (६)। ठीक है कि चित्र या रग भित्ति के आधार के बिना नही रह सकता, किन्तु भित्ति में भी चित्र या रग के बिना सौदर्य नही आ सकता। उसी प्रकार, लोकधर्मी के आधार से ही नाट्यधर्मी रहती है किन्तु लोकधर्मी का सौदर्यमय आविर्भाव भी बिना नाट्यधर्मी के हो ही नही सकता। दोनो धर्मियो के इस सबन्ध पर ध्यान देने से नाट्यशास्त्र में बताये गये धर्मिलक्षणो का मर्म विस्पष्ट होता है। नाट्यशास्त्र में धर्मी लक्षण इस प्रकार किये गये है—

स्वभावभावोपगतम्, शुद्ध त्वविकृत तथा।
लोकवार्ताक्रियोपेतम्, अङ्गलीलाविवर्जितम्॥
स्वभावाभिनयोपेतम्, नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृश भवेन्नाट्यम्, **लोकधर्मी** तु सा स्मृता॥ (ना. शा. १३।७१-७२)

अतिवाक्यक्रियोपेतम्, अतिसत्त्वातिभावकम्।
लीलाङ्गहाराभिनयम्, नाट्यलक्षणलक्षितम्॥
स्वरालकारसयुक्तम्, अस्वस्थपुरुषाश्रयम्।
यदीदृश भवेन्नाट्य, **नाट्यधर्मी** तु सा स्मृता॥ (ना. शा १३।७३-७४)

इन लक्षणों के अनुसार नाट्यगत लोकधर्मी एवम् नाट्यधर्मी दोनो का भेद इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

---

५. लोकस्वभावमेवानुवर्तमानं धर्मिद्वयम्। लोको जनपदवासी जन.। स च प्रवृत्तिक्रमेण प्रपंचित"। तत्प्रसंगेनैव धर्मी आयाता। सा च द्वेधा — (अ. भा भाग २, पृ. २१३)

६. यद्यपि लौकिकधर्मव्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद्धर्मोऽस्ति, तथापि स यत्र लोकागतप्रक्रिया-क्रमो रंजनाधिक्यप्राधान्यमधिरोहयितु कविनटव्यापारे वैचित्र्य स्वीकुर्वन् नाट्यधर्मी इत्युच्यते।... लौकिकस्य धर्मस्य मूलभूतत्वात् नाट्यधर्म(प्रति) वैचित्र्योल्लेखभित्तिस्थानत्वात् इति लोकधर्मीमेवादौ लक्ष्यति। (अ. भा. भाग २, पृ. २१४)

नाट्यगत लोकधर्मी	**नाट्यगत नाट्यधर्मी**
१. स्वभावभावोपगत	१ अद्विसत्त्व
२. शुद्ध और अविकृत	२ अतिभावक
३. लोकवार्ताक्रियोपेत	३ अतिवाक्यक्रियोपेत
४. अगलीलाविवर्जित	४ लीलागहाराभिनय
५. स्वभावाभिनयोपेत	५ स्वरालकारसयुक्त
६ नानास्त्रीपुरुषाश्रय	६ अस्वस्थपुरुषाश्रय

नाट्य में कवि तथा नट दोनो का 'व्यापार' रहता है। भावों का अनुकीर्तन करने के लिए कवि लौकिक प्रवृत्तियो का दर्शन कथावस्तु के द्वारा कराता है। उस कथावस्तु का मूल रूप लोक में प्रसिद्ध किसी घटना या व्यवहार का होता है। इसी को उपर्युक्त लक्षण मे 'लोकवार्ता क्रियोपेत' कहा है। लोकवार्ता का अर्थ है लोक-प्रसिद्धि और क्रिया का अर्थ है घटना या व्यवहार। यही लोकधर्म है। नाट्य की कथावस्तु का जितना अश ऐसी लोकवार्ताक्रिया से युक्त होता है उतना नाट्याश लोकधर्मी है। किन्तु कवि मूल घटना को उसी रूप में प्रस्तुत नही करता। अपनी कल्पना से वह उसका कुछ विस्तार करता है या उसमें कुछ परिवर्तन करता है। ऐसे नाट्याश को भरत ने 'अतिवाक्यक्रियोपेत' कहा है। नाट्य का यह कल्पित अश 'नाट्यधर्मी' है। उदाहरणस्वरूप रामकथापर रचित नाटक लिए जा सकते है। राम वनवास गये अयोध्या से, वे भी कैकेयी और दशरथ के वचनानुसार। मूल रामायण की कथा के अनुसार इसमें रावण का कोई हाथ न था। किन्तु भवभूति ने महावीरचरित मे मूल कथा में परिवर्तन किया है। उसने दर्शाया है कि रामचद्र जी का नाश करने की रावण ही की इच्छा थी और इस कारण रामचद्रजी को किसी बहाने वह दण्डकारण्य में लाना चाहता था। इस लिए उसने शूर्पणखा को ही मथरा के वेष में रामचद्रजी के निकट भेजा। रामचद्रजी का विवाह हाल ही में सपन्न हुआ था और वे अबतक मिथिला ही में थे। शूर्पणखा रामचद्रजी से मिथिला मे ही मिली और कैकेयी के सदेश के बहाने रामचद्रजी को बन में जाने को कहा। उसके अनुसार रामचद्रजी बन में गये। यहाँ 'कैकेयी के वचन के अनुसार रामचद्रजी वन में जाते है' इतना नाट्याश 'लोकवार्ताक्रियोपेत' होने से 'लोकधर्मी' है। किन्तु भवभूति ने उसकी पृष्ठभूमि के रूप में दी हुई काल्पनिक कारणपरम्परा 'अतिवाक्यक्रियोपेत' होने से 'नाट्यधर्मी' है। रसिको को अनुभव होगा कि यह परिवर्तन रस की दृष्टि से उचित है क्यों कि इस नाटक में प्रधान वीररस का परिपोष करने के लिए नाट्यधर्म के अनुसार किया गया है। कवि जिस प्रकार कथावस्तु में परिवर्तन करता है उसी प्रकार अगर नाट्यधर्म के लिए आवश्यक

हो तो, कई बार वह पात्रो की मूल चित्तवृत्ति में भी परिवर्तन करता है। लोकप्रवृत्ति के अनुसार कई लोगो के स्वभाव का एक निश्चित ढाँचा-सा बना रहता है। पात्र अगर ऐतिहासिक हो तो उनकी चित्तवृत्ति पहले से ही लोगों को ज्ञात रहती है। कवि ने इन चित्तवृत्तियो को अगर मूल के अनुसार या लोकप्रवृत्ति के अनुसार दर्शाया हो तो वह चित्तवृत्ति अथवा भाव 'स्वभावभावोपगत', 'अविकृत' और 'शुद्ध' होता है। इस लिए यह अश 'लोकधर्मी' है। किन्तु इसमें भी कवि नाटचधर्म के अनुसार, सौदर्य लाने के लिए अनेकश परिवर्तन करता है एव अपनी कल्पना से पात्र के मूल स्वभाव को भी कुछ बदल देता है। यह नाटचाश नाटचधर्मी है। इस का उदाहरण अभिनवगुप्त ने 'तापसवत्सराज' नाटक में विदूषक का दिया है। सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार विदूषक उतावला होता है, कोई भी कार्य वह ठीक तरह से नही कर पाता, कोई बात उसके मन में नही रह सकती। किन्तु 'तापसवत्सराज' में विदूषक समयपर मन्त्री के समान गम्भीर एव मन्त्रगुप्ति रखने वाला दिखाया है। यह नाटचधर्म के अनुसार किया हुआ परिवर्तन है। ऐतिहासिक उदाहरण भास के दो नाटक 'दूतवाक्य' तथा 'ऊरुभग' के लिए जा सकते है। दोनों नाटको में दुर्योधन का पात्र है। 'दूतवाक्य' में दुर्योधन महाभारत के दुर्योधन के सदृश ही है। उसकी स्वभावरेखा 'स्वभावभाषोपगत', 'शुद्ध' एव 'अविकृत' है। यह नाटचाश लोकधर्मी है। किन्तु ऊरुभग में भास ने दुर्योधन में इतना परिवर्तन किया है कि प्रतीत होता है वह उद्धत स्वभाव छोडकर धीरोदात्त बन गया हो। यहाँ दुर्योधन का पात्र 'अतिसत्त्व' तथा 'अतिभावक' होने से नाटचधर्मी है।

कवि के व्यापार में लोकधर्मी और नाटचधर्मी का स्वरूप हमने देखा। नट के व्यापार में भी यह धर्म होते है। उनका स्वरूप अब हम देखेंगे।

अभिनय के द्वारा भावो की अभिव्यक्ति करना नटव्यापार है। इस व्यापार में भावो की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक अनुभावादि के अभिनय लौकिक वृत्तिप्रवृत्तियो से सवादी रहना आवश्यक है। इस प्रकार नटव्यापार का लोक की वृत्तिप्रवृत्तियो से सवादी अश नटगत लोकधर्मी है। इससे अतिरिक्त केवल शोभाकारक अभिनयांश नटगत नाटचधर्मी है। भरतमुनि का कथन है कि नटगत लोकधर्मी अगलीलाविवर्जित, स्वभावाभिनयसे युक्त एव नानास्त्रीपुरुषाश्रय होती है। और नटगत नाटचधर्मी लीलागहारो से युक्त नाटचलक्षणो से लक्षित तथा अस्वस्थ पुरुषाश्रित होती है। यहाँ, नानास्त्रीपुरुषाश्रित अर्थात् विविध स्त्रीपुरुषो की स्वभावत. (बिना अभ्यास के)होनेवाली चेष्टाएँ या हरकते तथा अस्वस्थपुरुषाश्रित अर्थात् पुरुष ने अभ्यास के द्वारा प्राप्त किये हुए नारी के व्यापार या नारी

ने अभ्यास के द्वारा प्राप्त किये हुए पुरुष के व्यापार इस प्रकार अभिनवगुप्त ने अर्थ दिये हुए हैं। आज की भाषा में, स्त्रियो के काम स्त्रियो ने तथा पुरुषो के काम पुरुषो ने करना यह है नटगत लोकधर्मी एव स्त्रियो के काम पुरुषो ने या पुरुषो के काम स्त्रियो ने करना यह है नटगत नाटचधर्मी।

नाटचधर्मी ने नाटच का बहुत बड़ा प्रान्त व्याप्त किया है। कल्पना की सहाय्यता से नाटच में जो कुछ दर्शाया जाता है एव जिसका ग्रहण किया जाता है- सभी का नाटचधर्मी में अन्तर्भाव होता है। आत्मगत भाषण नाटचधर्मी होता है। नाटच में जो 'आत्मगत' भाषण समझा जाता है वह वास्तव में पास के अन्य अभिनेता एव दर्शक भी सुनते है। किन्तु बोलनेवाला व्यक्ति वह मन ही मन में बोला इसको दर्शक, अभिनेता एव कवि सभी स्वीकार करते हैं। यह नाटचधर्मी है। मूल वस्तु को और भी आकर्षक एव शोभाकारी करने के लिए रगमचपर जो भी कुछ दिखाया जाता है वह सब नाटचधर्मी है। रगमच पर अभिनेता के अभिनय को दी हुई सगीत की साथ, नट की चारी एवम् ध्रुवा लोक में कभी पाई नही जाती। किन्तु नाटच में यही बाते अपूर्व सौन्दर्य का निर्माण करती है। यह सब नाटचधर्मी है। केवल इतना ही नही, तो नाटच के मूल भाव तथा अवस्थाओ को सौदर्यमय एव परिणाम-कारी रूप में अभिव्यक्त करने के हेतु रगमच पर किया गया सब ही व्यापार नाटचधर्मी है। इसीपर ध्यान देकर भरतमुनि ने कहा है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदु.खक्रियात्मक.।
सोऽङ्गाभिनयसंयुक्तो नाटचधर्मी प्रकीर्तिता ॥" (ना. शा १६।८१)

सुखदु खक्रियात्मक लोकस्वभाव जब सगीत आदि अग तथा अभिनय से सयुक्त होता है तब वह नाटचधर्मी ही होती है। नाटचधर्मी का यह व्यापक अर्थ बतलाकर मुनि भरत कहते है—

नाटचधर्मीप्रवृत्त हि सदा नाटच प्रयोजयेत्।
न ह्यगाभिनयात् किंचित् ऋते रागः प्रवर्तते॥
सर्वस्य सहजो भाव सर्वोह्यभिनयोऽर्थतः।
अड्गालकार चेष्टा तु नाटचधर्मी प्रकीर्तित ॥(ना शा १३।८४,८५)

"नाटचप्रयोग नित्य नाटचधर्मी से युक्त होना चाहिये। क्यों कि सिवा गीत आदि अगो के तथा अभिनय के राग अर्थात् रसिको की प्रीति या आनद निर्माण नही हो सकता। भाव तो सभी में स्वभावत रहता है (इस लिए वह लोकधर्मी है)। नाटच में अभिनय, अर्थ के अर्थात् इस अभिनेय भाव के अनुगुण होता है, इस लिए चेष्टा, गुण, लक्षण इत्यादि अंग तथा उपमा आदि अलकार, ये सब व्यापार

नाटचधर्मी ही है।" इसपर अभिनवगुप्त कहते है—"कविगत हो या नटगत हो, वागगालकाररूप नाटचधर्मी कलाकृति का प्राण ही होती है। यह नाटचधर्मी रूप अभिनय किसी अर्थ की अपेक्षा से होता है, तथा वह अर्थ उस अभिनय से अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्त होनेवाला अर्थ भावरूप होता है एव सब में सहजरूप में रहता है। इस लिए यह सहज भावरूप अर्थ लोकधर्मी है। यह लोकधर्मी नाटच-धर्मी का आधार होती है एव उन दोनो में सवादित्व होता है। (७)"

नाटचधर्मी अर्थात् अभिनयप्रकारों का औचित्य

लोकधर्मी तथा नाटचधर्मी के सबन्धपर ध्यान देने के बाद अब हम जरा पीछ मुड़कर देखें। भरत ने नाटच का लक्षण इस प्रकार किया है—

> योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदु खसमिन्वितः।
> अङ्गाद्यभिनयोपेतो नाटचमित्याभिधीयते ॥ (१।११९)

और नाटचधर्मी का लक्षण इस प्रकार किया है—

> योऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु.खक्रियात्मक.।
> सोऽगाभिनयसयुक्तो नाटचधर्मी प्रकीर्तिता.॥ (१३।८१)

इन दोनो लक्षणो का एकत्र विचार करने से नाटच और नाटचधर्मी में आन्तरिक सम्बन्ध विस्पष्ट हो जाता है। सुखदु खात्मक लोकस्वभाव लोकधर्म है। यह लोकधर्म अभिनय से उपेत होना अर्थात् रसिकहृदय में सक्रान्त होना ही नाटच है। यह अभिनय लोकस्वभाव से सयुक्त अर्थात् औचित्य से युक्त होना नाटचधर्म है। नाटचधर्म में कल्पना का प्रपच होने पर भी नाटचधर्म केवल नटसकेत नही है। वह "सभाव्यमान होकर रंजन तथा वस्तु के लिए उपयोगी" होना चाहिये ऐसा अभिनव-गुप्त का कथन है (भा २ पृ २१६)। इस प्रकार का नाटचधर्म ही सौदर्यशाली व्यापार है।" नाटचधर्मीप्रवृत्त हि सदा नाटचं प्रयोजयेत्।" ऐसा मुनि भरत ने क्यों कहा है यह अब विस्पष्ट हो जायगा। अभिनव गुप्त ने तो नाटचधर्मी को 'सर्वाभिनय-प्रकारसारा' ही कहा है तथा नाटचधर्मित्व लोकस्वभाव का नाटचगत विधान है ऐसा भी स्पष्टरूप में कहा है (८)।

---

७. यस्मात् कविगता नटगता वागंगालंकारनिष्ठा नाट्यधर्मीरूपा सर्वप्राणवती अर्थत. इति अर्थमपेक्ष्य प्रवर्तते, तस्मात् सर्वस्य संबधी सहजो भावो लोकधर्मलक्षण उक्तो भित्तिस्थानी-यत्वेन नाट्यधर्म्याः सहजसंवादिकर्मणः। अंगं वर्तनारूपं गुणलक्षणानि च, अलंकारचेष्टा अलंकाराः उपमादयश्च ॥ (अ. भा. भाग २, पृ. २१८)

८. लोकस्वभावस्य अनुभावविलासोपेतत्वविधायकस्य नाट्यधर्मित्वं विधानम्। (अ. भा. भाग २, पृ. २१५)

लोकधर्मी लोकसिद्ध होती है तो नाटयधर्मी कविनिर्मित या नटनिर्मित रहती है। अभिनय भी एक दृष्टि से नाटयधर्मी ही है क्यों कि दर्शको के हृदय में भावो का सक्रमण करने के लिए नट ने निर्माण किया हुआ वह एक साधन है। भिन्न भिन्न अर्थो को पहुँचानेवाला शरीर आदि का व्यापार ही अभिनय है (९)। अभिनय से आज हम शरीर के हाव, भाव आदि ही समझते हैं। किन्तु भरत ने किया हुआ अभिनय का अर्थ इससे कही अधिक व्यापक है। उनके मन्तव्य के अनुसार सीन सीनरी, वेष, शरीर की चेष्टाएँ, बोलने का प्रकार, स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भाव इन सभी का अभिनय में अन्तर्भाव होता है। इस व्यापक अर्थ में ही अभिनय नाटयधर्मी है।

नाटयस्थित नाटयधर्मी अर्थात् काव्यस्थित वक्रोक्ति

नाटय की लोकधर्मी तथा नाटयधर्मी काव्य में स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति के रूप में परिणत हुई। अभिनवगुप्त कहते हैं—"नाटय के लोकधर्मी एवं नाटयधर्मी के स्थानपर काव्य में स्वभावोक्ति एव वक्रोक्ति के दो प्रकार आते हैं तथा उनके द्वारा प्रसन्न, मधुर और ओजस्वी शब्दो के योग से अलौकिक विभाव आदि समर्पित होते हैं और नाटय के अनुसार काव्य में भी रस की अभिव्यक्ति होती है (१०)।" नाटयस्थित वर्तना आदि नाटयांगो का एव नाटयालकार चेष्टाओं का कार्य काव्य में गुण, लक्षण एव उपमा आदि अलकारों के द्वारा सपन्न होता है। लोकधर्मी का स्वभावोक्ति से तथा नाटयधर्मी का वक्रोक्ति से सबन्ध किस प्रकार है इस विषय में विवेचन उत्तरार्ध में किया जावेगा।

नाटय के विविध अलंकार

सुखदुखात्मक लोकस्वभाव का दर्शन अभिनय के द्वारा कराना ही नाटय है। लोकस्वभाव में मानव के भावों एव अवस्थाओ का अन्तर्भाव होता है। इनमें से भाव अभिव्यक्त ही होते हैं। वे शब्दवाच्य भी नही होते अथवा उनकी अनुकृति भी नही हो सकती। किन्तु अवस्थाओ की अनुकृति हो सकती है। नाटय तो

---

९. नाट्यशास्त्र में अभिनयलक्षण इस प्रकार है—
अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुरभिमुख्यार्थनिर्णये ।
यस्मात् प्रयोग नयति तस्मादभिनयः स्मृत ॥
विभावयति यस्मात् च नानार्थान् हि प्रयोगत ।
शाखांगोपाङ्गसंयुक्त तस्मादभिनयः स्मृत ॥ (ना. शा. ८।७, ८)

१० काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगात् इयमेव रसवार्ता ॥

अवस्थानुकृति ही है। (अवस्थानुकृतिर्नाटचम् — दशरूप)। यह अनुकृति अभिनय के द्वारा होती है। अभिनय के चार भेद होते है — आहार्य, आगिक, वाचिक तथा सात्त्विक। आहार्य में सीन–सीनरी, वेषभूषा, अलकार आदि का अन्तर्भाव होता है। आगिक अभिनय में शरीर के अगो के व्यापार अन्तर्भूत है। वाचिक अभिनय में नाटक की भाषा, वह बोलने की पद्धति, उच्चनीच स्वर आदि समिलित है। एव सात्त्विक अभिनय में स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावो के दर्शन के प्रकार आते है।। यह चारो प्रकार के अभिनय स्वतन्त्रतया उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत होते है एव उनमें सवादित्व रहता है तब नाटच सफल होता है। इनके औचित्यपूर्ण परस्पर सामजस्य पर ही नाटच की मफलता अवलबित रहती है। इनमें से हर एक प्रकार पूर्णरूप से प्रकट होना एवम् उसमें सौदर्य का आविर्भाव होना— इसीको नाटचशास्त्र में '**अलंकार**' की सज्ञा है।

नाटच में सर्वप्रथम आहार्य अभिनय ठीक प्रकार से सिद्ध होना चाहिये। आहार्य अभिनय का अर्थ है नेपथ्य। नेपथ्य में वेष तथा सीनसीनरी दोनो का अन्तर्भाव होता है। नटो की रगभूषा एव रंगमच की सजावट इतनी अच्छी बननी चाहिये कि उनके प्रस्तुत होते ही दर्शको की स्थल, काल, आदि की सवेदना विगलित होकर वह प्रस्तुत किये हुए प्रसंग से समरस हो जाना चाहिये। आहार्य अभिनय की इस पूर्णता को '**नाटचालंकार**' अथवा '**नेपथ्यालंकार**' की सज्ञा दी गई है (२१।२-५)। नाटच में दूसरा महत्त्व का अश है वाणी, अग तथा सत्त्व का अभिनय। यह अभिनय रस के औचित्य से सिद्ध होने पर जो सौदर्य निर्माण होता है उसे '**नाटचालंकार**' अथव '**सत्त्वालंकार**' की सज्ञा है (२२।३-४)। उत्तर काल में काव्यचर्चा में इस '**सत्त्वालंकार**' की हाव, भाव, हेला, माधुर्य, कान्ति आदि के रूप में विवेचना की गई है। इनके अतिरिक्त भरत ने पाठचालंकार और वर्णालकार भी बताये हैं। भाषण करने में स्वरों की उच्चनीचता, धीरे से या त्वरा से बोलना आदि का औचित्य भी नाटच में रखना पडता है। यह औचित्य ही '**पाठचालंकार**' है (१७-१)। गायन के आरोह-अवरोह, स्थायी-सचारी स्वर आदि का सौदर्य ही '**वर्णालंकार**' है (२९–१७)। इस प्रकार नाटच में रगसज्जा (सीन्स्), वेष, आगिक अभिनय, पाठच सगीत इन सभी का अपना सौदर्य सिद्ध होना चाहिये। किन्तु इसके साथ मूल नाटचकृति भी सुदर होनी चाहिये। नाटच कृति के सौदर्य को नाटचशास्त्र में '**काव्यालंकार**' कहा है। नाटचकृति में कवि ने निर्माण किया हुआ सौदर्य एवं अभिनय में नट ने निर्माण किया हुआ सौदर्य इन दोनो के ठीक

---

११. यदा सर्वे समुदिता एकीभूता भवन्ति हि।
अलङ्कारः स तु तदा मन्तव्यो नाटकाश्रयः॥ (ना. शा. २७:९२)

सामजस्य मे सम्पूर्ण प्रयोग का सौदर्य प्रतीत होता है। यही नाटचसिद्धि है। भरत न नाटचसिद्धि की विवेचना के लिए एक पूरा अध्याय लिखा है। नाटचसिद्धि की पूर्णता ही 'प्रयोगालकार' है (११)।

भरतकृत काव्यालंकार तथा काव्यलक्षण

वाचिक अभिनय के सबन्ध में, नाटचशास्त्र में काव्यालकारो का विचार किया गया है। काव्य के लिए इन चारो की अत्यत आवश्यकता है—वह निर्दोष होना चाहिये। श्लेष, प्रसाद आदि गुणो से युक्त होना चाहिये। उपमा आदि अलकारो से मडित होना चाहिये। और सब से महत्त्वपूर्ण बात है वह लक्षणो से युक्त होना चाहिये। भरतमुनि ने कहा है—'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिशल्लक्षणान्विता.।' नाटचशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक इन चार अलकारो का निर्देश है। दश काव्यगुण तथा दश काव्यदोष बताए गए है। ये सर्वपरिचित है। इनके अतिरिक्त भरत ने ३६, काव्यलक्षण दिये है। वे उतने प्रसिद्ध नही है। इस लिए काव्यलक्षण क्या है यह देखना आवश्यक है।

नाटचशास्त्र में काव्यलक्षणों का काव्यालंकारों मे परिवर्तन

नाटचशास्त्र में काव्यलक्षणो की परिभाषा नही है। केवल ३६ लक्षणो की तालिका (१२) एवम् उनके स्वरूप का वर्णन है। भरत के बाद जो काव्यचर्चा हुई उसमें काव्यलक्षणो का विवेचन प्राय मिलता नही। भोज, शारदातनय और विश्वनाथ ने ये लक्षण दिये है। किन्तु उन्होने वे केवल नाटच के आनुषगिक रूप में दिये है। जयदेव ने चन्द्रालोक में उनका निर्देश किया है किन्तु अन्य साहित्य-मीमासको ने उनका निर्देश तक नही किया। धनजय का 'दशरूप' ग्रन्थ नाटच पर

---

१२. नाट्यशास्त्र में लक्षणों की दो तालिकाएँ मिलती हैं · एक उपजाति वृत्त में है और दूसरी अनुष्टुभ् छन्द में। इन दोनों में थोडा भेद है। उपजाति तालिका के लक्षण (ना शा. अ. १६) निम्न प्रकार के हैं —

१ विभूषण	१०. अतिशय	१९. याञ्चा	२८. क्षमा
२. अक्षरसघात	११. हेतु	२०. प्रतिषेध	२९ प्राप्ति
३. शोभा	१२. सारूप्य	२१. पृच्छा	३० पश्चात्ताप
४. अभिमान	१३. मिथ्याध्यवसाय	२२. दृष्टान्त	३१. अनुवृत्ति
५. गुणकीर्तन	१४. सिद्धि	२३. निर्भासन	३२ उपपत्ति
६. प्रोत्साहन	१५. पदोच्चय	२४. संशय	३३ युक्ति
७. उदाहरण	१६. आक्रंद	२५. आशी	३४. कार्य
८. निरुक्त	१७ मनोरथ	२६. प्रियोक्ति	३५. अनुनीति
९. गुणानुवाद	१८ आख्यान	२७. कपट	३६. परिदेवन

ही लिखा है। किन्तु उसमें भी लक्षणो पर विवेचना नही। धनजय तथा उसका टीकाकार धनिक दोनो का कथन है कि ये लक्षण उपमा आदि अलकारो में तथा भावो में अन्तर्भूत हुए है (१३)। अभिनवगुप्त के अपने समय में भी काव्यविवेचना की जो भिन्न भिन्न पद्धतियाँ थी उनमें लक्षणपद्धति थी नही। वे कहते है—

"भरत ने ठीक कहा था कि काव्यबन्ध ३६ लक्षणो से युक्त रहना चाहिये। किन्तु गुण, अलकार, रीति, वृत्ति आदि काव्यपद्धतियाँ जिस प्रकार प्रसिद्ध है उस प्रकार लक्षण नही है।" (१४) तब भरत के समय में जिनका महत्त्व माना गया था उन लक्षणो का आगे चलकर लोप कैसे हुआ? धनिक के कथन के अनुसार उनका भाव तथा अलकारो में परिगणन हुआ यह स्वीकार करनेपर भी यह प्रश्न शेष रहता है कि उनका परिगणन अलंकारो में तथा भावो में कैसे हुआ इसका कुछ पता लगता हो तो देखें।

भरत ने लक्षण तथा अलकारो को परस्परभिन्न माना है। पर काव्यशोभा-करत्व का धर्म दोनो के लिए सामान्य है। उन्होने उपमा आदि को अलकार कहा है और लक्षणो को काव्यविभूषण कहा है (१५)। किन्तु दोनो से भी सौदर्यधर्म का ही अभिप्राय है यह बात स्पष्ट है।

नाटचशास्त्र में छत्तीस लक्षण और चार अलकार है, एव काव्य के अलकारों की चर्चा में लगभग चालीस अलकार दिये है, लेकिन लक्षण एक भी दिया नही। इसकी एक उपपत्ति यह हो सकती है कि भामह के समय तक लक्षणों का अलंकारो में पर्यवसान हो गया हो। लगभग भामह के काल में दण्डी हुआ। 'काव्यादर्श' में उसने स्पष्टरूप में लिखा है—

यच्च सध्यगवृत्यंगलक्षणान्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलकारतयैव नः॥ (काव्यादर्श, २।३६६)

"अन्य शास्त्र में (नाटचशास्त्र मे) जो सध्यंग, वृत्त्यंग, लक्षण आदि वर्णित है वे भी हमें अलकार के रूप में स्वीकार है।" दडी के समय में अलकारो का विकल्पन चल ही रहा था। दण्डी कहता है—"अलकार का अर्थ है काव्यशोभाकर धर्म। अलकारो का विकल्पन अभी चल ही रहा है। उनकी गणना कौन कर सकता है?

---

१३. दशरूप ४।८४ तथा उसपर वृत्ति देखिए।

१४. काव्यबन्धाः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः कर्तव्याः इत्युक्तम्। तत्र गुणालंकारादिरीतिवृत्तयश्च काव्येषु प्रसिद्धो मार्गः। लक्षणानि तु न प्रसिद्धानि॥

१५. एतानि वा काव्यभूषणानि।
प्रोक्तानि वै भूषणसंमितानि॥ (१६।४१)

किन्तु पूर्व आचार्यों ने अलकारो के विकल्पन का बीज पहले ही कहा हुआ है। उसी को परिष्कृत करने का यह हमारा प्रयास है (१६)।" इससे विस्पष्ट होता है कि दण्डी तथा भामह के समय से पूर्व ही अलकार विकल्पन का सूत्र साहित्यकारो को ज्ञात हो गया था।

तर्क होता है कि अलकारो के विकल्पन का बीज लक्षणो के स्वरूप में पूर्व से ही उपस्थित था। लक्षणो के विषय में अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत का यह मत दिया है—" लक्षणो के सयोग से अलकारो में वैचित्र्य आता है। उदाहरणार्थ—गुणानुवाद नामक लक्षण से उपमा का योग होने से प्रशसोपमा होती है। अतिशय नामक लक्षण से सम्बन्ध होनेपर अतिशयोक्ति होती है। मनोरथ लक्षण से सयोग होने पर अप्रस्तुत प्रशसा होती है। मिथ्याध्यवसाय लक्षण के योग से अपह्नुति होती है और सिद्धि लक्षण के सम्बन्ध से तुल्ययोगिता होती है। इसी प्रकार अन्य अलकारो के बीज का अनुसधान करना चाहिये (१७)।" भट्टतौत के इस मत पर ध्यान देने से लक्षणो का शनैः शनैः अलंकारो मे परिवर्तन कैसे हुआ यह स्पष्ट होने लगता है।

अलकारो के विकल्पन में अथवा अलकारों में वैचित्र्य लाने में पूर्व आचार्यो ने लक्षणो का उपयोग किस प्रकार किया होगा यह दण्डी के "अलकार चक्रों" से भी विशद होता है। इस दृष्टि से दण्डी के अलकारचक्र और लक्षणो में तुलना करना इष्ट होगा किन्तु स्थलाभाव के कारण वह यहाँ नही दी जा सकती।

साहित्यशास्त्र के विकास में, लक्षणो का अलकारों में परिवर्तन होना एक अत्यत महत्त्वपूर्ण अवस्था है। भरत से भामह तक के ग्रन्थकारों का विचार करने में यह अत्यत उपयोगी है। नाटचशास्त्र से मुक्त हो कर जब काव्यचर्चा स्वतन्त्र रूप में प्रवृत्त हुई उस समय 'अर्थक्रियोपेत' नाटचकाव्य जिस प्रकार 'शब्दार्थमय' हुआ, उसी प्रकार 'लक्षणान्वित' काव्यबन्ध सालकार होने लगा। भरत का 'काव्य-लक्षण' "काव्यालकार' के नाम से प्रतिष्ठित हुआ और उसी नाम से अपने स्वतन्त्र मार्ग पर आगे बढा। इन नई घटनाओं में नाटचशास्त्र के जिन बातों का उपयोग

---

१६. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव परिसस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः॥ (२।१,२)

१७. उपाध्यायमत तु—लक्षणबलात् अलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथाहि—गुणानुवाद-नाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशसोपमा। अतिशयनाम्ना अतिशयोक्तिः। मनोरथाख्येन अप्रस्तुत-प्रशसा। मिथ्याध्यवसायेन अपह्नुति। सिद्धया तुल्ययोगिता। इत्येवमुत्प्रेक्ष्यम्।

किया गया उन सभी का अन्तर्भाव अलकारो में होने लगा। इस प्रकार नई रचना करने में, शास्त्र के 'काव्यलक्षरण' सज्ञा के स्थान पर 'काव्यालकार' सज्ञा का प्रयोग होना आश्चर्य की बात नही है।

कई काव्यलक्षरण निरुक्त तथा मीमासा में पाये जाते है

भरत ने भी ये काव्यलक्षरण कहाँ से प्राप्त किये? नाटचशास्त्र के भरत से पूर्व रचे गये ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। इस हेतु नाटचशास्त्र में यह लक्षरण कहाँ से आये इस बात का निश्चय नही हो सकता। किन्तु लक्षरणो का सामान्य उद्गम स्थान कहाँ होगा इस विषय में कुछ तर्क किया जा सकता है और इस उद्गम का अन्वेषरण इष्ट भी है। इससे लक्षरणो की और अलकारो की कल्पना तो स्पष्ट होगी ही, पर भामह की 'वक्रोक्ति' पर भी प्रकाश पडेगा।

भरत ने नाटचशास्त्र में उपमा, रूपक और दीपक ये तीन अर्थालकार दिये है। उनमे से उपमा और रूपक की परम्परा तो मिलती है। उपमा एक अति प्राचीन अलकार है। यास्काचार्य के निरुक्त में उसका उल्लेख है (१८) किन्तु 'निरुक्त' में रूपक का उल्लेख नही है। निरुक्त से विदित नही होता कि उपमा से भिन्न अलकार के रूप में रूपक की कल्पना यास्क को थी। उनकी दृष्टि में रूपक लुप्तोपमा ही था (१९)। पारिणनि के 'अष्टाध्यायी' में उपमान, उपमित, सामान्यवचन आदि शब्द मिलते है। (२।१।५५, ५६)। किन्तु रूपक का स्वतन्त्र रूप में निर्देश नही है। बादरायरण के 'वेदान्तसूत्रो' में उपमा और रूपक दोनो का स्पष्ट रूप में निर्देश है (२०)। इससे यह कहने में कोई आपत्ति नही हो सकती कि ब्रह्मसूत्रो के समय में रूपक की स्वतन्त्र रूप से कल्पना की गई थी। इसके अनन्तर नाटचशास्त्र में इसका निर्देश पाया जाता है।

निरुक्त तथा वेदान्तसूत्रो में पाये जानेवाले उपमा तथा रूपक के बीज विकसित होते होते भरत तक आ पहुँचे इस प्रकार का मत सब विद्वानो ने एक स्वर से व्यक्त किया है। इन्ही विद्वानों के मान्य मत की भूमिका पर आरूढ होकर अधिक निरीक्षरण

---

१८. अथात उपमा। यदेतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासा कर्म ज्यायसा वा गुणेन व प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायांसम् (निरुक्त ३।१३)

१९ लुप्तोपमानि अर्थोपमानि इत्याचक्षते। (निरुक्त ३।१८)

२०. अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्। (ब्र. सू ३।२।१८)
आनुमानिकमप्येकेषां शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः दर्शयति च। (ब्र. सू. १-४-१)

करने पर विदित होता है कि नाटचशास्त्र के लक्षणो की परम्परा भी निरुक्त तथा पूर्वमीमासा सूत्रो में ही है। निरुक्त के एक खण्ड में यास्क ने इस प्रकार कहा है—

"ऋग्वेद के सभी मत्र एक प्रकार के नही है। कई मन्त्र परोक्षकृत है, कई प्रत्यक्षकृत है और कुछ थोडे आध्यात्मिक भी है। कई मन्त्रो में केवल स्तुति ही पाई जाती है, आशीर्वाद नही होता, और कई मन्त्रो मे केवल आशीर्वाद ही रहता है स्तुति नही। यह बात अध्वर्यु के एव यज्ञविषयक मन्त्रो में विशेष रूप में पाई जाती है। कई मन्त्रो में ऋषि शपथ करते दिखाई देते है, और कई स्थानो में अभिशाप मिलते हैं। किसी स्थान में किसी तत्त्व का या परिस्थिति का कथन किया हुआ मिलता है। एव कई ऋचाओ में परिदेवन अर्थात् विलाप किया हुआ मिलता है; और प्रसगवश मन्त्रो में निन्दा अथवा प्रशसा भी पाई जाती है। इस प्रकार, ऋषियो की मन्त्रदृष्टि अनेकानेक अभिप्रायों से युक्त पाई जाती है (२१)।" यास्काचार्य ने इन सब के उदाहरण दिये हुए है।

नानाविध अभिप्रायो को व्यक्त करने के ऋषियो के, ऋग्वेद में पाये जानेवाले कतिपय प्रकार यास्क ने उपर्युक्त उद्धरण में दिये है। इनमें से कई प्रकार नाटचशास्त्र के लक्षणो से मिलते जुलते है। नाटचशास्त्र के आक्रन्द, आख्यान, आशी., प्रियोक्ति तथा परिदेवन ये लक्षण तथा निरुक्त के अभिशाप, आचिख्यासा, आशीः, प्रशंसा तथा परिदेवना यह प्रकार सजातीय ही है। इसके अतिरिक्त, निरुक्त यह शास्त्रनाम भी नाटचशास्त्र में स्वतन्त्र रूप में लक्षण बन चुका है।

जैमिनि की पूर्व मीमांसा एक और शास्त्र है जिस में वेदो के वाक्यो का अर्थ किया गया है। मीमासा सूत्रों के दूसरे अध्याय के प्रथम पाद में ऐसे सूत्र है जिनमें जैमिनि ने मन्त्रो तथा ब्राह्मणो का स्वरूप कथन किया हुआ है। उनपर लिखे हुए भाष्य में शबरस्वामी ने पूर्व आचार्यो की कतिपय लक्षणकारिकाएँ दी है। मन्त्रो में कही आशी, कही स्तुति, कही सख्या, कही प्रलपित, कही परिदेवन, कही प्रैष और कही कही अन्वेषण, पृष्ट, आख्यान, अनुषग, प्रयोग, अभिधान (सामर्थ्य) आदि पाये जाते है। उसी प्रकार हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, सशय, विधि, परकृति, पुराकल्प, व्यवधारणकल्पना तथा उपमान यह ब्राह्मण ग्रन्थो के दश लक्षण है ऐसा उन

---

२१. परोक्षाकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मंत्राः भूयिष्ठा। अल्पशः आध्यात्मिका। अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वाद.।. अथापि आशीरेव न स्तुतिः।.. तदेतत् बहुल आध्वर्येव याज्ञेषु च मंत्रेषु। अथापि शपथाभिशापौ।.. अथापि कस्यचिद् भावस्य आचिख्यासा।.. अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात्।. अथापि निन्दाप्रशंसे।.. एवमुच्चावच्चैरभिप्रायै. ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति। (निरुक्त ७।१।३)

कारिकाओ में कहा गया है (२२)। मीमासको ने दिये हुए मन्त्र ब्राह्मणो के अर्थात् वेदो के इन लक्षणो की नाटयशास्त्र के काव्यलक्षण से तुलना करने पर उनमे बहुत कुछ साम्य दिखाई देता है। कतिपय लक्षण तो सही सही एक ही है।

निरुक्तकार यास्क का कथन है कि मन्त्र-द्रष्टा ऋषियो ने मन्त्रो मे अपने उच्चावच अभिप्राय व्यक्त किये हुए है। जिन वैदिक वाक्यो में ऋषियो के यह अभिप्राय व्यक्त हुए उन वाक्यो के लक्षण मीमासको ने वर्गीकृत किये है। वैदिक वाङ्मय हमारा प्राचीनतम प्रधान वाङ्मय है। उस वाङ्मय का अर्थ करने के लिए एव उसका स्वरूप निर्धारित करने के लिए निरुक्त तथा मीमासा इन शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई। इस यत्न मे उन्हे स्तुति, निन्दा, आशी, हेतु, आख्यान, आक्रन्द, परिदेवन, सशय, व्यवधारण आदि लक्षण प्राप्त हुए।

लौकिक वाङ्मय जैसा बनता गया, उसके भी स्वरूप का विचार होने लगा। ऋषि जिस प्रकार अपने उच्चावच अभिप्राय मन्त्रो में व्यक्त करते थे उसी प्रकार कवियो ने भी अपने विविध अभिप्राय काव्य में व्यक्त किये थे। कवियो के काव्य का अर्थ करने में एवम् उसके स्वरूप का निरीक्षण करने में जो अभ्यासक प्रवृत्त हुए थे वे भी विद्वान् थे। मीमासा आदि शास्त्रो से उनका भी परिचय था ही। वे जब लौकिक काव्य का स्वरूप निर्धारित करने के लिए प्रवृत्त हुए और कवियो ने अपने अभिप्राय किस प्रकार व्यक्त किये है यह देखने लगे तब वैदिक ऋषियो के तथा इन कवियों के अभिप्राय व्यक्त करने की शैली में अनेक स्थानो में उन्होने समानता पाई। काव्य की शैली का स्वरूप विशद करने में पूर्णरूप से नई परिभाषा का उन्होने उपयोग किया नही, बल्कि पूर्व से ही रूढ परिभाषा का उन्होने उपयोग किया। ठीक ही है। "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वत व्रजेत् ?" वैदिक लक्षण बने बनाये थे ही। उन्हीका लौकिक काव्य के विश्लेषण में उन्होने उपयोग किया। इस प्रकार निरुक्त तथा मीमांसा में निर्देशित वैदिक काव्यलक्षणो का काव्यचर्चा में अन्तर्भाव होकर उनसे काव्यलक्षण सिद्ध हुए।

---

२२. ऋषयोऽपि पदार्थाना नान्त यान्ति पृथक्त्वश.।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥
वृत्तौ लक्षणमेतेषामस्यन्तत्वन्तरूपता।
आशिष स्तुतिसख्ये च प्रलप्तं परिदेवितम् ॥
प्रैषान्वेषणपृष्टाख्यानानुषगप्रयोगिता:।
सामर्थ्यं चेति मंत्राणां विस्तरः प्रायिको मतः ॥ (तंत्रवार्तिक : मंत्रलक्षणाधिकरण)
हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा सशया विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैवेते विधयो ब्राह्मणस्य तु।
एतत् स्यात् सर्वं वेदेषु नियत विधिलक्षणम्। (तंत्रवार्तिक : ब्राह्मणलक्षणाधिकरण)

निरुक्त तथा मीमासा में निर्दिष्ट मन्त्रब्राह्मणो के लक्षणो की और नाटचशास्त्र में कथित काव्यलक्षणो की परस्पर समानतापर ध्यान् देने से एव काव्यविवेचक पद-वाक्य-प्रमाण आदि शास्त्रो से परिचित रहते थे इस तथ्य पर दृष्टि डालने से उपर्युक्त तर्क करने में कोई बाधा नही होनी चाहिये। भारतीय काव्यविवेचना में शास्त्रीय कल्पनाओ का एव परिभाषा का अनुपद उपयोग किया गया है। अनुमान, परिसख्या, हेतु, काव्यलिग आदि अलकार शास्त्रीय कल्पनाओ पर आधारित है यह सर्वप्रसिद्ध है। इन अलकारो की मूल कल्पनाएँ शास्त्र में है। किन्तु इन कल्पनाओ की सहायता से कवि ने काव्य में वैचित्र्य निष्पादित करने पर उनका काव्यशास्त्र में अलकार के रूप में सनिवेश हुआ। सभव है कि ठीक इसी प्रकार लक्षणो का भी शास्त्र से काव्य में प्रवेश हुआ। निरुक्त में उपमा पर विवेचन मिलता है, पूर्व मीमासा में उपमान पाया जाता है और वेदान्तसूत्रों में उपमान तथा रूपक उपलब्ध होते है। फिर काव्य के लक्षण अगर निरुक्त और मीमासा में मिले तो आश्चर्य ही क्या है? और इसमें खूबी यह है कि इन सब की मीमासा में 'लक्षण' ही की सज्ञा है। उपमान भी एक लक्षण ही है। अन्य शास्त्रो के लक्षणो को इस प्रकार एक बाँर काव्यशास्त्र में प्रवेश मिलने पर अन्य अनेक विषयो से अनेक बाते उसमें समिलित होना स्वाभाविक था। जहाँ कही भाषण, लेखन आदि के प्रकारो के विषय में कुछ विधान होगा, सभव है कि काव्यशास्त्र ने वही से उसे उठा लिया हो। कौटिलीय अर्थशास्त्र के ३१ वे अध्याय में किये हुए विवेचन में और नाटचशास्त्र के कतिपय लक्षणो में जो समानता है वह इस दृष्टि से महत्त्व रखती है। ग्रन्थविस्तार की आशका से उनकी तुलना यहाँ नही की जा सकती।

नाटचशास्त्र के काव्य लक्षणो का सबन्ध निरुक्त तथा मीमासा के वैदिक लक्षणो से किस प्रकार हो सकता है इस विषय में जो अनुमान पूर्व प्रतिपादन किया है उससे लक्षणो का इतिहास प्रकाशित तो होता है ही, और भी एक साहित्यसमस्या हल करने में उसकी सहाय्यता होती है। काव्यलक्षणो का स्वरूप क्या हो सकता है इस विषय मे अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में भिन्न भिन्न दश मत उद्धृत किये है। उनमें से एक मत यह है—'कवेरभिप्रायविशेषो लक्षणम्।' इस सबन्ध में डॉ. राघवन् ने कहा है कि यह मत केवल काल्पनिक है और भरत के नाटचशास्त्र से इसका तनिक भी सबन्ध नही है (२३)। किन्तु हमारा किया हुआ अनुमान ठीक हो तो कह

२३. डॉ. राघवन् ने 'History of Lakshana' नाम से एक अच्छा लेख लिखा है। उसमें वे कहते है—"We are unable to have much light as regards the fifth view on which we have a brief remark. It says, केचित् ब्रुवते कवेरभिप्रायविशेषो लक्षणमिति. The curious and purely speculative views, the connection of which with भरत's own view we do not see at all are the views No 4.. and No. 5 which takes लक्षण to be अभिप्रायविशेष—"

सकते है कि यह मत निरुक्त के अभ्यासक साहित्यरसिक का होगा और फिर इसमें केवल काल्पनिकता का कोई अश नही रहता ।

काव्य का रसिक अगर अन्य शास्त्रो से परिचित रहा तो उसके शास्त्रपरिचय का परिणाम उसकी काव्यचर्चा पर होता है । सस्कृत ग्रन्थो में की गई काव्यचर्चा में इसका पग पग पर प्रमाण मिलता है । लक्षणो के सबन्ध में उद्धृत किये हुए अनेक मतो में अभिनवगुप्त ने एक मत यह दिया है—" इतरेषा तु मत यथा तन्त्र-प्रसगबाधातिदेशादि मीमासाप्रसिद्ध वाक्यविशेषव्यवच्छेदलक्षणम्, तथा काव्य-विशेषव्यवच्छेदक भूषणादिलक्षणजातम् । " मीमासा से दृष्टान्त देकर काव्यलक्षणो का स्वरूप कथन करनेवाला यह अज्ञात शास्त्रज्ञ मीमासा से परिचित होगा यह समझने में कोई कठिनाई नही हो सकती । इसी तरह, साहित्य के जिस रसिक ने निरुक्त में निर्देशित वैदिक लक्षणो से वैदिक ऋषियो के उच्चावच अभिप्रायो की कल्पना की उसने काव्य के लक्षणो की उत्पत्ति कवि के अभिप्रायविशेष से मान ली तो आश्चर्य की बात नही है । निरुक्त में कहा है कि वैदिक मन्त्रो में कवियो के उच्चावच अभिप्राय है और मीमासा में निन्दा, स्तुति, आशी., प्रशसा आदि अभिप्रायो को ' लक्षण ' की सज्ञा है । इसका अर्थ यह होता है कि वैदिक मन्त्रों में कवियो के उच्चावच अभिप्राय व्यक्त होते है यह शास्त्रकारो का मत विस्पष्ट है । तब यही लक्षण अगर काव्यचर्चा में लिए गए तो उनसे कवि के अभिप्रायविशेष व्यक्त होने में क्या आपत्ति हो सकती है ?

निरुक्त तथा मीमासा इन शास्त्रो से काव्यचर्चा में लक्षण लिए गए । वैदिक वाङ्मय और लौकिक वाङ्मय जिस प्रकार सर्वथा भिन्न है ठीक वैसे ही उनकी विवेचना के शास्त्र भी भिन्न है इस भूमिका से यह विवेचन हुआ । किन्तु वेदही—विशेष रूप में ऋग्वेद तथा आथर्वणवेद—एक काव्यसग्रह है इस बात को अगर मान लिया गया (२४), तो कहा जा सकता है कि उसके अर्थ की विवेचना के शास्त्र में, स्थूल रूप में क्यो न हो, काव्यचर्चा हुई है । और इस प्रकार की चर्चा निरुक्त तथा मीमासा में उपलब्ध है भी । निरुक्त के उपमाविषयक परिच्छेद तथा मीमासा के लक्षण-विषयक विचार, दोनो काव्यचर्चा के अग हो सकते है । मीमांसा का अर्थवादप्रकरण तो स्पष्टरूप में काव्यचर्चा ही का एक अग है । वेद के परोक्षकृत मन्त्रो के नाम से जिन मन्त्रो का निरुक्तकार निर्देश करते है वही मन्त्र मीमासक अर्थवादप्रकरण में लेते हैं । यास्क के निर्दिष्ट परोक्षकृत मन्त्र और काव्य की वक्रोक्ति इन दोनो में तत्त्वत: कोई भेद नही है । और " नासत्यमस्ति किचन काव्ये स्तुत्यर्थमर्थवादोऽयम् । " इस

---

२४. ऋग्वेद एक काव्यसग्रह है यह अन्यत्र दर्शाया है। देखें–' युगवाणी ', (मराठी) जनवरी, १९५१

प्रकार काव्य की कल्पित वस्तु एव अर्थवाद दोनों में शास्त्रकारों ने ही मेल करा दिया है।

भरतमुनिकृत लक्षणो का सामान्य स्वरूप अब हम देख सकते है। जहाँ तक हो सकें अभिनवगुप्त के ही शब्दो में हम इसे समझ लेगे। ३६ काव्यलक्षणों का संग्रह देने के पश्चात् भरत ने अन्त में कहा है—

षट्त्रिशदेतानि तु लक्षणानि।
प्रोक्तानि वै भूषणसमितानि॥
काव्येषु **भावार्थगतानि** तज्ज्ञै.।
सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु॥ (ना शा. १६।४२)

यहाँ 'भावार्थगतानि' पद के विवरण में अभिनवगुप्त कहते है—" यथारस ये भावा. विभावानुभावव्यभिचारिण, तेषा योऽर्थ. स्थायीभावरसीकरणात्मक प्रयोजनान्तरम्, गतानि प्राप्तानि। यत्-अभिधाव्यापारोपसक्रान्ता, उद्यानादयोऽर्था. तद्रसविशेष-विभावादिभाव प्रतिपद्यन्ते, तानि लक्षणानि इति सामान्यलक्षणम्। अत एव काव्ये सम्यक् प्रयोज्यानि इति तेषा विषय उक्त।" (अ. भा. भाग, २, पृ. २९८)।

" लक्षण भावार्थगत है। भाव का अर्थ है तत्तद् रस के लिए उचित विभाव, अनुभाव और सचारी भाव। अर्थ यानी प्रयोजन। यह प्रयोजन है स्थायी भावो का रसीकरण। काव्य में वर्णित विषय लौकिक ही होते है। किन्तु ये उद्यान आदि लौकिक विषय भी जिसके कारण विभावत्व आदि में सक्रात होते हुए रसत्व को प्राप्त होते है वह है लक्षण।" लौकिक व्यवहार में उद्यान आदि पदार्थ भावो के कारण होते है। किन्तु काव्य में अभिधाव्यापार के कारण उनका स्वरूप पूर्णरूपेण परि-वर्तित हो जाता है तथा वही पदार्थ रसोचित विभाव के नाते उपस्थित होते है। लौकिक पदार्थ रसोचित विभावो में जिससे परिणत होते है वह कवि का अभिधा-व्यापार ही लक्षणों का बीज है। इसी हेतु भरतमुनि ने कहा है कि लक्षणो का यथा-रस अर्थात् रस के लिए उचित रूप में उपयोग करना चाहिये। साराश, लौकिक पदार्थो की रस के लिए उचित रूप में जिससे योजना होती है वह कवि का अभिधा-व्यापार ही लक्षणो का सामान्य लक्षण है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए अभिनवगुप्त भट्टनायक का प्रमाण उपस्थित करते है—

भट्टनायकेनाऽपि अत एव...अभिधाव्यापारप्रधानं काव्यम् इत्युक्तम्—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदु.।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥

भट्टनायक की समति में भी 'व्यापारप्राधान्य' ही काव्य की विशेषता है। वे कहते हैं, "शास्त्र भिन्न वाङ्मय है; जिसमें शब्दप्राधान्य का ही आश्रय किया जाता है। जिसमें अर्थ का ही प्राधान्य होता है वह वाङ्मय आख्यान (इतिहास-पुराण) है। इसके विपरीत, वाङ्मय के उस भेद को जिसमें शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव रहता है और व्यापार का ही प्राधान्य रहता है—काव्य की सज्ञा दी जाती है।" साराश, कवि का अभिधाव्यापार ही काव्यलक्षण है।

यह अभिधाव्यापार कवि की उक्ति में रहता है। कवि का उक्तिविशेष ही काव्य की विशेषता है। शास्त्र एवं काव्य दोनो में शब्द तथा अर्थ तो समान ही रहते हैं। किन्तु उन्ही शब्दार्थो को कवि अपने काव्य में ऐसे औचित्यपूर्ण रीति से प्रयुक्त करता है कि वे ही शब्दार्थ रसवृत्ति में पर्यवसित होते है। यही कविव्यापार है। वक्रोक्ति भी इसीका एक पर्याय है। अभिनवगुप्त ने कहा है—"बन्धो, गुम्फ, भणिति वक्रोक्ति, कविव्यापार., इति हि पर्यायात् लक्षण तु अलकारशून्यमपि न निरर्थकम्।"

"वक्रोक्ति" शब्द से भामह का भी कविव्यापार से ही अभिप्राय है। अभिनवगुप्त ने कहा है—"भामहेनापि—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते' इत्यादि। तेन च परमार्थे कविव्यापार एव लक्षणम्।" भामह का कथन है कि वक्रोक्ति से अर्थ का विभावन होता है। कविव्यापार ही अर्थ के विभावन का एकमात्र मार्ग है। अर्थ यह कि, वक्रोक्ति सज्ञा से भामह को कविव्यापार ही अपेक्षित है।

रसोचित अथवा रसानुगुण शब्दार्थरचना ही इस कविव्यापार का स्वरूप है। इसी तथ्य को आनन्दवर्धन 'ध्वन्यालोक' में इन शब्दो मे कहते हैं—

> वाच्याना वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
> रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्य महाकवेः॥ (३।३२)

रसो को तथा भावो को ही काव्यार्थ के नाते मुख्यत्व देकर उनके लिए उचित शब्दार्थों का उपनिबन्धन ही कविव्यापार है। इसीको मम्मट ने—"शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसागभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यम्—लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म—" कहा है। यही काव्यलक्षण का सामान्य लक्षण है। अभिनवगुप्त कहते हैं—"चित्तवृत्त्यात्मक रस लक्षयन् तद्रसोचितविभावादिसपादक. त्रिविधोऽभिधाव्यापारो लक्षणशब्देन उच्यते।" (अ. भा. भाग २, पृ. २९७)।

इस प्रकार भरतमुनि का लक्षण एव भामह की वक्रोक्ति, दोनों भी कवि के अभिधाव्यापार के ही द्योतक है। नाटचशास्त्र के लक्षणों के स्थान पर काव्यचर्चा के स्वतन्त्र युग में 'वक्रोक्ति' किस प्रकार आ चुकी यह अब विदित होगा। किन्तु

नाट्य के लक्षणो के स्थान पर वक्रोक्ति आई इतना ही इसका अर्थ नही है। नाट्य के लक्षणो का कार्य है अर्थो का विभावन। वह कार्य काव्य में वक्रोक्ति ने सम्पन्न करना आरम्भ किया। वक्रोक्ति का यह विभावन कार्य भामह ने 'अनयाऽर्थो विभाव्यते' इस प्रकार स्पष्ट रूप में बताया है। लक्षणो से अलकारो में वैचित्र्य सिद्ध होता है यह भट्टतौत का कहना है। 'कोऽलकारोऽनया विना' यह भामह का कथन है। काव्यबन्ध लक्षणयुक्त रहना चाहिये 'यह भरतमुनि का कथन है और भामह कहते हैं—' यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः।' साराश, लक्षणो का स्वरूप, प्रयोजन, एव परिणाम इन सब का सक्षेप भामह ने अपने वक्रोक्ति के विषय में लिखे हुए प्रसिद्ध कारिका में किया हुआ है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविभि. कार्यो कोऽलकारोऽनया विना ॥ (२।८५)

वेदार्थविवेचन में नैरुक्त तथा मीमासकों को प्राप्त वैदिक लक्षणो का लौकिक काव्य में प्रयोग होने पर वे नाटचशास्त्र के काव्यलक्षण बन गए। इन काव्यलक्षणो के ही काव्यचर्चा के स्वतन्त्र युग में काव्यालकार हुए, यह इतिहास हम अगले अध्याय में देखेंगे।

अध्याय तीसरा

काव्यचर्चा का स्वतंत्र संसार

लक्षण और अलंकार : कुछ उदाहरण

नाट्यशास्त्र में की गई काव्यचर्चा नाट्य की आनुषगिक है, परन्तु भामह आदि की की हुई काव्यचर्चा स्वतत्र है। काव्यचर्चा के स्वतन्त्र होने में, उसके अन्तर्गत जो बहुविध घटनाएँ घटी उनमें लक्षणो का अलकारों में परिवर्तित होना सबसे बडी एव महत्त्वपूर्ण घटना है। इस घटना का पूरा इतिहास आज ज्ञात नही है। किन्तु ऐसे प्रमाण निश्चय ही दिये जा सकते है जिनसे इस बात की स्थूल रूप में कल्पना हो सके। नाट्यशास्त्र में लक्षणो के सग्रह की दो तालिकाएँ है, एक उपजाति वृत्त में ग्रथित है और दूसरी अनुष्टुप् छन्द में। अभिनवगुप्त को दोनो तालिकाएँ ज्ञात थी। उनमें से, गुरुपरपरा से प्राप्त उपजाति (छद) वृत्त में ग्रथित तालिका को उन्होंने मूल माना है तथा उसपर लिखी टीका में अनुष्टुप् तालिका का स्थान स्थान पर निर्देश किया है। दोनो तालिकाओं में से हर एक में छत्तीस छत्तीस ही लक्षण है। किन्तु सभी लक्षण दोनों में समान नहीं। केवल १७ लक्षण दोनों तालिकाओ में समान है, और १९ लक्षण भिन्न भिन्न है। इस प्रकार दोनो तालिकाओं में कुल मिलाकर कुल लक्षणो का योग (१७+१९+१९) –कुल ५५ होता है। इन में से कुछ लक्षण उदाहरण रूप लेकर उनके अलंकार किस प्रकार हुए यह देखें—

१. **शोभा** नामक लक्षण का स्वरूप यह है—

> सिद्धैरर्थैः समं कृत्वा ह्यसिद्धोऽर्थः प्रयुज्यते।
> यत्र श्लक्ष्णविचित्रार्था सा **शोभे**त्यभिधीयते॥

शोभा लक्षण का यह स्वरूप '**तुल्ययोगिता**' अलंकार से मिलता है।

२ **निरुक्त** लक्षण—

निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तानुप्रसिद्धये।
यदुच्यते तु वचन **निरुक्तं** तदुदाहृतम्॥

इसमें **अर्थान्तरन्यास** का बीज है।

३. **सदेह** लक्षण—

अपरिज्ञाततत्त्वार्थ वाक्य यत्र समाप्यते।
अनेकत्वाद्विचाराणा स **सशय** इति स्मृतः॥

यह तो '**ससंदेह**' अलकार का ही लक्षण (परिभाषा) हो सकता है।

४. **दृष्ट** लक्षण—

यथादेश यथाकाल यथारूप च वर्ण्यते।
यत्प्रत्यक्षं परोक्ष वा दृष्ट तत् वर्णतोऽपि वा॥

यह '**स्वभावोक्ति**' है।

५. **गुणातिपात और गर्हण** लक्षण—

गुणाभिधानैर्विविधै विपरीतार्थयोजितै.।
गुणातिपातो मधुरो निष्ठुरार्थो भवेदथ॥
यत्र संकीर्तयन् दोष गुणमर्थेन योजयेत्।
गुणातिपाताद् दोषाद् वा **गर्हणं** नाम तद्भवेत्॥

यह दोनों लक्षण मिलाकर '**व्याजस्तुति**' अलकार होता है।

६. **मनोरथ** लक्षण—

हृदयार्थस्य वाक्यस्य गूढार्थस्य विभावकम्।
अन्यापदेशै. कथनं **मनोरथ** इति स्मृत॥

यह '**अप्रस्तुतप्रशंसा**' हो सकती है एव अभिप्राय व्यक्त करने के लिए आकार अथवा इंगित का उपयोग करने से '**सूक्ष्म**' अलकार हो सकता है।

७. **प्रतिबोध** लक्षण—

कार्येषु विपरीतेषु यदि किंचित् प्रवर्तते।
निवार्यते च कार्यज्ञै. प्रतिषेध प्रकीर्तित॥

उपर्युक्त '**मनोरथ**' लक्षण और यह '**प्रतिबोध**' मिलाकर '**आक्षेप**' अलकार होता है (१)।

---

१. लक्षणाना च परस्परवैचित्र्यात् अपि अनन्तो विचित्रभाव। यथा मनोरथप्रतिषेधयोः संमेलनात् आक्षेपः। (अ. भा. भाग २, पृ. ३२१)

में ग्रावर्तमान द्वितीय वर्ण, ग्रथवा द्वितीय पद पूर्ववर्णों के पद के नाद में शोभा लाता है इस हेतु वह ग्रलंकार है। इसी प्रकार ग्रर्थगुण है—ग्रर्थ में रस की ग्रभिव्यक्ति की सामर्थ्य होना। परतु जब एक ग्रर्थ उदा० चन्द्र दूसरे ग्रर्थ की उदा० मुख की शोभा बढाता है तब वह ग्रलकार होता है। इन सब का ग्रधिष्ठानभूत त्रिविध ग्रभिधा-व्यापार 'लक्षरण' का विषय है। ग्रर्थात्—'मैं ग्रमुक वस्तु, इन शब्दो में, इस पद्धति से, इस ग्राशय से ग्रमुक चित्तवृत्ति निर्माण होने के लिए कहूँगा।' इस प्रेरणा से कवि काव्यरचना के लिए प्रवृत्त होता है। तथा उस प्रेरणा के ग्रनुसार रसयुक्त काव्य निर्माण करता है। उस समय चित्तवृत्ति रूप रस को लक्ष्य कर के ही वह उस उस रस के लिए उचित विभाव ग्रादि से वैचित्र्य निर्माण करता है। इस वैचित्र्य के सपादन में उसका, ग्रभिधेय, ग्रभिधान ग्रौर ग्रभिधा के रूप में सवेदित त्रिविध ग्रभिधाव्यापार ही 'लक्षरण' सज्ञा से बताया जाता है।" ऐसा ग्रभिनव-गुप्त का कथन है (३)।

इसका सार यह है—गुण तथा ग्रलकार शब्दार्थ से सबद्ध है। किन्तु लक्षरण पूर्णरूपेण कविव्यापार से संलग्न है। कवि के प्रयत्न से काव्य में शब्दार्थो के द्वारा वैचित्र्य ग्राता है। जिस प्रयत्न से यह होता है वह समूचा प्रयत्न ही लक्षरण है। इसी लिए काव्य को 'कवि कर्म' कहा गया है। ग्रभिनवगुप्त ने उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट किया है। पुष्टत्व एक गुण है। परतु यह गुण यदि स्तनो में हों तो वह स्तनो का लक्षरण है ग्रौर यदि वह कटिप्रदेश में हो तो वह कटिप्रदेश का कुलक्षरण हो जाता है। इसी तरह, किसी एक प्रकार से कही जानेवाली वस्तु, उसी पदार्थक्रम से रसोचित विभाव के रूप में प्रकट हुई तो वह लक्षरण होता है। ग्रन्यथा वह कुलक्षरण होता है। इसी हेतु गुण एवं ग्रलकार लक्षरणसमुदाय से भिन्न हैं (४)।

---

३. इह काव्यार्था: रसाः इत्युक्तं प्राक्। उक्तं च वर्णनीयं, शब्दनीयं, कवेः कर्म, इति। व्युत्पत्तित्रयं काव्यमिति। अनेन अभिधेयम्, अभिधानम्, अभिधां च स्वीकृत्य अवस्थीयते अपि च शब्दव्यापारः अभिधातृव्यापारः, प्रतिपाद्यव्यापारश्च इति त्रिगतः। तत्र शब्दस्य रसा-भिव्यक्तिक्षमार्थप्रतिपादकत्वं, स्वयं च श्रोत्र संक्रांतिमात्रनांतरिकतया तद्रसदर्शनयोग्यतापादन-सामर्थ्यात् शब्दगुणवाच्यम्। आवर्तमानो द्वितीयो वर्णः पदं वा प्राक्तनवर्णनादशोभाहेतुः अलंकारः। एवम् अर्थस्यापि यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्वं सोऽर्थगुणः। यस्तु वस्त्वन्तरं वदनस्येव चन्द्रः, सोऽलंकारः। यस्तु त्रिविधोऽपि अभिधाव्यापारः स लक्षणाना विषयः।

तथाहि—इदम् अनेन शब्देन, अनया इतिकर्तव्यतया, अमुना आशयेन, इत्थं बुद्धिजननाय ब्रुवे, इति कविः प्रयतते। स तथाभूतं रसवत् काव्यं विधत्ते। तत्र चित्तवृत्त्यात्मकं रसं लक्षयन् तद्रसोचितविभावात् वैचित्र्यसंपादकः त्रिविधोऽभिधाव्यापारः लक्षणशब्देन उच्यते।

४. यथा पीवरत्वं स्तनयोर्लक्षणं मध्यस्य च कुलक्षणम्, एवं किंचिदभिधीयमानं केनचिद्रूपेण रसोचितविभावादिरूपेण तमेव पदार्थक्रमं लक्षयत् लक्षणम्, अन्यत्र कुलक्षणम्। तेन सर्वे अलंकारा गुणा. (च) तत्समुदायात् विलक्षणा भवन्ति।

इस दृष्टि से लक्षण की ओर देखें तो लक्षण औचित्य के निकट आ जाता है। कवि के काव्य में शब्द, अर्थ, गुण तथा अलकार इन सब की जो संघटना होती है उससे काव्यलक्षण निर्धारित होता है। इस प्रकार काव्य में औचित्य का निर्माण ही लक्षण का प्रयोजन सिद्ध होता है। अभिनवगुप्त भी लक्षण के विषय में, "परमौचित्यख्यापने प्रयोजनम्।" कहते है। इस दृष्टि से लक्षण अलकारो का अनुग्राहक है इसमें तनिक भी सदेह नही रहता।

इस प्रकार कवि-व्यापार के बल से लौकिक वस्तु भी अलौकिक स्वभाव से काव्य में प्रकट होना यही लक्षण है (५)। यह लक्षण ही शब्दार्थमय काव्यशरीर है। इस शरीर के सौदर्य में वृद्धि जिनसे होती है वह है अलकार। जिस प्रकार पृथग्भूत हार से रमणी विभूषित होती है ठीक उसी प्रकार पृथक् सिद्ध चन्द्र आदि उपमानो से वनितावदन आदि का सौदर्य बढ कर प्रतीत होता है। किन्तु वर्णनीय वनितावदन आदि में इस प्रकार सौदर्य की वृद्धि होने का काव्य में एकमात्र कारण कवि की प्रतिभा ही है। रमणी का मुख और चन्द्र, दोनो लौकिक वस्तुएँ है तथा वे पृथक् सिद्ध है। यह लौकिक सृष्टि हुई। किन्तु कवि की प्रतिभा उनमें सादृश्य देखती है। इससे वे दोनो वस्तुएँ परिवर्तित होती है और प्रतिभा के द्वारा प्रकाशित होने के हेतु एक अनोखे सबन्ध से (उपमानोपमेयसबध) उपस्थित होती है तथा विशेष रूप में सुदर प्रतीत होती है (६)। यही कवि की अलौकिक सृष्टि है।

इसी लिए, बिना लक्षणो का आश्रय किये हुए, अलकारों को काव्य में स्थान नही है। लक्षण का अर्थ है कविव्यापार तथा कविव्यापार है कविप्रतिभा का शब्दार्थमय आविर्भाव। अलकारो की ओर केवल सरसरी दृष्टि से देखने पर उनमे सादृश्य, अभेद, अध्यवसाय, विरोध आदि लौकिक व्यवहार के ही संबन्ध दिखाई देते है। परन्तु यह अलकारों का केवल बाह्य कवच या ढाँचा है। यह ढाँचा अलकार नही हो सकता। यदि ऐसा होता तो 'गौरिव गवयः।' यह उपमा हो जाती और 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह ससदेह हो जाता। किन्तु यह काव्यालकार नही हो सकते। यह तो केवल लौकिक सबन्ध है। और इन लौकिक सबन्धो के रूप में जब अधिष्ठानभूत कविव्यापार या लक्षण प्रतीत होता है तभी उसे अल-

---

५. ध्यान रहें कि काव्यस्थित विभावादिक अलौकिक होते हैं।

६. एवं कविव्यापारबलात् यदर्थजातं लौकिकात् स्वभावात् विद्यमानं तदेव लक्षणमित्युक्तम्। तस्य शरीरकल्पस्य अलंकारा अधुना वक्तव्याः। . काव्ये तावल्लक्षणं शरीरम्। .. यथाहि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते, तथा उपमानेन शशिना, तत्सदृशेन वा कविबुद्धिसामर्थ्येन परिवर्तमानत्वात् पृथक् सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुदरीक्रियते इति तदेव अलंकारः।

कारत्व प्राप्त होता है। इसी हेतु, अभिनवगुप्त का स्पष्ट रूप में कथन है कि, "काव्य-बन्धेषु काव्यलक्षणेषु सत्सु' यह शर्त प्रत्येक अलकार में मूलत. गृहीत है (७)।' यही शर्त उत्तरकालीन ग्रन्थकारो ने 'वैचित्र्ये सति' इस रूप में निर्देशित की है।

इस विभाग की आवश्यकता

भरत ने काव्य का लक्षण–गुण–अलकार इस प्रकार विभाग किया और हर विभाग का पृथक् विचार किया। परन्तु, 'इस प्रकार विचार करना वास्तव में असभव है, कवि की उक्ति अखण्ड तथा एकघनस्वरूप होती है तथा कवि का या रसिक का अनुभव भी एक घनस्वरूप होता है' इस प्रकार आशका उठा कर अभि-नवगुप्त ने उसका समाधान किया है। वे कहते है— "पुरुष के बारे में उसके लक्षण, गुण, अलकार आदि व्यवहार जैसे किया जा सकता, उस प्रकार काव्य के विषय में उसके लक्षण, गुण, अलकार आदि व्यवहार किया नही जा सकता। पुरुष के सम्बन्ध में शरीर और चैतन्य में भेद स्पष्ट है। एव कटक आदि अलकार उन दोनो से भी भिन्न है यह भी स्पष्ट है। किन्तु काव्य के रचना के समय या काव्य के आस्वादन के समय इन लक्षण आदि की स्वतन्त्र रूप में प्रतीति नही होती। दण्डी ने काव्यशोभाकर धर्मों को अलकार कहा है और प्रसाद आदि शोभाकर धर्मो को गुण कहा है। इसका अर्थ यही होता है कि दण्डी की समति में गुणालकार विभाग भी उपपन्न नही हो सकता।" इस प्रकार आक्षेप उपस्थित करते हुए अभिनव गुप्त समाधान करते है कि, "यह तो ठीक है। फिर भी कवि का काव्य-रचनासामर्थ्य अथवा रसिक का काव्यविवेचनासामर्थ्य ठीक प्रकार से समझने के लिए, इस प्रकार का कुछ न कुछ विभाग, चाहे काल्पनिक भी क्यो न हो—स्वीकार करना आवश्यक ही है (८)।"

परिणतप्रज्ञ कवि जिस समय काव्यरचना या नाटचरचना करता है उस समय उसके काव्यव्यापार में कोई विशिष्ट क्रम होता ही है सो बात नही। यह

---

७. काव्यबंधेषु–काव्यलक्षणेषु सत्सु, इत्यनेन 'गौरिव गवयः' इति नायमलंकारः। (अ भा २।३२२)। 'ध्वन्यालोकलोचन' भी देखिए।

८. कि च पुरुषस्येव काव्यस्य लक्षणगुणालंकारव्यवहारो न युक्तः पुरुषस्य शरीरचैतन्यभेदात् कटकादीनां ततोऽपि भेदात्। काव्यस्य पुनः विरचनकाले प्रतिपत्तिकाले वा प्रापकसत्तायां तेषामगणितत्वाच्च। दण्डिनापि 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' इति ब्रुवता गुणमध्य एव च तत्र प्रसादादीनभिदधता च गुणालंकारविभागोऽप्यसंभवी इति सूचित भवति। सत्यमेतत्, किन्तु विरचनविवेचनसामर्थ्यसमर्थनाय अवश्यं काल्पनिकोऽपि विभाग आश्रयणीयः। (अ भा. २।२९)

निर्माण किया हुआ लक्षण है, यह प्रसाद है, यह ओजोगुण है, यह अलकार है इस प्रकार कवि को प्रतीति होती नही यह तो ठीक है। किन्तु जब हम उसकी कृति का अपोद्धार (विश्लेषण) करते है उस समय हमें किसी न किसी क्रम की कल्पना तो करनी ही पड़ती है। कम से कम, महाकवित्व का आदर्श रखनेवाले कविशिष्यों के समक्ष इस प्रकार का क्रम तो अवश्य ही प्रस्तुत करना पड़ता है। "जिन्हे महाकवि की योग्यता प्राप्त करना हो उन्हे वे महाकवि किस मार्ग से गये यह बिना देखे काव्यसमृद्धि की सीढ़ी चढ जाना असभव है।" यो कहकर अभिनवगुप्त कहते है, "शास्त्रदृष्ट क्रम का उल्लघन होने से अनेक नाटककारो की बडी बड़ी गलतियाँ हुई दिखाई देती है। सभी कवि तो वाल्मीकि, व्यास, कालिदास या भट्टेन्दुराज नही होते। और इन कवियों में भी जो प्रतिभा का प्रकर्ष देखा जाता है वह भी पूर्वजन्म में किये हुए क्रमाभ्यास से उदित पाटव से ही प्राप्त हुआ हो (९)।"

लक्षणों के अलंकार कैसे हुए—

आज जो अलकार माने जाते है उनमें लक्षण समाविष्ट हुए यह कहने में अभिप्राय यह है कि नाटचशास्त्र के लक्षण उत्तरकालीन काव्यचर्चा में अलकारों के रूप में प्रकाशित हुए, और इसमें खूबी यह है कि इस बात का आरम्भ नाटचशास्त्र ही में हुआ दिखाई देता है। भरत ने स्वीकार किये हुए अर्थालकारो को थोडी सूक्ष्म दृष्टि से देखने से उनके कुछ विशेष ध्यान में आते है। भरत ने उपमा, रूपक तथा दीपक ये तीन अर्थालकार माने है। ये तीनो भेद औपम्यमूलक है। उपमान तथा उपमेय की स्फुट प्रतीति (उपमा), उनमें अभेद (रूपक) तथा अनेक पदार्थो को एकत्र लाने से ध्वनित होनेवाला सादृश्य (दीपक) इन्ही पर ये अलकार आधारित है (१०)। उपमा की परिभाषा देने के उपरान्त भरतमुनि ने उपमा के प्रशसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किंचित्सदृशी ये पॉच भेद किये है। इस प्रकार भेद करने में किसी भी विभाजनसिद्धान्त (Principle of Division) का आधार नहीं लिया गया। किन्तु इनमें से प्रशंसोपमा एवं निन्दोपमा के भेद निश्चय ही लक्षणकृत है। अभिनवगुप्त का कथन है कि इस प्रकार भेद करने का

---

९. महाकवीनां पदवीमुपात्तामारुरुक्षताम्।
नासंस्मृत्य पदस्पर्शान् संपत्सोपानपद्धतिः॥
क्रमोल्लंघने हि सति नाटकादि विरचयतां महान्तः प्रमादादपभ्रंशाः भवन्ति। नहि सर्वो वाल्मीकिर्व्यास. कालिदासो भट्टेन्दुराजो वा, तेषामपि प्रागृजन्मार्जितक्रमाभ्याससमुदितपाटवोत्पादितः.. ज्ञानातिशयः। (अ. भा. २।२९३)

१०. देखें : अ. भा. २।३२१

मूल कारण 'तद्गतशरीरभेद' है। एवं यह शरीरलक्षण ही है यह भी उन्होंने ही अनेकशः कहा है।

भरतकृत लक्षणालकारविभाग स्थूल रूप में है। भरत लक्षणो को 'काव्य-विभूषण' कहते है एव वे 'भूषणसमित' है ऐसा भी बताते है। उपमा के पाँच भेद करने के अनन्तर मुनि कहते है—

उपमाया बुधैरेते ज्ञेया भेदा· समासत ।
शेषा ये लक्षणेनोक्तास्ते ग्राह्या· काव्यलोकतः ।। (१६।५६)

'नाटचशास्त्र में किये गये भेदों से जो भिन्न दीखते हो ऐसे भेद लक्षणमुख से समझ लेने चाहिए' ऐसा इस श्लोक का अभिप्राय अभिनवगुप्त ने माना है। इस पर से विदित होता है कि 'निन्दोपमा' और 'प्रशसोपमा' के दो लक्षणकृत भेद भरत ने स्वय दिये और अन्य भेद लक्षणो पर से समझ लेने को कहा।

लक्षणमुख से अलकार भेद करने का सूत्र एकबार अवगत कर लेने के बाद अलकारप्रपच का विस्तार होने में क्या देर थी ? भरत ने स्वीकार किये हुए तीन अलकारो में ही छत्तीस लक्षणों का वैचित्र्य प्रतीत होने पर ही कितने अलकार होते है, और उनमें अन्यान्य अलकारछटाओं के मिश्रण से सैकडो और सहस्रो अलकारों की कल्पना की जा सकती है इसमें कोई सदेह नही (११)।

वास्तविकता यह है कि गुण और अलकारो में भेद दर्शाने के लिए भरत ने जो रेखा खीची है वह अत्यत सूक्ष्म है। उदाहरण के रूप में देखिए—भूषणनामक लक्षण का स्वरूप ही मूलतः गुणालकारो के उचित संनिवेश के रूप का है (१२), एव गुणानुवाद नामक लक्षण भी एक उपमा ही है (१३), यह बात अभिनव--गुप्त के भी ध्यान में आई हुई है। दण्डी प्रभृति आचार्यो ने किये हुए उपमाभेदों की ओर ध्यान देने से, उनमें भेदक अश लक्षण ही है यह स्पष्ट होगा (१४)। साराश,

---

११. इत्येवम् उपमारूपकादीनां अलंकारत्वेन वक्ष्यमाणानां प्रत्येकं षट्त्रिंशल्लक्षणयोगात्, लक्षणानामपि च एकद्वित्र्याद्यवान्तरविभागभेदात् आनन्त्यं केन गणयितुं शक्यम्, इदानीं शतसहस्राणि वैचित्र्याणि सहृदयैरुत्प्रेक्ष्यन्ताम्। (अ. भा. २।३१७)

१२. अलंकारैर्गुणैश्चैव बहुभिर्यदलंकृतम्।
भूषणैरेव विन्यस्तैस्तद् भूषणमिति स्मृतम्।।

१३. 'गुणानुवादो हीनानामुत्तमैरुपमाकृत.।' यह गुणानुवाद का स्वरूप है। अभिनव-गुप्त ने 'पालिता चौरिवेंद्रेण त्वया राजन् वसुंधरा।' यह पद्य उदाहरण के रूप में दिया है। यह गुणोत्कर्ष दर्शानेवाली उपमा ही है।

१४, ननु उपमेयमलंकारः।· किमतः ? उक्तं हि अलंकाराणां वैचित्र्यं लक्षणकृतमेव। अत एव दण्डिप्रभृतिभिः ये निरूपिता उपमाभेदाः, तत्र यो भेदकोऽशः आचिख्यासासंशयनिर्णया-दिरर्थः स तादृक् पृथगलंकारतया न गणितः।. (अ. भा.)

भरत से उत्तरवर्ती काल में किया गया अलंकारप्रपंच लक्षणकृत तो है ही, किन्तु उसका बीज भी नाट्यशास्त्र में है यह स्पष्ट है।

अलकारवैचित्र्य का बीज इस प्रकार नाट्यशास्त्र में ही मिलता है। उधर भामह-दण्डी के ग्रन्थो में देखा जाता है कि लक्षणो के ही अलकार बने। इसका अर्थ यह है कि भरत से लेकर भामह-दण्डी तक जो काल बीता उसमें अलकारों की रचना चलती रही हो। सभव है कि, काव्यचर्चा प्रधानत· लक्षणमुख से होती थी इस हेतु काव्यचर्चा के लिए 'काव्यलक्षण' सज्ञा का प्रयोग हुआ हो। नाटचशास्त्र में काव्यचर्चा नाटच की आनुषगिक है। उसमें स्वतन्त्र काव्यचर्चा के बीज है, फिर भी कुल चर्चा नाटचागभूत है इसमें कुछ सदेह नही। सभव है कि, स्वतन्त्र काव्यचर्चा का प्रारम्भ जिस समय हुआ होगा उस समय में नाटचशास्त्र के काव्यलक्षण, दोष, गुण, अलकार आदि प्रकरण पृथक् रूप में लेकर उसका उपयोग स्वतन्त्र रूप में काव्यविवेचन करने के लिए किया गया हो। जो रसिक यह चर्चा करते थे वेही 'काव्यलक्षणकारी' अथवा 'काव्यलक्षणविधायी' पडित है। सभव है कि इनके द्वारा की गई विवेचना में लक्षणकृत अलकारवैचित्र्य का स्वरूप और भी विशद होने लगा हो। भरत की निन्दोपमा एव प्रशसोपमा के समान नये शास्त्रकारो ने आचिख्यासोपमा, सशयोपमा, गुणोपमा आदि भेदो के स्वरूप विवेचित किये हो। इस प्रकार धीरे धीरे अलकारचक्र प्रवर्तित हुए। संभव है कि इन अलकारचक्रों से ही आगे चल कर अनेक स्वतन्त्र अलकार उदित हुए हो।

हमें स्वीकार है कि, हमने ऊपर जो परम्परा सूचित की है उसकी पुष्टि में आज जितने चाहिए उतने प्रमाण हम उपस्थित नही कर सकते। किन्तु इतने प्रमाण निश्चय ही दिये जा सकते है जिनसे कि यह स्वीकार हो सकें कि ऐसी परम्परा का होना संभवनीय है। दण्डी अपने 'काव्यादर्श' में अलकारचक्रो का विवेचन कर रहे है। इन अलंकारचक्रो में अनेक लक्षण समाविष्ट हुए है। कुछ लक्षणों को दण्डी स्वतन्त्ररूप में अलंकार भी मानते है। उपलब्ध ग्रन्थकारो में अलकार-चक्रो का विवेचन एक दण्डी मात्र करते है, परन्तु इस प्रकार के विवेचको की उनके पूर्व एक परम्परा है। दण्डी कहते है, "अलकारो का विकल्पन अभी चल ही रहा है, तो उनकी गणना कौन कर सकता है? किन्तु इस विकल्पन का बीज पूर्व आचार्यों-ने पहले ही दर्शित किया है। हम केवल उसका परिसस्कार मात्र करते हैं (१५)।

---

१५. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येंन वक्ष्यति ॥
किन्तु बीज विकल्पानां पूर्वाचार्यैं प्रदर्शितम्।
तदेव परिसस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रम। (काव्यादर्श २। १,२)

यहाँ दण्डी ने परम्परा का निर्देश किया है। अलकारचक्रो की कल्पना दण्डी की अपनी नही है। वह तो एक प्राचीन कल्पना है और उसका परिसस्कार करके दण्डी उसे और भी अच्छे रूप में उपस्थित कर रहे है।

भामह के ग्रन्थ में भी ऐसा ही आधार मिलता है। भामह के पहले कई आलकारिको ने निन्दोपमा, प्रशसोपमा और आचिख्यासोपमा इस प्रकार उपमा के तीन भेद किये थे। इस प्रकार विभाग करना भामह को स्वीकार नही है (१६)। यह उपमा भेद अलकारचक्रो के भेदो के समान ही प्रतीत होते है वे लक्षणवैचित्र्य पर ही आधारित है। इसका अर्थ यह होता है कि लक्षणवैचित्र्य पर आधारित अलकारचक्र भामह को भी ज्ञात थे। लक्षणवैचित्र्य से अलकारचक्र और अलकार-चक्र से स्वतन्त्र अलकार इस क्रम से कई लक्षणो के अलकार हुए और कतिपय लक्षण तो स्वतन्त्रतया 'अलकार' ही माने गये। हेतु, मनोरथ, लेश और आशी यह चार ऐसे लक्षण है। इनके अलकारत्व के विषय में आलकारिको में मतभिन्नता हुई। भट्टि का कहना है कि 'आशी' को अलकार माना जाय। किन्तु भामह उसे अलकार के रूप में स्वीकार करने के लिए राजी नही है। भामह-दण्डी के समय के पूर्व ही हेतु, मनोरथ (सूक्ष्म) और लेश इन लक्षणो को अलकारत्व प्राप्त हुआ था। परन्तु भामह उनका अलकारत्व स्वीकार नही करते और इधर दण्डी इन्हे उत्तम प्रकार के अलकार बताते है (१७)। इससे प्रतीत होता है कि लक्षणो से भिन्न भिन्न प्रकारो से अलकार बन रहे थे और इस तरह अलकारों के बनने में कई बार मतभिन्नता भी होती थी।

लक्षणों से अलकार बनने के इस काल में शास्त्रलेखन की भी एक विशिष्ट पद्धति थी। भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, तथा रुद्रट इन ग्रन्थकारो की लेखन की पद्धति एक ही है। पहले सग्रहकारिका देकर बाद में लक्षणकारिका देना यह सब की पद्धति है। इनमें से भामह की सग्रहकारिकाओं से कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते है। भामह ने कुल चालीस अलकारो का विचार किया है। किन्तु उन सब का सग्रह एक स्थान पर दिया नही। उनके छोटे विभाग किये है। वे इस प्रकार है :—

---

१६. यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः।
निंदाप्रशसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते।
सामान्यगुणनिर्देशात् त्रयमप्युदितं ननु ॥ (भामह २। ३७,३८)

१७. हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नाल्ंकारतया मतः। (भामह २। ८६)
हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च वाचामुत्तमभूषणम्। (दण्डी २। २३५)

१ कई ग्रन्थकारो ने स्वीकार किये हुए पाँच ही अलकार—अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा।

२. इनके अतिरिक्त माने हुए और छह अलकार — आक्षेप, अर्थान्तर-न्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति।

३ हेतु, सूक्ष्म और लेश की अनलकारता।

४ यथासख्य और उत्प्रेक्षा।

५. कई ग्रन्थकारो की समति में स्वीकृत स्वभावोक्ति।

६ प्रेयस् आदि तेईस अलकार।

इन छोटे छोटे सग्रहो से प्रतीत होता है कि भामह से पूर्व ही आलंकारिको ने भिन्न भिन्न अलंकारसमूह बनाये थे। भामह ने वे समूह लिए, उनके लक्षण और उदाहरण दिये और जहाँ मतभिन्नता थी वहाँ स्पष्ट शब्दो में उसका विवरण किया। इन अलकारसमूहो के बनाने में वर्गीकरण का कोई भी- सिद्धान्त नही है। इस लिए भामह ने स्वय इन छह अलकार वर्गों की कल्पना की ऐसा नही कहा जा सकता। प्रत्युत, 'इति वाचामलकारा' पचैवान्यैरुदाहृता।', 'केषांचिन्मते', 'अन्ये जगदुः' इस प्रकार दूसरो के सग्रहो का आधार भामह ने ही दिया है। इस पर से इतना ही तर्क होता है कि भामह के पूर्व से ही अन्यान्य आलकारिक अलकारो की रचना कर रहे थे, भामह ने उनका सग्रह किया, विवेचन किया, कतिपय अलकारो को अस्वीकार किया, और कतिपय अलंकार अधिक रचे। भामह के ग्रन्थ के दूसरे परिच्छेद में दिये हुए अलकार अन्य ग्रन्थकारो ने पहले ही स्वीकार किये थे। भामह ने उनके लक्षण बनाए और स्वयकृत उदाहरण दिये (१८); और तीसरे परिच्छेद में दिये हुए अलकारो में से कई अलकारो का उन्होंने स्वयम् निश्चय किया (१९)। दण्डी के समय में भी अलकारों का विकल्पन जारी था। इतना ही नही, नाटच के सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग आदि का अलकारत्व स्वीकार करने के लिए भी दण्डी सिद्ध थे।

काव्यचर्चा स्वतन्त्र होने का प्रयोजन

उपलब्ध ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि भामह दण्डी के काल में (सन् ६००–७५० ईसवी) काव्यचर्चा नाटच से पृथक् होकर अपने बल पर खडी हो गई थी। भामह और दण्डीने स्पष्ट ही कहा है, "हम काव्य पर विचार करते है, काव्य का ही एक भेद नाटच है हम उसपर विचार नही करते, अन्य ग्रन्थकर्ताओ ने वह कार्य

---

१८. स्वयंकृतैरेव निदर्शनैरियं
मया पक्लृप्ता खलु वागलंकृतिः। (२॥९६)

१९. गिरामलंकारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य मया धियोदितः। (३।५८)

किया है (२०)।" इतना ही नही, किसी शास्त्र की नई रचना करने में प्रतीत होने-वाले विशेष भी इस काल के ग्रन्थो में प्राप्त होते है।

किसी शास्त्र का अगभूत होने के नाते जो विवेचित किया जाता था ऐसा अश उस शास्त्र से जब पृथक् होता है और स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में जब उसकी विवेचना होना आरम्भ होता है, तब पृथक् होने के लिए उसे प्रयोजन की आवश्यकता होती है। नये शास्त्र से जिनकी उपपत्ति सिद्ध होती है ऐसी वस्तुओ का विपुल सग्रह उपलब्ध होने पर वह प्रयोजन निर्माण होता है। आधुनिक उदाहरण मनोविज्ञान का दिया जा सकता है। कुछ समय के पूर्व वह अध्यात्मशास्त्र (metaphysics) का एक अश माना जाता था। किन्तु आज वह एक स्वतन्त्र शास्त्र बन चुका है। काव्यचर्चा के विषय में भी यही हुआ। वाचिक अभिनय के एक अश के नाते काव्य-चर्चा नाटच में थी। वही अब स्वतन्त्र रूप में होने लगी। यह चर्चा स्वतन्त्र होने के लिए क्या प्रयोजन हो सकता था?

सस्कृत और प्राकृत में महाकाव्य, मुक्तक और गद्यप्रबन्धो का बडे पैमाने पर निर्माण इस स्वतन्त्र चर्चा का कारण था। यह वाङमय इतना विपुल था कि उसकी चर्चा शुरू होते ही, पहले जो नाटचांगभूत नियम थे उनका स्वतन्त्र शास्त्र में परिणत होना आरम्भ हुआ। दण्डी और भामह, दोनो के ग्रन्थ देखने से अनुमान होता है कि काव्यरसिकों के सम्मुख गद्य, पद्य और मिश्र तीनो प्रकार का वाङमय था (२१)। गद्यवाङ्मय के दो भेद थे—कथा और आख्यायिका। नाटक आदि और चम्पू मिश्र वाङमय था। पद्यवाङमय के दो भेद थे—निबद्ध और अनिबद्ध। निबद्ध अर्थात् महाकाव्य, खंडकाव्य आदि प्रकार के काव्य। अनिबद्ध अर्थात् मुक्त काव्य। मुक्त काव्य के भी अनेक भेद होते थे। चार चरणो का मुक्तक, शरद्—वर्णन, द्रविडवर्णन आदि प्रकार के संघात, परिकथा, खडकथा आदि और भी कई भेद रसिको के समक्ष थे। और केवल सस्कृत ही में नही, अपितु प्राकृत और अप-भ्रशो में भी इन सब प्रकारो में विशाल वाङ्मय निर्माण हुआ था। इन सब वाङ्मय प्रकारो में काव्य की विशेषताएँ रसिक जनो को प्रतीत होती थी। उनका वे ऊहापोह कर रहे थे। उनकी इसी विवेचना से काव्यचर्चा का स्वतन्त्र शास्त्र उदित हुआ।

उन्होंने देखा कि वाङ्मय के इन सब भेदों में सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य का भेद सर्वसग्राहक था। सर्गबन्ध की चर्चा करने में मुक्तक, सघात आदि का विवेचन

---

२०. उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोन्यैस्तस्य विस्तरः—भामह
मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तारः—दण्डी

२१. देखें:—भामह : काव्यालंकार १।१६–१८
दण्डी : काव्यादर्श १।११–३२

सहज ही होता था। इस लिए स्वर्गबन्ध को प्रधान मान कर उन्होने काव्यरूप का विवेचन किया। किसी हालत में, सर्गबन्ध तो कथाकाव्य ही रहेगा। इस कारण वह नाट्य के अधिक निकट था। उसकी रचना, कथावस्तु, विषय, रस आदि सब ही नाट्य के समान ही रहते थे। इस लिए सर्गबन्ध का विवेचन करने में उन्होने नाट्य की पूर्व से सिद्ध परिभाषा का ही उपयोग किया। और जहाँ आवश्यक हुआ केवल वही नया विवेचन किया। इस तरह नाट्यशास्त्र में किए हुए काव्य-विवेचन का ही स्वतन्त्र काव्यचर्चा में उपयोग किया गया।

इस दृष्टि से भामह द्वारा किया गया सर्गबन्ध का वर्णन देखनेलायक है। सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य का विषय गभीर होता है। उसका नायक धीरोदात्त रहता है। उसकी भाषा में वैदग्ध्य रहता है। उसकी कथा में निरर्थक बाते रहती नहीं। वह सालंकार रहता है और सदाश्रय भी होता है। मन्त्र, दूत, प्रयाण, युद्ध और अन्त में नायक का अभ्युदय आदि वर्णनो से वह युक्त होता है तथा उसमें समृद्धि अर्थात् ऋतु, चन्द्रोदय, उद्यान, पर्वत आदि का भी रमणिक वर्णन रहता है। यह सब होते हुए भी महाकाव्य व्याख्यागम्य या दुर्बोध नही होता। उसमें चतुर्वर्ग का प्रतिपादन होता है और वह नायक तथा प्रतिनायक के सघर्ष के द्वारा किया जाता है, एव उसमें किया गया उपदेश नित्य अर्थोपदेश होता है, अनर्थोपदेश कभी नही। महाकाव्य की रचना पञ्चसन्धि से युक्त होती है। और प्रधानतः ऐसे काव्य में लोकस्वभाव और सभी रस स्फुट रूप से प्रतीत होते है (२२)।

महाकाव्य के इस वर्णन की नाटक के वर्णन से तुलना करने पर उनका आत्यतिक परस्पर साम्य स्पष्ट रूप से प्रतीत होगा। भव्य और गभीर विषय, उदात्त नायक, चतुर्वर्ग का प्रतिपादन, नायक का अभ्युदय, सदाश्रितत्व, पचसधि, लोकस्वभाव और विविध रसों की प्रतीति, ये सब महाकाव्य के लिए जिस मात्रा में आवश्यक है उसी मात्रा में नाटक के लिए भी। नाट्य की समृद्धि महाकाव्य में चन्द्रोदय, ऋतु आदि के वर्णन में है। नाटक में सीनसीनरी और अभिनय से जो काम लिया जाता है वही महाकाव्य में वर्णनो से। इन वर्णनो का औचित्य भी नाट्य के समान ही सँभालना पडता है। साराश, नाट्य दृश्य होता है और महाकाव्य श्रव्य होता है। इस एक भेद को छोड दिया जाय तो नाट्य और महाकाव्य में अन्य कोई भेद नही। काव्य के सब प्रकार नाट्य से ही कल्पित है (ततोऽन्यभेदप्रक्लृप्ति।) ऐसा वामन ने स्पष्ट ही लिखा है। और इसी कारण से स्वतन्त्र रूप में काव्य की चर्चा करते समय साहित्य के पडित नाट्य की परिभाषा सही सही उठा ले सके।

२२: भामह : काव्यालंकार १।१९-२१

किन्तु नाटचशास्त्र के काव्यविवेचन का इस तरह उपयोग करने में उसकी मूल व्यवस्था मे परिवर्तन होना अपरिहार्य था। मूल नाटचशास्त्र में की गई काव्यचर्चा वाचिक अभिनय की आनुषगिक थी। नाटचगत रसप्रयोग का अर्थात् प्रयोगालंकार का एक विभाग काव्यालकार था। किन्तु काव्यालकार के नाम से नाटचशास्त्र में ज्ञात अश अब स्वतन्त्र हुआ और उसीके आनुषंगिक रूप में अन्य सब अगों की पुनर्व्यवस्था होना आरम्भ हुआ। इस प्रकार पुनर्व्यवस्था होने में जो एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ वह है काव्यलक्षणो का काव्यालकारो में रूपांतर होना। इस रूपान्तर के कारण, अब काव्य की परीक्षा लक्षणमुख से न हो कर अलकारमुख से होने लगी। एव शास्त्र की 'काव्यलक्षण' संज्ञा लुप्त होकर 'काव्यालकार' ही शास्त्रसज्ञा बन गई। इस प्रकार स्वतन्त्र अलकारशास्त्र उदित हुआ।

इस विकास का ग्रन्थगत प्रमाण

काव्यचर्चा नाटच की अगभूत थी और वही नाटच की अगभूत काव्यचर्चा पृथक् होकर अलकारशास्त्र के रूप में परिणत हुई यह भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के ग्रन्थो से भी स्पष्ट होता है। भामह और दण्डी दोनो नाटचशास्त्र से पूर्णरूपेण परिचित है तथा नाटच की विवेचना का स्वतन्त्र वाङमय दोनो भलीभाँति जानते है। इन दोनो ग्रन्थकारों ने 'सर्गबन्ध' का आदर्श अपने समक्ष रखा है और उसका वर्णन उन्होने नाटचशास्त्र की परिभाषा में किया है। ! 'पंचभिः सधिभिर्युक्तम् भूयसाऽर्थोपदेशकृत्।' युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।' इस तरह नाटच की परिभाषा में ही भामह काव्य का वर्णन करते है, और दण्डी भी 'चतुर्वर्गफलोपेतम्', 'चतुरोदात्तनायकम्', 'रसभावनिरन्तरम्', 'सुसधिभिर्युक्तम्' कहते हैं। यह सब सज्ञाएँ नाटचशास्त्र में से हैं। इन पारिभाषिक सज्ञाओ का स्पष्टीकरण भामह अथवा दण्डी दोनो ने भी किया नहीं, इससे प्रकट है कि यह सज्ञाएँ उन्हो ने नाटचशास्त्र से मूल अर्थ में ही ले ली है और काव्यशास्त्र में उनका प्रयोग किया है। वामन तो और भी आगे बढकर स्पष्ट ही कहते हैं—"सर्गबन्ध, आख्यायिका आदि भेद, नाटच से ही कल्पित है एव वे दशरूपक ही के विलास है (२३)।" दण्डी और वामन ने काव्यगुणो का विवेचन भरत से ही लिया है और दोषविवेचन में भी भरतोक्त दोष लिए है। 'चूर्ण', 'उत्कलिकाप्राय', और 'वृत्तगन्धि' ये गद्यभेद वामन ने साक्षात् नाटचशास्त्र से ही लिए है। दण्डी, उद्भट और वामन ने भरतोक्त रस निर्देशित किये है। दण्डी स्पष्टरूप से कहते है कि स्थायीभाव रसपदवीतक पहुँचता

---

२३. ततो दशरूपकभेदात् अन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनम् इति। दशकरूपकस्यैव इदं सर्वं विलसित यच्च कथाख्यायिके महाकाव्य च।

है। उद्भट तो नाटचशास्त्र के ही टीकाकार है तथा अपनी काव्यचर्चा में उन्होने नौ रसो को प्रस्तुत किया है। वामन ने भी 'दीप्तरसत्व कान्ति·।' सूत्र के विवरण में शृंगारादि रसो का निर्देश किया है।

काव्यगत गुणदोषो का विवेचन करने में आलंकारिक नाटचशास्त्र की परि-भाषाओ (definitions) का पूरा उपयोग करते थे। मगल नामक एक आलंकारिक इसी आरम्भ के काल मे हुआ। ओजोगुण की विवेचना में भरत का किया हुआ लक्षण देकर वह उससे अपनी मतभिन्नता स्पष्ट करता है (२४)। इससे प्रकट है कि नाटचशास्त्र के मत लेकर आलकारिक उनपर ऊहापोह करते थे।

केवल रस, अलकार, गुण, दोष आदि का ही नही, तो सध्यग, वृत्त्यग, लक्षण आदि का भी उपयोग काव्यचर्चा मे आलकारिक करते थे। (काव्यादर्श २।३६७)। इन्हे भी काव्यचर्चा में दण्डी अलकारो का स्थान देते है। नाटचशास्त्र से किये हुए विचारो के आदान का इससे और नि सदेह प्रमाण क्या हो सकता है? तो इस हेतु, आरभ में नाटचशास्त्र में अग के रूप में स्थित काव्यचर्चा ही आलकारिको की पृथक् चर्चा का विषय हुई और उसीका अलकारशास्त्र बना ऐसा कहने में कोई आपत्ति नही।

भरत और भामह : भामह का पृथक् सम्प्रदाय नही

दण्डी, उद्भट और वामन के विवेचन का नाटचशास्त्र से सबन्ध कैसे आता है यह हमने उनके ग्रन्थो से देखा। आरभकालीन काव्यशास्त्रकारो ने नाटचशास्त्र में किये गये काव्यविवेचन का आधार किस प्रकार लिया यह इससे स्पष्ट होगा। भामह भी एक आरम्भकालीन शास्त्रकार थे। इस लिए उन्हें भी यह नियम लागू करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिये। सामान्यतया ऐसा कर भी सकते थे। किन्तु इस प्रसग में एक नई आपत्ति निर्माण हुई है। डॉ. शकरन् आदि विद्वानो ने भामह को एक तरह से भरत के विरोधी सम्प्रदाय का निर्माता माना है।

आरभ में काव्यचर्चा नाटच की आनुषगिक थी तथा आगे चल कर वह पृथक्

---

२४ 'तत्रावर्गातस्य हीनस्य वा वस्तुन: शब्दार्थसंपदा यदुदात्तत्वं निषिचन्ति कवय: तदोज: इति भरत:। अवगीतस्य हीनस्य वा वस्तुन: शब्दार्थयो: संपदा परमुदात्तत्वं निषिचान्ति कवय: तर्हि तदनोज· स्यात इति मंगल:। (—काव्यप्रकाश की सोमेश्वर कृत टीका) भरत का ओजोगुण का लक्षण यह है—' अवगीताविहीनोऽपि स्यादुदात्तावभावक:। यत्र शब्दार्थसपत्या तदोज: परिकीर्तितम्॥ (चौखंबा ना. शा. पृ २१२)। मगल के प्रतिभा व्युत्पत्ति आदि विषयों के संबन्ध में मत उत्तरवती आलंकारिकों ने दिये हैं इससे स्पष्ट है कि भामह आदि के समान वह भी एक आलंकारिक था।

हुई यह सिद्ध करने का हमारा प्रयास है। किन्तु एक मत ऐसा भी है कि सभवतः नाटचचर्चा और काव्यचर्चा दोनो पृथक् और परस्परनिरपेक्ष रूप में आरभ हुई थी। नाटच के विवेचक भरत तथा उनके अनुयायियो का एक वर्ग था और काव्य के विवेचक प्राचीन आचार्य दण्डी, भामह आदि थे। इसमे भी जो लोग भामह का समय दण्डी से पूर्व मानते है उनकी समति मे तो भामह की काव्यचर्चा केवल स्वतन्त्र ही नहीं अपितु भरत के रसप्राधान्य के विरोध में अग्रसर हुई होगी। डॉ शकरन् भामह के सबन्ध में लिखते है—

" The attitude of Bhāmaha to Rasa theory is distinctly that of a rival school of criticism; and this is clear from the scanty treatment that he accords to it He who holds that Alamkāras exhaust the chief characteristics of poetry naturally brings Rasa also under an Alamkāra Rasavat (III -6) He further recognises two others–Preyas and Urjaswin–which represent the sentiment of spiritual love and consciousness of superior might (III. 5,7) But he betrays his knowledge of all the Rasas when he says, ' युक्त लोकस्वभावेन रसैश्च सकलै पृथक् (I-21)– meaning that in the drama all the Rasas should be delineated " (*Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit*, p. 24).

श्रीरामस्वामी ने भी 'भावप्रकाशन' की प्रस्तावना में ऐसा ही मत प्रकट किया है। वे कहते है —

" The attitude of Bhāmaha towards the Rasa theory was not only unfavourable but hostile. He is exponent of a rival school of poetry. " (p 20).

डॉ. सुशीलकुमार डे की भी समति यही है। वे भामह को अलकारवादी कहते है। उनका कथन है कि अलकार रीति आदि मार्ग से चली हुई इस काव्य-चर्चा मे आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि ने नाटच की रसचर्चा ला कर इन दोनों विरुद्ध प्रवाहो का मिलन कराया। म. म डॉ पा. वा काणे महोदय ने भरत को रससम्प्रदायी तथा भामह को अलकारसम्प्रदायी बताया है। अधिकाश आधुनिक अभ्यासकों का यही अभिप्राय है। इस स्थिति में काव्यचर्चा नाटचचर्चा से ही निकली और स्वतत्र हुई यह कैसे माना जा सकता है? इस लिए, बिना इस मत की आलोचना किये, आगे कदम बढ़ाया नही जा सकता।

भामह ने रस का विरोधी आलोचना सप्रदाय (Rival School of Criticism) खड़ा किया, अपने इस कथन की पुष्टि में डॉ. शकरन् ने निम्न-लिखित प्रमाण उपस्थित किये है—

१ भामह ने अपने ग्रन्थ मे रसविचार को थोड़े ही में निपटा लिया ।

२ भामह के मन्तव्य में अलकार ही काव्य का विशेष है; इस लिए रस को भी वह रसवत् अलकार बनाता है ।

इन प्रमाणो की हम जाँच करें—

भामह ने अपने ग्रन्थ में पृथक् रसविवेचन किया नही । 'शृगारादिरस' इतना निर्देश भर उसने किया और काम चलाया । परन्तु इससे भामह को रसो का भान नही था या भान हो कर भी वे उन्हे कम मानते थे ऐसा समझने की कोई आवश्यकता नही है । वामन ने भी अपने ग्रन्थ में रसो के सम्बन्ध में केवल 'शृगारादयो रसा' ।' इतना ही कहा है । किन्तु एक ही शब्द में रसविवेचन निपटाने पर भी वामन का ठोंस कथन है—"सम्पूर्ण काव्यभेद दशरूपक के ही विकल्प है । "सदर्भेषु दशरूपक श्रेय" इस वाक्य से वामन ने नाट्य को वाङ्मय के भेदो में मूर्धन्यस्थान दिया है । वे नाट्य में रसों का महत्त्व नही समझ पाये यह हम कदापि नही कह सकते । किन्तु वामन ने भी रसमीमांसा केवल एक ही शब्द में समाप्त की । इस लिए, रसनिर्देश के पद्यो की या पृष्ठो की सख्या से, ग्रन्थकार की रस के विषय में अनुकूल या प्रतिकूल प्रवृत्ति का नाप नही लिया जा सकता । भामह ने रस का रसवत् अलकार में सनिवेश किया यह भी भामह रस को कुछ कम समझता था इस बात का द्योतक नही हो सकता । दण्डी ने आठो रसो के स्थायीभाव दे कर उनके रसत्व का विवेचन किया और उदाहरण भी दिये । इनके अतिरिक्त अन्य नाट्यांगो का भी उन्होने उल्लेख किया । इससे प्रकट है कि उनके मत का झुकाव भरत की ओर है । म. म. पां. वा काणे महोदय भी कहते है कि, "भामह को अलकारवादियों से विशेष समवेदना थी एवं दण्डी भरत के सम्प्रदाय के प्रति अधिक श्रद्धा रखते थे ।" किन्तु भरत के सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा होने पर भी दण्डी रसो का अन्तर्भाव रसवत् अलकार में ही करते है । उद्भट तो नाट्यशास्त्र के ही एक टीकाकार थे । और भरत के आठ रसो में शान्त रस की भरती करने की धीरता उन्होने दर्शाई है । किन्तु वह भी काव्यगत रसों का निर्देश रसवत् अलकार के नाम से ही करते है । तो क्या यह समझना ठीक होगा कि भरत के अनुयायी यह सब ही ग्रन्थकार रस के महत्त्व को नही समझ पाये थे ? तो, दीप्तरस काव्य को रसवत् अलकार कहने से भी भामह रस के विरोध की भूमिका पर खडे है, यह नही कहा जा सकता । रसवत् अलंकार और रस का भी कुछ इतिहास है । वह इतिहास रसवत्-कान्तिगुण-रस इस क्रम से देखना चाहिये । उस इतिहास पर ध्यान देने से इन चिरन्तन ग्रन्थकारो को भी रस की पूर्ण रूप से कल्पना थी और महत्त्व भी ज्ञात था यह स्पष्ट होगा

(२५) । अलकार शब्द का व्यापक अर्थ जो भामह को अभिप्रेत है— वह डॉ शकरन् तथा उनके मन्तव्य के अनुसारी लेखको ने ध्यान में नही लिया। उन्होने अलकार का अर्थ आज के सीमित रूप में लिया। इस लिए रसवत् अलकार देखने पर उनको भ्रान्ति हो गई।

भामह ने स्वतन्त्र रूप मे रस का विवेचन नही किया, दण्डी, वामन और उद्भट ने भी वह नही किया, इस का कुछ कारण है। रसव्यवस्था तो पहले ही नाट्यशास्त्र में की गई थी। उसी रसव्यवस्था को उन्हो ने काव्यशास्त्र में ले लिया। काव्यशास्त्र में रसव्यवस्था लेने में इन प्राचीन आचार्यो ने उसका केवल अनुवाद मात्र किया। ऐसे निकट सबन्ध उस समय में काव्य और नाट्य के थे कि इस तरह केवल अनुवाद-मात्र करने से काम चल जाता था। प्राचीन ग्रन्थो में सिद्धानुवाद की इस पद्धति पर ध्यान देने से, उनमें रसचर्चा क्यो नही आई इस बात का कारण ध्यान में आता है और फिर उन्हे रस के विरोधी सिद्ध करने का प्रसग आता नही। उन ग्रन्थो में रस का अनुवाद किया है इतना देखने मात्र से काम निकलता है।

भामह के ग्रन्थ में इस प्रकार अनेकश. अनुवाद किया हुआ मिलता है। काव्य का वर्गीकरण करते हुए उन्होने एक भेद 'अभिनेयार्थ' का दिया है। 'अभि-नेयार्थ' का अर्थ है काव्य का वह भेद जिसका अर्थ अभिनीत किया जाता है अर्थात् रूपक। इस काव्यभेद का विचार अन्य ग्रन्थकारो ने पहले ही किया हुआ था। इस लिए इसपर विचार करने की भामह के लिए कोई आवश्यकता नही थी। नाट्य की जिन बातो की उन्हे श्रव्यकाव्य की विवेचना के लिए आवश्यकता थी ऐसी बातो को उन्होने नाट्य से ले लिया और उनका अनुवाद किया। इस तरह अनुवाद करने से ही भामह ने उन बातो को अपनी मान्यता दी है और नि संदेह रूप में उनका स्वीकार किया है।

सर्गबन्ध का लक्षण करते हुए भामह 'पञ्चसंधि', 'लोकस्वभाव' और 'रस' का अनुवाद करते हैं। उनका कथन है कि महाकाव्य "पञ्चभि· सधिभि युक्तम्" और "युक्त लोकस्वभावेन रसैश्च सकलै. पृथक्" होना चाहिये। यहाँ उन्होने नाट्य के 'लोकस्वभाव', 'रस' तथा 'नाट्य की सधियुक्त रचना' आदि सभी का स्वीकार किया है। महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिये, उनका चतुर्वर्ग से सबन्ध रहना चाहिये इस प्रकार स्पष्ट रूप में कथन करने के पश्चात् क्या यह प्रमाणित नही होता कि 'वस्तु, नेता तथा रस' इन सब का भामह ने स्पष्ट रूप में निर्देश किया है?' सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य में सभी रस स्पष्ट रूप से प्रतीत होना आवश्यक है इस कथन के बाद भामह का भरत के रस सम्प्रदाय से क्या विरोध हो सकता है?

---

२५. यह इतिहास उत्तरार्ध में रसप्रकरण में आएगा।

भामह ने रसो का स्पष्टरूप मे निदश सर्गबन्ध के लक्षरण में किया है इस बात को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। डॉ शकरन् भामह की उपर्युक्त पक्ति का सबन्ध नाटक से जोडते है। "But he betrays (!) his knowledge of all the Rasas when he says युक्त लोकस्वभावेन etc; meaning thereby that in the drama all the Rasas should be delineated." ऐसा डॉ. शकरन् कहते है, किन्तु इस प्रकार अर्थ करने में डॉ. शकरन् की बडी भूल हुई है। प्रकृत उल्लेख सर्गबन्ध के लक्षरण मे है, न कि नाटक के लक्षरण में। भामह ने सर्गबन्ध का वर्णन पहले परिच्छेद के १९ से २३ तक के श्लोको में किया है। नाटच का निर्देश श्लोक २४ में है। प्रकृत पक्ति २१ वे श्लोक में है। यह पक्ति और नाटक का निर्देश दोनो के बीच पूरे दो श्लोक है। इस लिए डॉ शंकरन् की ओर से यहाँ अनवधान हुआ है यह भी कहा नही जा सकता। डॉ शकरन् यहाँ केवल पूर्वग्रह में बह गये है और इस लिए उनकी ऐसी गलती हुई है यह प्रकट है। उनका पूर्वग्रह यह है कि, "भामह अलकारवादी है, वह रस का सनिवेश अलकारो में करते है; उन्हे रस के विरोध में सम्प्रदाय प्रस्थापित करना है।"

तो फिर प्रश्न उठता है कि भामह वक्रोक्ति को इतना महत्त्व क्यो देते है? इस प्रश्न का उत्तर न दिया गया तो भामह के सबन्ध में यह जो भ्रान्ति है उसकी निष्कृति न होगी। नाटच का अर्थ है रस। वह अभिनय से युक्त होता है इस लिए भामह ने नाटच को "अभिनेयार्थ काव्य" कहा है। किन्तु सर्गबंध आदि काव्य में रस अभिनेय नही होता। वह शब्दार्थो के द्वारा प्रतीत होता है। किन्तु वह मनचाहे शब्दार्थो के द्वारा भी प्रतीत नही होता। काव्य में शब्दार्थ रस की अभिव्यक्ति के लिए समर्थ होने चाहिए। शब्दार्थो में रसाभिव्यक्ति का सामर्थ्य निर्माण करने के लिए उनपर वक्रोक्ति का सस्कार होना आवश्यक है। इसी कारण से भामह को काव्य में रस के साथ शब्दार्थवैचित्र्य की भी अपेक्षा है। काव्य तो रसयुक्त होना ही चाहिये, किन्तु जिनके द्वारा यह रस प्रतीत होता है उन शब्दार्थो का भी उतना ही महत्त्व है ऐसा भामह का कहना है—

> अहृद्यमसुनिर्भेद रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
> काव्य कपित्थमाम यत्केषांचित्सदृश यथा ।। (५।६२)

कितने ही कवियों का काव्य पाठक के हृदय पर असर नही कर पाता (अहृद्य); उसका अर्थ भी सरलता से नही लगाया जा सकता (असुनिर्भेदम्); ऐसा काव्य रसयुक्त होने पर भी कठोर ही (अपेशल) होता है। ऐसे काव्य को भामह कठबेल के कच्चे फल की उपमा देते है। (कपित्थवत्)। यह तो प्रसिद्ध है कि काव्य में द्राक्षापाक चाहिए, कपित्थपाक नही। काव्य में रस के साथ ही शब्दार्थो के वैचित्र्य का भी महत्त्व किस प्रकार है यह इससे स्पष्ट होगा।

इसी कारण से भामह वक्रोक्ति का इतना महत्त्व मानते है। वक्रोक्ति अर्थ-सस्कार है। यह सस्कार शब्दार्थो को रसवाहक बनाता है। वक्रोक्ति का विशेष विवेचन अगले अध्याय मे किया जायेगा। यहाँ भामह के केवल एक वचन का अर्थ देखें। अतिशयोक्ति अलकार के विवेचन में भामह कहते है—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेतिशयोक्ति तामलकारतया यथा ॥ (२।८१)

अतिशयोक्ति का अर्थ है लोकातिक्रान्तगोचर वचन, जनसाधारण की भाषा की शैली से भिन्न शैली की उक्ति। इस प्रकार की उक्ति का जब कवि विशेष कारणवश उपयोग करता है तब अतिशयोक्ति अलकार होता है। निमित्तत या हेतुत उच्चारित लोकातिक्रान्तगोचर अर्थात् असाधारण शैली का वचन "अतिशयोक्ति" है। वर्णनीय वस्तु का गुणातिशय प्रकाशित करना (गुणातिशययोगतः) ऐसी उक्ति का निमित्त होता है। वर्णनीय वस्तु के किसी गुण को प्रकाशित करने के लिए कवि इस प्रकार की लोक-विलक्षण उक्ति का आश्रय करता है। इस प्रकार की उक्ति को ही 'वक्रोक्ति' कहा जाता है। इसी वक्रोक्ति के विषय में भामह कहते है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति, **अनयार्थो विभाव्यते**।
यत्नोऽस्या कविभि कार्य. कोऽलकारोऽनया विना ॥ (२।८५)

इस प्रकार काव्य में सर्वत्र वक्रोक्ति ही ओतप्रोत है। इस वक्रोक्ति से ही अर्थ विभावित होता है। भामह की समति में **लौकिक अर्थ के विभावीकरण अर्थात् विभाव में परिवर्तित होने का साधन वक्रोक्ति ही है**। इसी लिए उनका कथन है कि कवि को वक्रोक्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये। विना वक्रोक्ति के काव्य में अलकार अर्थात् सौदर्य आ ही नही सकता। 'अनयाऽर्थो विभाव्यते।' इस चरण का अर्थ श्री ताताचार्य ने 'काव्यार्थ. रसचर्वणानुगुणविशदप्रतीतिगोचरी-क्रियते।' इस प्रकार दिया है, तथा उसीके कारण से काव्य में अलकारसौदर्य अर्थात् चारुत्व किस प्रकार निर्माण होता है यह दर्शाने के लिए उन्होने आनन्दवर्धन का आधार दिया है। अभिनवगुप्त ने भी अनेकश. कहा है कि गुण और अलकारों से काव्य मे लौकिक अर्थो का विभावीकरण होता है (अर्थ विभावित होता है) और उन्होने इसी कारिका का आधार दिया है। और भी उन्हों ने 'लोचन' में कहा है कि भामह आदि ने शब्दचारुत्व का विवेचन रसानुगामित्व से ही किया है। यह सब ध्यान में लेने पर, स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि "वक्रोक्ति से अर्थो का विभावन होता है" यही भामह का अभिप्राय है। इस अभिप्राय को ध्यान में रखें तो, रसनिर्माण के जो नाट्यगत (विभाव आदि) साधन हैं उन सभी का कार्य श्रव्य काव्य में वक्रोक्ति से होता है यह अर्थ प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त की भी मान्यता है कि काव्य में

रसनिष्पत्ति की क्रिया है उसमें वक्रोक्ति नाटचधर्मीस्थानीय है। अर्थ के विभावन का इस तरह से भामह ने किया हुआ स्पष्ट निर्देश तथा वक्रोक्ति और विभावन के उन्हे अभिप्रेत अन्योन्यसबन्ध पर ध्यान देने के उपरान्त, "भामह को रस के विरोध में सम्प्रदाय स्थापित करना था" इस कथन में क्या सत्य हो सकता है इसका निर्णय स्वय पाठक ही करें।

शृगार आदि रसो का निर्देश भामह इस तरह करते है—

रसवत् दर्शितस्पष्टशृगारादिरस यथा।
देवी समागमत् (छद्मस्करिण्यतिरोहिते) ।। (३।६)

काव्य में जहाँ शृगार आदि रसो का स्पष्ट दर्शन होता है वहाँ अलकार रसवत् है। भामह ने यहाँ बडा ही सुदर उदाहरण प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि भामह का अभिप्राय 'कुमारसभव' के पाँचवे सर्ग में वर्णित प्रसग से है। पार्वतीजी की परीक्षा करने के लिए शिवजी बटुवेष धारण कर के आए और उनके समक्ष शिव की अर्थात् अपनी ही मनचाही निन्दा की। पार्वतीजी को उस ब्रह्मचारी का भाषण भाया नही और उन्होने उसे तीखे शब्दो में उत्तर दिया। किन्तु वह ब्रह्मचारी भी कुछ कम न था। वह फिर से कुछ बोलनेवाला ही था कि पार्वतीजी चिढ़कर वहाँ से जाने लगी। कालिदास इस प्रसग का वर्णन करते है—

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी
चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः
समाललम्बे वृषराजकेतन ।।

त वीक्ष्य वेपथुमती सरसागयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।।

"या तो मै ही यहाँ से चली जाती हूँ।' यों कह कर वे उठ कर चलने लगी। उनके स्तन पर पडा हुआ वल्कल नि.सृत हो गया, किन्तु आवेग के कारण उनका उस तरफ ध्यान भी नहीं गया। उसी क्षण, शिवजी ने अपना सच्चा रूप धारण किया और मुस्कराते हुए उनका हाथ थाम लिया। शिवजी को देखते ही पार्वतीजी के शरीर पर रोमाञ्च भर आए। उनकी देह पर घर्मबिन्दु शोभायमान होने लगे, आगे चलने को उठाया हुआ पैर जहाँ के तहाँ रह गया। जैसे नदी की धारा के मार्ग में पहाड़ आ जाने से वह आकुलित होती है, वही स्थिति इस पर्वतकन्या की भी हुई। वह न तो आगेही बढ़ पाई और न खड़ी ही रह पाई!"

मुग्ध शृगार का इस से बढ़कर मनोहर प्रसग क्या हो सकता है ? पार्वतीजी के लज्जा, प्रेम आदि सात्त्विक भाव महाकवि ने यहाँ कितनी मृदुता से अभिव्यक्त किये हैं ! उनके आस्वाद से रसिकजन को शृगार की प्रतीति भी कैसी हो रही है ! ऐसे प्रसग से जिस भामह ने 'रसवत्' काव्य का सौदर्य दर्शित किया है वह रस के विरोध में सम्प्रदाय प्रस्थापित करना चाहता था यह कहना निरी धृष्टता है ।

परिचयात्मक ग्रन्थ में खंडनात्मक लेखन नही होना चाहिये यह बात हमे स्वीकार होने पर भी हमने इस प्रश्न पर कुछ विस्तार से विचार किया है। इसका कारण यह है कि साहित्यशास्त्र में भिन्नभिन्न मतसम्प्रदाय हुए ऐसा समझने की जो आधुनिक अभ्यासको की प्रवृत्ति है वह हमारे विचार में ठीक नही है । भरत का रससम्प्रदाय, भामह का रस के विरोध में अलंकार संप्रदाय, वामन का रीतिसम्प्रदाय, आनन्दवर्धन का ध्वनिसम्प्रदाय इस प्रकार की भाषा से हम इतने अधिक परिचित हुए हैं कि इस शास्त्र का कुछ विकास हुआ हो यह कल्पना हमारे मन को स्पर्शतक नही करती । हमारा सत्य मत है कि साहित्यशास्त्र की विचारधारा में विकास होता गया है और यह विकास उपलब्ध साहित्य ग्रन्थो के आधार से उपपन्न हो सकता है ।

'दण्डी, उद्भट, वामन आदि के ग्रन्थों में किये गए निर्देशो से प्रतीत होता है कि नाटच की अगभूत काव्यचर्चा पृथक् हुई' इस विचार के लिए अब भामह का भी अपवाद नही समझा जाना चाहिए। रस के विरोध में सम्प्रदाय निर्माण करने का भामह का प्रयास नही है । नाटच में अर्थो का विभावन अभिनय के द्वारा होता है। भामह को यही दर्शाना है कि काव्य में अर्थो का विभावन वक्रोक्ति के द्वारा होता है। इस प्रयास का अर्थ रस के विरोध में सम्प्रदाय खडा करना नही होता । तो, नाटच-शास्त्र और अलकारशास्त्र में जो सबन्ध हमने दर्शाया है उसे स्वीकार करने में भामह की भी आपत्ति अब नही रहनी चाहिए । इसके अतिरिक्त, इस प्रकार का यह सबन्ध स्वीकार करने से ही अलंकारशास्त्र की कतिपय समस्याओ की ठीक प्रकार से उपपत्ति हो सकती है। भरत ने नाटचशास्त्र में उपमा, दीपक, रूपक और यमक ये चार अलकार दिये हुए हैं। वैसे ही निन्दोपमा, प्रशसोपमा, कल्पितोपमा ये उपमा के भेद दिये हैं। भामह ने अपने अलकारविवेचन के आरभ में कहा है—

अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे ।
इति वाचामलकाराः पञ्चैवान्यैरुदाहृता ।। (२।४)

भामह के पूर्व अनेक आलंकारिक हुए । उन्होने अलंकारो के छोटे छोटे समूह किये थे। उन सब समूहो को एकत्रित करके भामह ने उनका विवेचन किया व स्वयकृत उदाहरण दिये । इन आलंकारिको में, अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, और उपमा ये पाँच ही अलकार माननेवाला एक आलंकारिक था। स्पष्ट रूप से

प्रतीत होता है कि इस अज्ञात आलकारिक ने भरत के ही चार अलकार लिए और उनमे अपना एक अलकार–अनुप्रास–जोड दिया। भामह का ही कथन है कि भामह के पूर्व मेधावी ने यथासख्य अलकार अधिक माना था। यमक और अनुप्रास में निकट सबन्ध देखने पर यह कहने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये की सभवत. यह अज्ञात आलकारिक मेधावी से भी पूर्वकालिक था। और तो क्या, हो सकता है कि भरत के अलकारो में सर्वप्रथम अधिक अलकारो की जोड़ देनेवाला वही हो। इस से भरत → अनुप्रास की जोड देनेवाला प्रकृत आलकारिक → मेधावी, → भामह इस प्रकार से यह क्रम हम निश्चय ही निर्धारित कर सकते है। अब शेष रहे भामह के पूर्वकालिक अन्य आलकारिक। उनमे से 'आशी' लक्षण को अलकारत्व भट्टि ने दिया। अन्य आलकारिको में से कतिपय स्वभावोक्ति का अलकारत्व मानते थे; कोई हेतु, सूक्ष्म (मनोरथ) और लेश इन लक्षणो का अलकारत्व स्वीकार करते थे, और कई आलकारिको ने निन्दोपमा, प्रशसोपमा आदि भरतकृत विभाग में आशसोपमा की जोड कर दी थी। इन सभी का विचार भामह ने अपने ग्रन्थ में किया है। यह तो प्रकट है कि इन सभी अज्ञात आलकारिको ने भरतकृत लक्षणो के ही अलकार बनाये। इस लिए, यह नि सदेह है कि भामह ने जिस सामग्री से अपने ग्रन्थ की रचना की वह सामग्री नाटचशास्त्र से ही पूर्वकालीन आलकारिको के द्वारा उत्तराधिकार के क्रम से भामह को प्राप्त हुई। साराश, नाटचशास्त्र और अलंकारशास्त्र में यह उत्तराधिकार का सबन्ध न माना तो भामह ने निर्देशित किये हुए भामह पूर्व आल-कारिको का प्रयास उपपन्न नही होता।

नाटचशास्त्र के कितने ही लक्षण मूलसंज्ञा लेकर ही उत्तरकालीन अलकार-ग्रन्थों में अलकारो के नाम से आए है। अलकार का रूप धारण करने में कतिपय लक्षणो के नाम परिवर्तित हुए। फिर भी उनमें मूल लक्षणो का बीज बना हुआ है। दशरूप के टीकाकार धनिक का कथन है, "भरतकृत लक्षणो का अन्तर्भाव, हर्ष आदि भाव एवम् उपमा आदि अलकारो में होता है।" नाटचशास्त्र में लक्षणो की दो तालिकाएँ है। उनमें उपजाति वृत्त में जो तालिका है उसमें दिये हुए लक्षणो में से अधिकाश लक्षण, हर्ष आदि भावो में आ गए है और अनुष्टुप् तालिका के अधिकाश लक्षण अलकारो में आए है (२६)। इस प्रकार लक्षण और अलकारो में मूलत: ही साम्य है। भेद इतना ही है कि नाटचशास्त्र के समय में 'काव्यलक्षण' के नाम से वे पहचाने जाते थे और उत्तरकाल में वे 'काव्यालकार' के नाम से पहचाने जाने लगे। काव्यलक्षण से काव्यालंकारतक यह जो शास्त्र का विकास हुआ वह काव्यालकार के नाटचानुगामित्व से ही उपपन्न होता है।

---

२६. देखिये : डॉ. राघवन् का लेख : *The History of Lakshana*

इसके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र की प्राचीन सज्ञाओ का भी इससे अन्वय लगता है। क्रियाकल्प—काव्यलक्षरा—काव्यालकार—साहित्य ऐसी शास्त्र की सज्ञाओं की परम्परा है। नाटचकृति के लिए "क्रिया" शब्द तो प्राचीन ही है। "अर्थक्रियोपेत" यह नाटचकाव्य का भरतकृत लक्षरा है। अर्थात् क्रिया शब्द यहाँ अभिनय का वाचक है। नाटचशास्त्र में इस क्रिया का 'विकल्पन' बताया है। अतएव नाटचशास्त्र 'क्रियाविकल्पन' का या 'क्रियाकल्प' का ग्रन्थ है। नाटच के या अभिनेयार्थ के प्रायोगिक नियमो की सज्ञा 'क्रियाकल्प' है। काव्यलक्षरा की अवस्था मे काव्य के उच्चावच अभिप्रायो के वर्गीकरण का प्रयास है। ये है लक्षरा। शब्दार्थो से लक्षरावैचित्र्य कैसे और किन प्रकारो से प्रतीत होता है इसके अनुसन्धान का प्रयास ही काव्यालकार की अवस्था है। और 'साहित्य' है रसदृष्टि से शब्दार्थों के परस्पर साहचर्य की खोज का उपक्रम।

इस प्रकार अलकारग्रथो के प्रमारगो से ही यह स्पष्ट होता है कि काव्यचर्चा पहले पहल नाटच के आश्रय से होती थी; आलकारिको ने उसकी पृथक् रूप में विवेचना आरम्भ की, और इसी उपक्रम से अलकारशास्त्र परिरगत हुआ। इससे काव्यशास्त्र ग्रथो की अन्य समस्याओ का भी अन्वय ठीक प्रकार से होता है। अतएव यह कहने मे कोई आपत्ति नही कि, 'स्वाशे चारितार्थ्यं, वचनसिद्धि:, फलमन्यस्थलेष्वपि' के न्याय से यह बात 'ज्ञापितसिद्ध' हुई। भरत की नाटचशास्त्रागभूत काव्यचर्चा, उससे निकली हुई भामह के पूर्वकालीन शास्त्रकारो की स्वतन्त्र काव्यलक्षराचर्चा और उससे परिरगत हुई भामह की अलंकारचर्चा इस प्रकार का यह क्रम सिद्ध होता है तथा इस क्रम पर ध्यान देने से कह सकते है कि भामह रस के विरोधी तो है ही नही बल्कि उपलब्ध आलकारिकों में भरत के प्रथम उत्तराधिकारी है।

प्राचीन बातों का नये उपक्रमों में परिवर्तन

स्वतन्त्र अलकारशास्त्र के उदय होते ही लक्षरगो के अलकार तो हुए ही, किन्तु इसके अतिरिक्त शास्त्रव्यवस्था में और भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पहली बात यह कि अलकारशास्त्र अति विस्तृत हुआ। नाटचशास्त्र में काव्यचर्चा नाटच के लिए ही सीमित थी, किन्तु ये नये आलंकारिक, गद्य, पद्य, मिश्र इन भेदो को एव संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि सब भाषाओ को लेकर अपना विवेचन करने लगे। इस नये जमाने में पूर्वकालीन शास्त्रव्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए। वे इस प्रकार हैं—

पूर्व काल मे काव्यचर्चा काव्य का एक अग थी। अब नाटच ही काव्य का एक अग हुआ। अब आलकारिक कहने लगे कि नाटक या रूपक मिश्रकाव्य का एक भेद है। 'अभिनय' का स्थान शब्दार्थो ने लिया एव 'नाटक' का स्थान 'महाकाव्य' को प्राप्त हुआ। नाटचशास्त्र मे विवेचन नाटच के आश्रय से होता था, वही अब महाकाव्य के आश्रय से होने लगा। काव्यालकार के काल में महाकाव्य नाटक का प्रतिनिधि कैसे बना यह नाटक और महाकाव्य में तुलना करने से प्रतीत होगा। भामह और दण्डी दोनो ने महाकाव्य के लक्षरा दिये है। दोनो के किए हुए लक्षणो पर ध्यान देकर महाकाव्य और नाटक मे तुलना करने से, नाटच के विविध विशेष अलकारशास्त्र में किस प्रकार आये यह सरलता से समझ में आएगा। नाटक और महाकाव्य दोनो में कथावस्तु प्रख्यात होती है—अर्थात् वह इतिहास आदि से ली हुई रहती है। दोनो में नायक धीरोदात्त होते है। दोनो पचसधि से युक्त और रसभावनिरन्तर होते है। दोनो लोकस्वभावयुक्त और चतुर्वर्गफलोपेत होते है। और दोनो 'समृद्धियुक्त' होते है। महाकाव्य में समृद्धि का अर्थ है भिन्न भिन्न वैचित्र्ययुक्त वर्णन। भरत का भी नाटचसमृद्धि में वैचित्र्ययुक्त रचना के अर्थ से ही अभिप्राय है (२७)। साराश, नाटक और महाकाव्य के विषय, अर्थ, रस और रचना एक ही होती है। भेद इतना ही है कि नाटक में ये सारी बातें अभिनय के द्वारा दर्शाई जाती है और महाकाव्य में उनका वर्णन शब्दों से करना पड़ता है।

इसका अर्थ यह होता है कि नाटकीय आहार्य, आगिक और सात्त्विक अभिनय महाकाव्य में शब्दो से ही व्यक्त करना पड़ता है। नाटच में जो लोकस्वभाव और अवस्था अभिनय के द्वारा दर्शाई जाती है वह काव्य में शब्दो से ही व्यक्त होती है। नाटच में अर्थ और अभिनय का जोड रहता है तथा काव्य में अर्थ और उक्ति का। अतएव नाटचशास्त्र में काव्य का लक्षरा 'अर्थक्रियोपेतम् काव्यम्' इस प्रकार होता है तो काव्यालकार में भामह 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस प्रकार लक्षरा करते है। भरत मुनि कहते है, "अनेकभेदबहुलं नाटचमस्मिन् (अभिनये) प्रतिष्ठितम्" तो दण्डी का कथन है कि "इष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावलि" काव्य का स्वरूप है। महाकाव्य और नाटक इनमें इतना निकट सबन्ध होने से ही महाकाव्य को आदर्श रखकर

२७. 'समृद्धिमत्' शब्द भामह ने महाकाव्ये के लक्षण में प्रयुक्त किया है। उसमें भरत के 'समृद्धि' लक्षण का अभिप्राय गृहीत है। भामह ने भरत का विरोध नहीं किया प्रत्युत उनका अनुसरण किया इसका यह एक और प्रमाण है।

की गई काव्यचर्चा में, नाटचशास्त्र के सभी विशेषो का उपयोग ग्रालकारिक केवल ग्रनुवादमात्र से कर सके (२८)।

भरत का बताया हुग्रा काव्यस्वरूप दृश्य काव्य के ग्राश्रय से है ग्रौर भामह ग्रादि का बताया हुग्रा काव्यस्वरूप श्रव्य काव्य के ग्राश्रय से है। भरत नाटचकाव्य के लिए 'काव्यबन्ध' शब्द का प्रयोग करते है तो भामह ग्रादि महाकाव्य को 'सर्ग बन्ध' कहते है। नाटक ग्रौर महाकाव्य में दर्शाये हुए उपर्युक्त साम्य पर ध्यान देने से इन दोनो सज्ञाग्रो का स्वारस्य ग्रौर ग्रधिक स्पष्ट रूप में प्रतीत होता है। नाटचसिद्धि होने के लिए ग्रनेक प्रकार के ग्रलकार ठीक तरह से सिद्ध होने चाहिए। नाटच में नेपथ्यालकार, नाटचालकार, पाठ्यालकार, वर्णालिकार, एव काव्यालकार ये सब 'एकीभूत होकर समुदित' होने पर ही 'प्रयोगालंकार' होता है तो काव्य में वर्णन, पात्रो के व्यापार, वृत्त, नाद, पाठ्य, शब्दार्थालिकार एव गुण इन सब का ग्रौचित्ययुक्त मेल होने से काव्यालंकार होता है। इस काव्यालंकार को ही प्राचीन शास्त्रकारो ने 'प्रबन्धगुण' ग्रौर भोज ने 'प्रबन्धालकार' कहा है।

इस दृष्टि से ग्रलकारशास्त्र की ग्रोर देखने से नाटचशास्त्र के किन विशेषों का ग्रलकारशास्त्र में किस रूप में परिवर्तन हुग्रा यह ग्रविलम्ब ध्यान में ग्राता है। नाटच में नेपथ्यालंकार ही काव्य मे वर्णनों के द्वारा सिद्ध किया हुग्रा विभावौचित्य है, नाटच मे नाटचालकार ही काव्य में पात्रव्यापार के वर्णनो से सिद्ध किया हुग्रा ग्रनुभावो का ग्रौचित्य है; पाठ्यालंकार ही काव्य में पाठचगुण है; वर्णालिकार ही छन्दो तथा वृत्तो का एवं परुष, नागरक, ग्राम्य वृत्तियो का ग्रौचित्य है, नाटच के लक्षण ग्रौर ग्रलंकार ही काव्य में शब्दार्थालंकार है, नाटच के गुणदोष ही काव्य के भी गुणदोष हैं, नाटच का 'प्रयोगालकार' ही काव्य का 'प्रबन्धालकार', 'प्रबन्धगुण' ग्रथवा 'काव्यालकार' है। नाटचागो का 'एकी भूय समुदय' ही काव्य में सब काव्यागो का "ग्रौचित्य" है। नाटच के विघ्न काव्य में रसदोष है एव नाटचसिद्धि ही काव्य में रस की ग्रभिव्यक्ति है। नाटचसिद्धि के लिए ही मुनि भरत 'रसप्रयोग' शब्द का उपयोग करते हैं। काव्य में भी कवि 'रसप्रयोग' ही करता है। ग्रभिनवगुप्त का कथन है कि "काव्येऽपि सर्वो नाटचाय-

---

२८. महाकाव्य के लक्षण में आलकारिकों ने केवल बाह्य अगों का ही वर्णन किया ऐसा दूषण आधुनिक आलोचक प्राचीन शास्त्रकारों पर लगाते हैं। भामह या दण्डी की दस पाँच पंक्तियों को ही देखने से यह धारणा होना संभव है।' किन्तु जहाँ 'अनूदित' अंश हो वहाँ अनुवादस्थल में अनूदित शास्त्र के सम्पूर्ण विवेचन का ग्रहण अपेक्षित होता है। शास्त्रविवेचन का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्मरण रहना आवश्यक है। अनूदित अश के साथ लक्षणों का विचार करने से उपर्युक्त दूषण के लिए अवकाश रहता नहीं।

मान एवार्थं ” भामह कहते है— “ अनयाऽर्थो विभाव्यते। ” और भट्टतौत ने तो स्पष्ट ही कहा है कि “ काव्य में जबतक प्रयोगत्व नही आता तबतक रसास्वाद सभव ही नही, इस रसास्वाद के लिए काव्य के वे वे भाव (पदार्थ) प्रत्यक्षवत् स्फुटता से प्रतीत होना आवश्यक है और इस हेतु कवि को वे पदार्थ प्रौढोक्ति द्वारा औचित्य-युक्त रीति से उपस्थित करने पडते हैं। (२९) यहाँ की प्रौढोक्ति ही भामह की ‘वक्रोक्ति’ है और “प्रत्यक्षवत् स्फुटता” ही “विभावन” है । “अनयाऽर्थो विभाव्यते” इस भामहवचन का अर्थ अब स्पष्ट होगा । साराश, भरत का “ रस-प्रयोग” ही काव्य में “आस्वादसंभव” या “रसाभिव्यक्ति” है ।

नाट्य की लोकधर्मी और नाट्यधर्मी ही काव्य में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति है। नाट्य में चार वृत्तियाँ होती है–भारती, सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी। काव्य शब्दमय होने के कारण उसमें केवल भारती वृत्ति ही होती है । किन्तु काव्य में भारती वृत्ति अन्य वृत्तियो से समिश्र होती है । कैशिकीयुक्त भारती ही काव्य में “वैदर्भी रीति” या “सुकुमार मार्ग” है और आरभटीयुक्त भारती ही “गौडी रीति” या विचित्र मार्ग है। ‘सात्त्वती’ मनोवृत्ति कवि तथा रसिको के मनो-व्यापार से प्रतीत होती है।

नाट्य का दर्शक ही काव्य का पाठक है तथा नाट्य का पताका देनेवाला प्राश्निक ही काव्य का आस्वादक सहृदय है। विमलप्रतिभा से युक्त सहृदय ही रसास्वाद का सच्चा अधिकारी है (अधिकारी चात्र विमल प्रतिभानशाली सहृदयः। –अभिनवगुप्त) और वही काव्यशास्त्र का भी निर्माता है।

---

२९. प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः ।
वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः ॥
उद्यानकान्ताचन्द्राद्याः भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः ॥

—काव्यकौतुक

अ ध्या य चौ था

काव्यचर्चा का नया संसार व नई अड़चनें

नई काव्यचर्चा का क्षेत्र

नाट्य से काव्यचर्चा पृथक् होते ही उसका क्षेत्र विस्तृत हुआ। इस विस्तार की कल्पना भामह और दण्डी दोनो ने अपने ग्रन्थों में दी है। जिस काव्य का यह शास्त्र है वह काव्य सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ का काव्य है। उसमें सर्गबन्ध व मुक्तक आदि पद्यभेद, कथा–आख्यायिका आदि गद्यवाङ्मय एव चम्पू, नाटक आदि गद्यपद्ययुक्त वाङ्मय इन सभी का अन्तर्भाव होता है। साराश, इस काव्यचर्चा मे उस काल की सभी भाषाओ के वाङ्मय की आलोचना करने का यत्न किया गया है। काव्यचर्चा के ग्रन्थ सस्कृत में लिखे जाने पर भी वह शास्त्र केवल सस्कृत के लिए सीमित नही रहा (१)।

भामह और दण्डी ने इन सारी भाषाओ का वर्गीकरण आरम्भ मे किया है। ये सारे वाङमयभेद अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न थे। किन्तु फिर भी उन सभी का एक सामान्य लक्षण उनके ध्यान में आया। यह लक्षण सभी काव्यभेदों के लिए समान तो था ही, किन्तु और एक बात यह भी थी कि वह वाङ्मय के अन्य भेदो से अर्थात् शास्त्रो से काव्य की भिन्नता भी दर्शाता था। यह विशेष स्वरूप निर्धारित करने का उन्होने प्रयास किया।

अन्वयव्यतिरेक की शैली

इसके लिए उन्होंने अन्वयव्यतिरेक की शैली का अवलंब किया। काव्य से होनेवाला परिणाम और काव्य में कथित अर्थ ही अन्य प्रकार से कथन करने पर

१. साहित्यशास्त्र के व्यापक क्षेत्र की कल्पना मैंने अन्यत्र दी है — देखिए – 'मातृभूमि' (मराठी) दीपावलि अंक, १९५४

होनेवाला परिणाम इन दोनों में उन्होने तुलना की और दोनो में जो भेद प्रतीत होता है उस भेद का सबन्ध उन्होने उस अर्थ के कथन की शैली से जोड़ दिया। दण्डीने काव्यादर्श में कहा है—

कन्ये कामयमान त्वा न त्व कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ।।
काम कदर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दय·।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्टयेत्यग्राम्योऽर्थो रसावह·।। (१।६३,६४)

किसी युवक ने किसी युवति से पूछा, "हे युवति, मै तुम्हारे लिए इतनी अभिलाषा रखता हूँ फिर भी तुम मुझे चाहती नहीं हो, ऐसा क्यो?" उसी समय, अन्यत्र कोई दूसरा प्रेमी अपनी प्रेमिका से कह रहा था, "हे वामाक्षि, यह दुर्जन मदन मुझ से निर्दयता का व्यवहार भले ही करे। परन्तु भाग्य की बात है कि वह अभीतक तुम्हारा मत्सर नही कर रहा है।" दोनो के कहने का मतलब एक ही है। परन्तु परिणाम कितना भिन्न है! परिणाम में यह भेद होने का कारण क्या है? दण्डी कहते हैं—" पहले अर्थ का स्वरूप ग्राम्य है (इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा।), दूसरा अर्थ अग्राम्य है (अग्राम्योऽर्थ), पहले अर्थ से वैरस्य आता है, दूसरा अर्थ रसावह है। काव्य में अन्य विशेष कितने ही अच्छे क्यो न हो, यदि उसमें ग्राम्यता है तो निश्चय ही रसहानि होती है। इसके विपरीत काव्य में अन्य कुछ भी न हो और केवल अर्थ अग्राम्य हो तो भी काव्य रसवत् होता है। दण्डी ने अन्वयव्यतिरेक से देखा कि काव्य की विशेषता अग्राम्यता है, अतएव उन्होने कहा है कि, "सभी प्रकार के अलकार अर्थ को रसयुक्त बनाते तो हैं ही, किन्तु सरसता का अधिकाश भार अग्राम्यता पर ही होता है (२)।"

अग्राम्यता, माधुर्य, वक्रोक्ति

अग्राम्यता शब्द नकारात्म है। इस शब्द से किसी खास बात का बोध तो होता नही, परन्तु माधुर्य का लक्षण करते हुए दण्डी ने इस शब्द का प्रयोग किया है। काव्य के लिए माधुर्य गुण आवश्यक है। माधुर्य का अर्थ है काव्यगत रसवत्ता। इस माधुर्य के कारण ही रसिक जन काव्य पर भ्रमर के समान लुब्ध होते हैं (३)। काव्य की रसवत्ता के लिए सब से अधिक बाधक वस्तु है ग्राम्यता। दण्डी का कथन है कि, "ग्राम्यता वैरस्य लाती है, अग्राम्यता रसावह होती है।" माधुर्य का अर्थ रसवत्ता ही है। अतएव माधुर्य अग्राम्यता में प्रतिष्ठित है।

---

२. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ (१।६२)

३. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ (१।५१)

अग्राम्यता ग्राम्यता के विरुद्ध है। ग्राम्यता के विरुद्ध अर्थ का दर्शक विधायक पद है—'विदग्धता'। विदग्धता का अर्थ है विदग्धजन की व्यवहारपद्धति। दण्डी ने दिये हुए उदाहरणों में पहला युवक ग्राम्य (अनाडी) है, और दूसरा युवक विदग्ध है। दूसरे युवक के भाषण में विदग्धता अर्थात् अग्राम्यता है। इसी कारण वह रसावह होता है ऐसा दण्डी का अभिप्राय है।

विदग्ध जन की भाषण की शैली ही काव्य की शैली है ऐसा कुल अर्थ यहाँ निष्पन्न हुआ। इस शैली के भाषण को काव्यशास्त्र में 'वैदग्ध्यभङ्गिभणिति' कहते हैं यही वक्रोक्ति का लक्षण है। वैदग्ध्यभङ्गिभणिति का ही दूसरा पर्याय है 'उक्ति-वैचित्र्य' और वामन का कथन है कि उक्तिवैचित्र्य का अर्थ माधुर्य है (उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्)।

दण्डी का कथन है कि माधुर्य अग्राम्यता में प्रतिष्ठित है। अग्राम्यता का अर्थ है वैदग्ध्य। वैदग्ध्यभङ्गिभणिति वैदग्ध्य की द्योतक है। ऐसी भणिति ही वक्रोक्ति है। भामह कहते हैं कि वक्रोक्ति ही काव्यसौदर्य का घटक (अलकार) है। वक्रोक्ति का अर्थ है उक्तिवैचित्र्य। उक्तिवैचित्र्य का अर्थ माधुर्य है ऐसा वामन का कथन है। और इन सब का अर्थ है भाषण की जनसाधारण से भिन्न शैली। इसी को 'उक्ति-विशेष' की सज्ञा है। काव्य और शास्त्र में शब्द और अर्थ तो समान रहते हैं। किन्तु उन्ही शब्दार्थो को उक्तिविशेष के कारण काव्यत्व प्राप्त होता है ऐसा राजशेखर का कथन है (४)।

वक्रोक्ति के विरुद्ध ग्राम्यता है, स्वभावोक्ति नहीं

भाषण की जनसाधारण से भिन्न शैली को ही भामह ने वक्रोक्ति कहा है। विदग्धता और वक्रोक्ति में अव्यभिचारी संबन्ध है। प्राय वक्रोक्ति के विरुद्ध स्वभावोक्ति समझी जाती है। किन्तु यह ठीक नही। क्यों कि स्वभावोक्ति के लिए भी विदग्धता आवश्यक होती है।

चलापागा दृष्टि स्पृशसि बहुशो वेपथुमती
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचर।
कर व्याधुन्वन्त्या पिबसि रतिसर्वस्वमधर
वय तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्व खलु कृती॥

कालिदास के इस प्रसिद्ध श्लोक में भ्रमरस्वभावोक्ति है। किन्तु भ्रमर का यह कविकृत वर्णन कुछ जीवशास्त्रज्ञ ने वर्णित भ्रमरव्यापार नही है। विदग्धजन का वह स्वाभिप्रायप्रकाशन है। अथवा—

---

४. अत्थविसेसा ते चिअ सद्दा ते चेअ परिणमन्ता वि।
उत्तिविसेसो कव्वं भासा जा होइ ता होदु॥

बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्च कुर्वन् मनसि निर्वृतिम्।
नेत्रे निमीलयन्नेष. प्रियस्पर्शः प्रवर्तते॥

प्रियास्पर्श सुखकारी होता है इस बात की प्रतीति यह गुणस्वभावोक्ति करा देती है; इसमें भी एक माधुरी है, एक विदग्धता है। हमें तत्काल प्रतीत होता है कि इस प्रकार बोलनेवाला व्यक्ति बडा चतुर होना चाहिये। स्वभावोक्ति में भी बिना विदग्धता के काव्य नही हो सकता। यदि ऐसा न हो, तो मानना पड़ेगा कि—

गोरपत्यं बलीवर्दं, घांसमत्ति मुखेन स.।
मूत्र मुचति शिस्नेन, अपानेन च गोमयम्॥

इस पद्य में भी काव्य है। इस पद्य में भी बैल के व्यापार का वर्णन यथासत्य है। किन्तु वह ग्राम्य है अतएव उसमें काव्य नही है। वक्रोक्ति से वैदग्ध्य प्रतीत होता है, एवं स्वभावोक्ति के लिए भी वैदग्ध्य आवश्यक होता है। अतएव साहित्यशास्त्र में, वक्रोक्ति के विरुद्ध अर्थ का दर्शक शब्द स्वभावोक्ति न होकर 'ग्राम्यता' है। यदि वक्रोक्ति काव्य का प्राण है तो ग्राम्यता काव्य का प्राणघाती दोष है।

विदग्धगोष्ठी में चलती हुई चर्चा से ही आरम्भकालीन ग्रन्थ निर्माण हुए

वक्रोक्ति ही वैदग्ध्यभङ्गिभणिति है यो कहते ही विदग्धता से सबन्धित अनेक कल्पनाएँ एकत्रित होती है। वात्स्यायन का नागरक विदग्धजन है इस बात का स्मरण होता है। नागरक का नाम लेते ही उसका गोष्ठीसमवाय याद आता है। नागरक विदग्ध है अतएव यह गोष्ठीसमवाय भी विदग्धजनो का ही होना चाहिये। यह कल्पना मनमें आते ही दण्डी की 'विदग्ध गोष्ठी' सम्मुख उपस्थित होती है। "काव्यशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति विदग्धगोष्ठी में विहार करने मे समर्थ होता है।" दण्डी का यह वचन स्मरण होते ही राजशेखर की बताई हुई काव्यगोष्ठी याद आती है। और वात्स्यायन के ये विदग्ध नागरक प्रतिमास या प्रतिपक्ष नियत दिन छोटा-सा सम्मेलन करते थे। इस समेलन को 'समाज' कहा जाता था तथा उसमें भाग लेनेवाले 'सामाजिक' कहलाते थे (५)। सामाजिक का नाम लेते ही काव्य का रसिक सम्मुख उपस्थित होता है, क्योंकि साहित्यशास्त्र में ये दोनो पर्याय शब्द है।

---

५. कामसूत्र १।४।२७ पर जयमगला देखने लायक है। "पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तनां नित्य समाजः।" इस पर जयमंगलाकार यशोधर कहते हैं, "सरस्वती च नागरकाणां विद्याकलासु अधिदेवता, तस्या आयतने नियुक्तानां–नायकेन पूजोपचारकर्त्वे प्रतिपक्षं प्रतिमास च ये नियुक्ताः नागरकनटाद्यो नर्तितुम्, तेषा समाजः स्वव्यापारानुष्ठानेन मिलनं, यस्मिन् प्रवृत्ते नागरकाः सामाजिका भवन्ति॥"

और इन सारी कल्पनाओ को एकत्रित करने पर प्रतीत होता है कि इन काव्य-गोष्ठियो में या विदग्धगोष्ठियो में काव्यचर्चा होना निश्चय ही स्वाभाविक है। इस प्रकार की चर्चाओ में से अनेक वाद निकले होगे; अनेको बार मतभेद हुए होगे; और उन्ही से काव्यशास्त्र के लिए आवश्यक कच्चा माल (raw material) प्राप्त हुआ होगा। कई नागरक अपनी चर्चा काव्यपरीक्षण और रसग्रहणतक ही सीमित रखते होगे, दूसरे कोई खण्डन-मण्डन आदि भी करते होगे, और कुछ इनेगिने नागरक काव्यचर्चा के कारण ही अन्य शास्त्रो के क्षेत्र में प्रवेश करते हुए ऊहापोह करते होगे। इस प्रकार की इस काव्यचर्चा मे पूर्वाचार्यो का कथन, समकालीन लोगो के मत, अपने उनसे मतभेद आदि सभी विषयो की चर्चा चलती होगी। समय समय पर आधार के लिए अथवा उदाहरणो के लिए शास्त्रग्रथ और काव्यग्रन्थ दोनों का उपयोग किया जाता होगा। संभवत. इस प्रकार की काव्यचर्चा से ही भामह-दण्डी आदि के ग्रन्थ निर्माण हुए हो।

भामह के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालकार' है और दण्डी का ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है। शायद काव्यालकार के साथ ही भामह ने कलाओ पर भी किसी ग्रन्थ की रचना की थी। क्योकि भामह के नाम से 'कलासग्रहकारिका' मिलती है। दण्डी भी कलापरिच्छेद का निर्देश करते है। भामह के 'काव्यालकार' और 'कलासंग्रह-कारिका' एवं दण्डी के 'काव्यादर्श' और 'कलापरिच्छेद' इन युग्मों पर ध्यान देने से विचार होता है कि इन ग्रन्थकारो का नागरिक गोष्ठियों से और भी निकट संबन्ध था। यह तो प्रकट है ही कि वात्स्यायन के नागरकाधिकरण का नागरक गोष्ठियो से सबन्ध है। उसमें दी हुई विविध कलाएँ भामह के कला-सग्रह में भी है। हो सकता है कि दण्डी का 'कलापरिच्छेद' भी इसी प्रकार का एक ग्रन्थ था। इस प्रकार, भामह और दण्डी का नागरक गोष्ठियों से साक्षात् सबन्ध होना असभव नही। इस प्रकार का सबन्ध सभवनीय है यह स्वीकार होने से, इन ग्रन्थकारो की काव्यविवेचना का मूलस्रोत भी काव्यगोष्ठी या काव्यविवेचना में है यह भी अनायास माना जा सकता है। विदग्धगोष्ठी और काव्यशास्त्र का अध्ययन इन दोनो में दण्डी ने जो सबन्ध बताया उस पर ध्यान देने से तो इस विषय में कोई सदेह भी नही रहता। (६)।

भामह और दण्डी (सन् ६०० से ७५० ईसवी).

भामह और दण्डी यह दोनो ग्रन्थकार काव्यचर्चा के स्वतन्त्र युग के उपलब्ध ग्रन्थकारो में से आरम्भकालीन ग्रन्थकार है। दोनो भी ख्रिस्ताब्द ६०० से

६. तदस्ततंद्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु सूक्तिमिच्छुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जना· कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥ (का. द. १।१०५)

७५० तक के काल में हुए। इन दोनो में से पहले कौन हुआ इस विषय में विद्वानो में एकमत नही है। प्रकृत विवेचना की दृष्टि से हम ख्रि. ६०० से ७५० तक के डेढ सौ वर्ष के काल के एक कालखण्ड की कल्पना करेंगे और इन दोनो ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से यह समझने का यत्न करेंगे कि इस कालखण्ड में काव्यचर्चा का स्वरूप क्या होगा।

दोनों के दृष्टिकोण में अंतर

भामह और दण्डी दोनो के ग्रन्थो की सामग्री काव्यगोष्ठियो की चर्चा से प्राप्त हुई है। फिर भी दोनो की विवेचना में काफी भेद है। दण्डी के ग्रन्थ में काव्य-मार्ग और अलकार का ऊहापोह है। भामह के ग्रन्थ में इसके साथ ही अन्य शास्त्र-कारो से — विशेषरूप में वैयाकरण और नैयायिको से — वाद किये हुए है। दण्डी ने इस प्रकार वाद नही किये। काव्यमार्ग और अलकारों का ठीक स्वरूप समझा देना यही दण्डी का प्रयोजन प्रतीत होता है, तो अन्य शास्त्रों से समान प्रतिष्ठा काव्य को भी प्राप्त करा देना इस प्रकार का दोहरा उद्देश्य भामह का प्रतीत होता है। उद्दिष्ट की इस भिन्नता के कारण दण्डी और भामह दोनों का विषय एक होने पर भी विवेचना के स्वरूप में आरभ से ही भेद है।

आरभिक सरस्वतीवदना के उपरान्त, वाणीका ठीक प्रकार से उपयोग एव काव्य की निर्दोषता के विषय में दण्डी कहते है —"सुप्रयुक्त वाणी तो इष्ट वस्तु प्रदान करनेवाली कामधेनु ही है। किन्तु यदि वाणी का दुष्प्रयोग किया गया तो वही वाणी सूचित करती है कि वक्ता ठेठ बैल है। इस लिए, कवि को काव्य में अल्प दोष की भी उपेक्षा नही करनी चाहिए। शरीर कितना भी सुदर क्यो न हो, कोढ के एक ही दाग से भी विरूप दीखता है। किन्तु ये गुणदोष शास्त्रज्ञान के बिना समझना सभव नही। रग रग में भेद का निर्णय करने का अधिकार अध को कैसे प्राप्त हो सकता है?" (७)। साराश, दण्डी के काव्य का उद्देश्य है कवि और रसिक दोनो को काव्यशास्त्र का ज्ञान करा देना एव उसकी सहाय्यता से उन्हे कवित्व तथा रसिकत्व का अधिकार प्राप्त कराना।

---

७. गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शसति ॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन।
स्याद्वपुः सुंदरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥
गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
नह्यंधस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥ (१।६-८)

इसके विपरीत भामह के ग्रन्थ का आरम्भ देखिये। मगलाचरण के अनन्तर भामह कहते हैं—"सत्काव्य का निर्माण पाठक को चतुर्विध पुरुषार्थ एव कलाओ में विचक्षण तो बनाता है ही, और भी आनद तथा कीर्ति का भी लाभ करा देता है (८)।" स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि काव्य का चतुर्विध पुरुषार्थ के साथ सबन्ध स्थापित करने में भामह का उद्देश्य काव्य को शास्त्र से समानता देने का – इतना ही नहीं शास्त्र से काव्य को श्रेष्ठ सिद्ध करने का है। शास्त्र तो केवल चतुर्विध पुरुषार्थो का ही ज्ञान करा देता है। काव्य से यह तो होता है ही; और इसके अतिरिक्त कलाओ में निपुणता एवम् आनद और कीर्ति का भी उससे लाभ होता है। इतने पर भी भामह नही रुकते। उनका कथन है कि बिना कवित्व की सगत के केवल शास्त्रज्ञान का भी कोई मूल्य नही है।" जिस प्रकार धन के अभाव मे दातृत्व का कोई मूल्य नही, जिस प्रकार बिना पौरुष के अस्त्रविद्या का कोई मूल्य नही या अज्ञ पुरुष की प्रगल्भता में कोई अर्थ नही उसी प्रकार बिना कवित्व के शास्त्रज्ञान से भी कोई लाभ नही। विनय न हो तो ऐश्वर्य का क्या कोई मूल्य है ? चन्द्रमा के न होने पर रात्रि की क्या कोई रम्यता है ? इसी प्रकार, कवित्व न हो तो वाणी पर प्रभुता होने से क्या लाभ ? " (९)। भामह कहना चाहते हैं कि अपना प्रभाव स्थिर करने में शास्त्र को भी कवित्व का साथ आवश्यक है। इसके अगले श्लोक में तो शास्त्रज्ञ से भी कवि का श्रेष्ठत्व भामह स्पष्ट शब्दो में बताते हैं—"शास्त्र की क्या बात ? गुरु के निकट पढ पढ कर मन्दबुद्धि पुरुष भी उसको ग्रहण कर सकता है। काव्य ऐसा नही होता। अगर कर सका तो कोई बिरला प्रतिभावान् व्यक्ति ही काव्य का निर्माण कर सकता है (गुरु से पाठ लेकर कवि नही बन सकते, इसके लिए तो मूल प्रतिभा ही चाहिये।)" (१०)। ग्रन्थ के आरम्भ में भामह का यह लक्ष्य देखने से उनका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। काव्य के विषय में तुच्छता से बोलनेवाले शास्त्रज्ञों का एक वर्ग उनके सम्मुख है। भामह उन्हे बडा तीखा जवाब दे रहे हैं। भामह के कथन का लक्ष्य देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्हे काव्य को शास्त्रो से समान प्रतिष्ठा प्राप्त करानी है।

---

८. धर्मार्थकाममोक्षेषु, वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिंच साधुकाव्यनिबंधनम्॥ (१।२)

९ अधनस्यैव दातृत्वं, क्लीबस्यैवास्त्रकौशलम्।
अज्ञस्यैव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम्॥
विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता॥ (१।३,४)

१०. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः॥ (१।५)

इसी कारण से प्रत्यक्ष विषय का आरम्भ करने में भी भामह की विजिगीषु प्रवृत्ति ही दिखाई देती है। दण्डी की तुलना में तो वह और भी अधिक प्रतीत होती है। दण्डी विषय का उपन्यास इस प्रकार करते है— "अतएव, लोक व्युत्पन्न हो इस उद्देश्य से पूर्वसूरियो ने वैचित्र्यपूर्ण मार्गो से प्रकट होनेवाली वाणी का (काव्य का) क्रियाविधि बताया। उसमें उन्होने काव्य का शरीर क्या है और अलकार कौनसे है यह बताया। इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न पदो का समूह ही काव्य का शरीर है (११)।"— जनता को व्युत्पन्न करना (प्रजाना व्युत्पत्तिमभिसधाय), उसे काव्यगत गुण और दोष समझने मे समर्थ करना यही दण्डी की दृष्टि में शास्त्र का प्रयोजन है। इसके विपरीत भामह का विषयोपन्यास देखिए—

रूपकादिरलकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदित ।
न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनिताननम् ।।
रूपकादिमलकार बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपा तिङा च व्युत्पत्ति वाचा वाच्छन्त्यलक्कृतिम् ।।
तदेतदाहु· सौशब्द्य नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालकारभेदादिष्ट द्वय तु न· ।।
शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—

भामह के समय में साहित्यपडितों में दो वाद प्रचलित थे। कतिपय पडितो की संमति थी कि रूपक आदि अलकारो को काव्य के अन्तरग में स्थान है। "वनितामुख स्वभावतः सुदर होने पर भी बिना अलकारो के शोभायमान होता नही।" ऐसा उनका मन्तव्य था। किन्तु साहित्यिको का दूसरा भी एक वर्ग था। रूपक आदि अलंकारो को वह बाह्य अर्थात् अनावश्यक मानता था। काव्य में सुप्तिङव्युत्पत्ति अर्थात् व्याकरणशुद्धता होना ही काफी है। व्याकरण की शुद्धि ही काव्य का एकमात्र अलंकार है ऐसा इस दूसरे वर्ग का कहना था। भामह को यह दूसरा मत स्वीकार नही था। सुप्तिङव्युत्पत्ति तो केवल सौशब्द्य अर्थात् शब्दव्युत्पत्ति है; शब्दव्युत्पत्ति तो कोई अर्थव्युत्पत्ति नही होती। दोनो भिन्न है। शब्दार्थालकारों में भी भेद है। काव्य के लिए इन दोनो की भी (सुप्तिङव्युत्पत्ति तथा अर्थालकार) समान आवश्यकता है। क्योकि, शब्द और अर्थ दोनो के योग से काव्य होता है, ऐसी भामह की समति थी।

इस प्रकार, विषय का आरम्भ ही भामह वाद से करते है। वाद के द्वारा

११. अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरय· ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ।।
तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।
शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलि· ।। (१।९,१०)

साहित्य के प्रमेय प्रस्तुत करने में एक ओर काव्य के विरोधक और दूसरी ओर कविब्रुव दोनो की कडी आलोचना करनी पडती है। इसी कारण उनकी आलोचना में प्रखरता है। 'मन्यन्ते सुधियोऽपरे', 'नमोस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो' इस प्रकार समय पर उपहास करने में भी वे हिचकिचाते नही।

भामह का शास्त्रकारों द्वारा विरोध

भामह के विरोधियो में दो प्रमुख थे—वैयाकरण और नैयायिक। पडितों के इन दो वर्गो का साहित्य के पडितो के साथ परम्परा से वैर चलता आया था। ध्वनिकार तथा क्षेमेन्द्र ने भी इन दोनो की आलोचना की है। ध्वनिकार कहते है, 'केवल शब्द-विद्या से या तर्क के पांडित्य से काव्य के अर्थ का आकलन नहीं होता' (१२); तो क्षेमेन्द्र का कविशिष्यों से अनुरोध है कि, 'यदि तुम्हें सत्कवि बनना है तो किसी शब्द-पडित या तर्कपडित को गुरु मत करो, पढाने पर भी वे काव्य नही समझ सकते (१३)।' ध्वनिकार तथा क्षेमेन्द्र के काल में साहित्यशास्त्र लब्धप्रतिष्ठ हुआ था। ऐसे समय में भी यदि वे तार्किको की एवं शाब्दिकों की आलोचना करते है तो भामह को उनकी ओर से कितना विरोध हुआ होगा?

फिर भी एक दृष्टि से भामह को यह विरोध हुआ यह ठीक ही हुआ। क्योंकि उसी कारण काव्य की विशेषता का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन होना आरभ हुआ एवम् उसीसे काव्यन्यायनिर्णय (Logic of Poetry) और काव्यशब्दसाधुत्व (Grammar of Poetry) निर्माण हुआ। भामह ने इन दोनो की अपने ग्रन्थ में चर्चा की है (१४)। इस चर्चा का स्वरूप हम संक्षेप में देखेंगे। सर्वप्रथम शब्दसाधुत्व के विषय में उनके विचार हम देखेंगे।

---

१२ शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

१३. कुर्वीत साहित्यविदः सकाशे श्रुतार्जनं काव्यसमुद्भवाय।
न शाब्दिकं केवलतार्किकं वा कुर्यात् गुरुं सूक्तिविकासविघ्नम्।
यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाप्यविद्धकर्णः कविसूक्तिबन्धैः।
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्यात् शिक्षासहस्रैरपि सुप्रयुक्तैः॥

१४. भामह के ग्रंथ में विषयविभाग इस प्रकार है।
षष्ट्या शरीरं निर्णीतं, शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः, सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यात् इत्येव वस्तुपंचकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैः भामहेन क्रमेण वः॥

इनमें न्यायनिर्णय=काव्यन्यायनिर्णय और शब्दशुद्धि=काव्यशब्दशुद्धि हैं। येही नाम उन्होंने परिच्छेदों के दिये हैं।

काव्यशब्दसाधुत्व (Grammar of Poetry)

शब्दव्युत्पत्तिवादियो का कहना यह है, काव्य में शब्दशास्त्र की दृष्टि से निर्दोषता होना इतना भर काफी है। वही वास्तव में अलकार है। रूपक आदि अलकारो की काव्य के लिए कोई आवश्यकता नही है, वे तो बाह्य हैं। इसपर भामह का प्रत्युत्तर है कि शब्दव्युत्पत्ति तो केवल सुशब्दता है। वह केवल शब्द-सस्कार है। किन्तु केवल शब्दसस्कार से काव्य नही होता। उसे अर्थसंस्कार भी आवश्यक है। शब्द और अर्थ दोनो मिलकर काव्य होता है। शब्दसस्कार व्याकरण से होता है; अर्थसस्कार वक्रोक्ति से होता है। अतएव, केवल व्याकरण की दृष्टि से रचना ठीक है इस लिए वह काव्य है ऐसी बात नही। वह तो वार्तामात्र होगी। अतएव अभिप्रेत अर्थ के लिए कवि को शब्द चुनना पडता है।

अर्थात् व्याकरणस्थित शब्दसाधुत्व और काव्यस्थित शब्दसाधुत्व दोनो में भेद होता है। व्याकरण में शब्दसाधुत्व सुप्तिङ्व्युत्पत्ति से होता है, किन्तु अर्थ-व्युत्पत्ति के लिए वक्रोक्ति की आवश्यकता होती है। भामह को व्याकरण अस्वीकार नही है; उन्हे भी व्याकरण उतना ही प्रमाण है जितना कि वह वैयाकरण को हो। किन्तु व्याकरण की शुद्धि होने से ही कोई भी शब्द उनके लिए स्वीकार्य नही है। कवि के चुने हुए शब्दो से उसका वैदग्ध्य प्रतीत होना चाहिये। "पश्यति स्त्री" और "विलोकयति कान्ता" दोनो वचन व्याकरण की दृष्टि में समान हैं, काव्य की दृष्टि में नही। "मार्जन्त्यधरराग ते पतन्तो बाष्पबिन्दवः" (६।३१)। यही अर्थ 'मृजन्त्यधरराग ते" इस प्रकार भी कहा जा सकता है। शब्दव्युत्पत्ति के अनुसार उसमें कोई भेद नही होगा किन्तु कवि की दृष्टि में उसमें निश्चय ही भेद होगा। 'मार्जन्ति' और 'मृजन्ति' दोनो 'मृज्' धातु के ही रूप हैं। किन्तु 'मार्जन्ति' के उच्चारण में जो कोमलता, सफाई और मृदुता है वह 'मृजन्ति' के उच्चारण में नही। और जिस अवसर पर कवि यह प्रयोग कर रहा है वह अवसर भी उतना ही कोमल है। रूठ कर अश्रुपात करती हुई प्रिया को मनाते हुए कवि कहता है, 'अब तो मान जाओ, यह टपकते हुए अश्रु तुम्हारे होंठो का रग भी धुला रहे है।" ऐसे प्रसग में 'मृजन्ति' की अपेक्षा 'मार्जन्ति' पद काव्य की दृष्टि में उचित है। शब्दो का उच्चारण ही केवल नही, तो अनुपद आये हुए दो वर्णों की सधि भी अपनी उक्ति के लिए पोषक है या नहीं यह देखना भी कवि के लिए आवश्यक हो जाता है। 'एतत् + श्याम' इन पदो की सन्धि 'एतच्छ्याम' होती है। व्याकरण की दृष्टि से इसमें कोई दोष नही है। किन्तु "यथैतच्छ्याममाभाति वनं वनजलोचने" इस पंक्ति में इसी सन्धि के कारण श्रुतिकटुत्व आया हुआ है। अतएव व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी काव्य की दृष्टि से यह सन्धि दुष्ट है। और इसी लिए भामह को

'न तवर्ग शकारेण क्वचित्संयोगिन वदेत्' (६।६०)' वाला काव्यगत शब्द-शुद्धि का नियम बताना पड़ता है।

इसी हेतु भामह ने 'काव्यशब्दशुद्धि' नामक छठा परिच्छेद लिखा है। उसमें वे कहते हैं—

वक्रवाचा कवीना ये प्रयोग प्रति साधव ।
प्रयोक्तु ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते ।। (६८।२३)

वक्रोक्तियुक्त काव्य की दृष्टि से कौनसे शब्द प्रयोगार्ह है और कौनसे शब्द प्रयोगार्ह नही है इसका विवेचन करना—अर्थात् काव्य की दृष्टि से शब्दों का साधुत्व और असाधुत्व निर्धारित करना, यह इस परिच्छेद का प्रयोजन है। भाषा में हरएक शब्द के साधुत्व तथा असाधुत्व का निर्धारक शास्त्र जैसे भाषा का व्याकरण है वैसे ही काव्य में शब्दो के साधुत्व तथा असाधुत्व का निर्धारक शास्त्र काव्य का व्याकरण है।

और भामह ने यह परिच्छेद भी ऐसा लिखा है कि 'काव्य का व्याकरण' की सज्ञा सार्थक हो जाती है। परिच्छेद के आरम्भ में ही भामह कहते है कि व्याकरण का ज्ञान होना कवि के लिए नितान्त आवश्यक है। केवल दूसरो के प्रयोग देख कर लिखनेवाला कवि 'अन्यसारस्वत' है (अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिन·।) ; भामह का स्पष्टरूप से कथन है कि ऐसा कवि सिद्धसारस्वत नही हो सकता। इसके अनन्तर, शब्द क्या है इस विषय में अनेक मतों का परीक्षण करते हुए, शब्दो का सकेत लोकव्यवहार के आधार से ही कैसे निर्धारित करना पडता है इसका भामह विवेचन करते है। भामह का मत है कि शब्दो के सकेतित अर्थ को ही परम अर्थ समझने वाले मद है। उपरान्त, महाभाष्यकार के जात्यादिवाद के आधार से शब्दो के भेद बताते हुए काव्यप्रयोग की दृष्टि से 'साधु' तथा 'असाधु' आदि कतिपय शब्दो का वे विवेचन करते है। 'प्रयोग प्रति साधवः' में 'साधवः' शब्द व्याकरणशास्त्र का है और उसी अर्थ में भामह ने भी उसका प्रयोग किया है। इतना ही नही, विशेष ध्यान देने की बात यह है कि, काव्यगत शब्दो का साधुत्व और असाधुत्व निर्धारित करने में भामह ने क्रम भी पाणिनीय अष्टाध्यायी से ही लिया है। इस प्रकार केवल तात्पर्यतः ही नही, तो स्वरूपत. भी भामह ने काव्य का व्याकरण बनाया है (१५)।

वक्रोक्ति का आश्रय न लेकर केवल अपना शब्दपांडित्य दर्शाने के लिए दुर्बोध

---

१५. पाणिनीय अष्टाध्यायी 'वृद्धिरादैच्' सूत्र से आरंभ होती है तो भामह का शब्द-साधुत्वनिर्णय 'वृद्धिपक्षं प्रयुंजीत' इस प्रकार 'वृद्धि' शब्द से ही आरंभ होता है। और इसके बाद के शब्द भी अष्टाध्यायी के क्रम से ही आते हैं।

और व्याख्यागम्य काव्य लिखने वाले अनेक कवि भामह के समय में थे। व्याख्यागम्य काव्य के उदाहरणस्वरूप भामह ने रामशर्म कवि के 'अच्युतोत्तर' नामक काव्य का उल्लेख किया है। सभवत, आधुनिक काल में प्रसिद्ध भट्टिकाव्य भी भामह के सम्मुख था (१६)। ऐसे काव्यो का समर्थन करनेवाला साहित्यमीमासकों का एक वर्ग भामह के समय में था। भामह का इस वर्ग से बिलकुल ही नही बनता था। ऐसे किसी काव्यमीमासक का भामह ने नाम से तो निर्देश नही किया, किन्तु ग्रन्थान्तर से प्रतीत होता है कि भामह के इन विरोधियो में 'मगल' नामक साहित्यपडित था (१७)। मगल के मतो के यत्रतत्र जो उल्लेख मिलते है उन्हें एकत्रित करने से इस वर्ग के मतो की कुछ कल्पना की जा सकती है। इन लोगो की समति में 'काव्य-पाक' तो केवल 'सुपा तिङा श्रव।' अर्थात् शब्दव्युत्पत्ति है (१८)। इन के विचार में प्रतिभा से भी व्युत्पत्ति श्रेयस्कर है। काव्य के लिए प्रतिभा आवश्यक नही। प्रतिभा के अभाव की पूर्ति व्युत्पत्ति से हो सकती है। इस लिए केवल वैचित्र्य और वैदग्ध्य पर बल देनेवाली काव्यरचना इनकी भी संमति में त्याज्य है (१९)। यह सब भामह को पूर्णरूपेण अस्वीकार था। सुप्तिङव्युत्पत्ति तो केवल सौशब्द्य है, काव्य नही, काव्य तो किसी प्रतिभावान् को ही स्फुरित होता है ऐसा भामह का कथन था। मगल के वचन और भामह की सबन्धित कारिकाओ में परस्पर तुलना करने से, ग्रथ के आरभ में ही भामह किसका प्रतिवाद कर रहे है यह शीघ्र समझ में आ जाता है।

---

१६. "व्याख्यागम्यमिद काव्यमुत्सवः सुधियामयम्। हता दुर्मेधसाश्चास्मिन् विदुषां प्रीतये मया॥" ऐसा भट्टि ने अपने काव्य के विषय में लिखा है। प्रतीत होता है कि भामह ने भी "काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्। उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥" वाली कारिका लिखकर, भट्टि के शब्दों में ही उनका प्रत्याख्यान किया है।

१७. राजशेखर : काव्यमीमांसा।

१८. "कः पुनरय पाक ?" इत्याचार्या.। 'परिणाम' इति मङ्गलः। कः पुनरयं परिणामः' इत्याचार्याः। 'सुपां तिङां च श्रवः, सैषा व्युत्पत्तिः' इति मङ्गल·। "सौशब्द्यमेतत्, पदनिवेशनिष्कंपता पाकः" इत्याचार्याः। का. मी. पृ. २०.

१९. 'व्युत्पत्तिः श्रेयसी' इति मङ्गलः।
'कवेः संव्रियतेऽशक्तिः व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धीचित्रचित्तानां हेया शब्दार्थगुफना॥' (का मी. १।११६)
इसपर भामह ने उत्तर तो दिया है ही किन्तु ध्वन्यालोक से प्रतीत होता है कि प्रतिभावादियों ने भी 'अव्युत्पत्तिकृतो दोष. शक्त्या संव्रियते कवेः।' इस प्रकार व्युत्पत्ति-वादियों के शब्दों में ही उत्तर दिया है।

भामह का काव्यन्यायनिर्णय (Logic of Poetry)

काव्य के लिए शब्दव्युत्पत्ति के साथ ही अर्थव्युत्पत्ति अर्थात् वक्रोक्ति की आवश्यकता है यह सिद्ध करने में भामह को शब्दपडितों से वाद करना पडा और वक्रोक्ति की सत्यता प्रस्थापित करने के लिए उन्हे तार्किको से झगड़ना पडा। 'काव्य-न्यायनिर्णय' नामक पॉचवे परिच्छेद में उन्होने इस विषय की चर्चा की है।

भामह का विवेचन समझने के लिए हम कुछ उदाहरण लें—कोई प्रियतम अपनी प्रेमिका से कहता है—

> शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिर
> किमभिधानमसावकरोत्तप·।
> सुमुखि, येन तवाधरपाटल
> दशति बिम्बफल शुकशावक.॥

"हे सुमुखि, इस तोते ने कौनसे पर्वत पर तप किया हो? कितने समय तक किया हो? और वह तप भी क्या हो कि तुम्हारे अधर के समान रक्तवर्ण इस बिम्बफल का वह आस्वाद ले रहा है?" इस पद्य में अभिव्यक्त हुआ वक्ता का अभिप्राय और इस वाक्य का केवल वाच्यार्थ इन दोनो में सबन्ध न्यायशास्त्र के सिद्धान्तो से नही सिद्ध हो सकता। अथवा—

> भ्रमर, भ्रमता दिगन्तराणि
> क्वचिदासादितमीक्षित श्रुत वा।
> वद सत्यमपास्य पक्षपात
> यदि जातीकुसुमानुकारि पुष्पम्॥

"हे भ्रमर, तुम दसो दिशाओं में भ्रमण कर आये हो। अब, बिना पक्षपात किये मुझे बताओ कि जातीपुष्प के समान पुष्प तुमने पाया है, देखा है या सुना भी है?" नायिका की सखी ने नायक से पूछे इस प्रश्न का व्यङ्ग्य नायक की ओर कैसे होता है यह न्यायशास्त्र के सिद्धान्तो से नही समझा जाता। उपर्युक्त उदाहरणो में बोलने की जो रीति है वही यदि वक्रोक्ति है तो वह तर्कविद्या को स्वीकार होना कतई संभव नही। इसी लिए काव्य में असत्य होता है ऐसा तार्किक कहेगे। नैयायिकों के इस आक्षेप पर प्रतिवचन देते हुए वक्रोक्ति की सत्यता सिद्ध करने के लिए भामह काव्यन्याय का निर्णय कर रहे हैं।

भामह का आशय यह हैं—विश्व के पदार्थो की सत्यता प्रमाणों से निर्धारित करनी पड़ती है। प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण है। उनमें व्यक्ति या विशेष का

है। शब्द भी दूर से सुनाई नही देता, वह तो कर्ण शष्कुली में ही होता है। नदियो का पानी प्रतिक्षण बदलता रहता है, और आकाश में ग्रहगोल तो क्षणभर के लिए भी स्थिर नही होते, ऐसा शास्त्र का कथन है। अतएव उपर्युक्त वर्णन शास्त्र की दृष्टि में (यथार्थत.) असत्य है। किन्तु लोकव्यवहार और लोकानुभव से उपर्युक्त वर्णनो की सत्यता हमारे लिए प्रमाणित होती है। शास्त्रत जो 'आभास' निर्धारित है वह कई बार लोकव्यवहार तथा लोकानुभव की दृष्टि से सत्य सिद्ध होता है। काव्य का आधार लोकानुभव है। काव्य लोकानुभव का अनुवाद करता है। इस लिए काव्यगत वर्णन भी लोकानुभव की दृष्टि में सत्य होते हैं। यही काव्यन्याय में प्रत्यक्ष है। काव्यस्थित इस प्रत्यक्ष को शास्त्रनियमो से नही अपितु लोकानुभव से पडतालना है '(२३)।

काव्यगत अनुमान — अर्थसिद्धि का दूसरा प्रमाण है अनुमान। अनुमान के तीन अग — प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त — काव्यगत अनुमान में भी होते हैं। किन्तु उनकी काव्यगत सत्यता लोकाश्रित ही होती है। इन सभी का उदाहरणो के साथ उत्कृष्ट विवेचन भामह ने पाँचवे परिच्छेद में ३५ से ६० तक की कारिकाओ में किया है। जिज्ञासु वह मूल में ही देखें। केवल एक उदाहरण यहाँ हम प्रस्तुत करते हैं—

अथाभितो वनोभोगमेतदस्ति महत्सरः।
कूजनात् कुररीणां च कमलाना च सौरभात् ।। (५।४६)

कुररी का कूजन सुनाई दे रहा है और कमलो की सुगन्ध महक रही है, अत एव अनुमान होता है कि इस वन में पास ही कही सरोवर होना चाहिये। यहाँ 'सरोवर का अस्तित्व' साध्य है और उसका साधक हेतु 'कूजन' और 'सौरभ' है। न्यायशास्त्र के सिद्धान्तो के अनुसार देखें तो यहाँ हेतु ठीक नही है। क्योकि 'कूजन' और 'सौरभ' उस प्रदेश के धर्म न होने के कारण 'पक्षे सत्त्व' या 'पक्षधर्मता' यह धर्म यहाँ नहीं है। किन्तु ऐसा होनेपर भी यह अनुमान लोकानुगामी है और 'अन्यधर्मोऽपि तत्सिद्धि सम्बन्धेन करोत्ययम्।' इस भामह के वचन के अनुसार सत्य है। इसके विपरीत शास्त्रत. शुद्ध अनुमान भी लोकानुभव से सवादी न हो तो काव्य की दृष्टि से वह दोष होगा। उदाहरणार्थ —'काशा हरन्ति हृदयममी कुसुमसौरभात्।' — पुष्पो की सुगन्ध से यह काश मन को आकृष्ट करते हैं, यह अनुमान तन्त्र की दृष्टि से (Technically) निर्दोष है, किन्तु लोकानुभव से सवादी नही है। काश के फूल ही नही होते इस बात का कवि को विस्मरण हुआ और इसी लिए काव्य की दृष्टि से यह हेत्वाभास मात्र है।

२३. काव्यप्रत्यक्ष का अधिक विवेचन अनुपद किया जावेगा।

इस प्रकार काव्यगत प्रत्यक्ष और काव्यगत अनुमान का स्वरूप भामह ने लोकानुभव के आश्रय से विशद करते हुए, शास्त्रीय न्याय से वह कैसे भिन्न है यह दर्शाया है और उससे वक्रोक्ति की सत्यता सिद्ध की है। इस सम्पूर्ण विवेचन को उन्हो ने 'काव्यन्यायनिर्णय' की सज्ञा दी है। उनका यह न्यायनिर्णय Logic of Poetry ही है यह कहने में कोई आपत्ति नही।

इस प्रकार भामह ने अर्थसंस्कार की अर्थात् वक्रोक्ति की सत्यता का प्रतिपादन किया है और वह काव्य का अन्तरग (अबाह्य) किस प्रकार है यह भी दर्शाया है। न्याय तथा व्याकरण दोनो शास्त्रो के क्षेत्रो में प्रवेश करते हुए उन्होने शास्त्रकारो को काव्य का महत्त्व प्रमाणित कर दिखाया। इस सम्पूर्ण विवेचना मे उनका प्रकाण्डपाडित्य प्रतीत होता है। किन्तु भामह केवल पडित ही न थे। उनके शास्त्रज्ञान का रसिकता से मिलाप हुआ था। पाडित्य और वैदग्ध्य दोनो उनमे अविरोध से थे। अतएव तर्ककर्कश नैयायिक एवम् शब्दपडित वैयाकरण दोनो के सम्मुख काव्य की ओर से प्रतिवाद करने में वे अत्यन्त सफल रहे। भामह ने काव्यशास्त्र को अन्य शास्त्रो से समान प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी यह भामह का साहित्य के रसिको पर बडा भारी उपकार है। उत्तरवर्ती साहित्यमीमासको ने उनके इस उपकार का समय समयपर कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया है।

भामह के ग्रन्थ में जो विवेचन है इस प्रकार का विवेचन दण्डी के ग्रन्थ में नही पाया जाता। दण्डी को इस विवेचन की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती। 'विचार-कर्कश: प्रायस्तेनालीढेन कि फलम्' इतना कह कर वे विराम लेते है। दण्डी का उद्देश्य कविशिष्यो को और विदग्धगोष्ठी में नागरको को कवित्व के तथा रसिकत्व के पाठ देने का था, अन्य शास्त्रकारो से वाद करने का नही, इस बात पर ध्यान देने से कह सकते है कि उनका कहना उनके उद्देश्य के अनुकूल ही था। भामह तथा दण्डी मे यह भेद देखने पर लगता है कि भामह कविता का वकील है तो दण्डी कविता का अध्यापक है।

काव्य का निर्भीक आलोचक

भामह जिस काव्य की ओर से वकालत कर रहे है उस काव्य की कुछ विशेष इयत्ता उन्हे अपेक्षित है। भामह सत्काव्य और सत्कवि के रसिक है। साथ ही कुकाव्य और कविब्रुव दोनो का तिरस्कार करते है। सत्काव्य और सत्कवि का महत्त्व अन्य शास्त्रकारों को प्रमाणित कर दिखाने में भामह ने काव्यन्याय और काव्य का व्याकरण बनाया। किन्तु उसी विषय में उन्होंने कवियो से जो कहा है उससे उनकी वक्रोक्ति का रूप स्पष्ट हो गया। भामह कवियो से कहते है—सत्कवि काव्यरूप शरीर से चिरकाल जीवित रहते है। किन्तु कवित्व का अर्थ केवल पदरचना मात्र

नही होता। कवित्व एक तपस्या है। कवित्व के लिए व्याकरण, छन्द, अभिधान-कोष, इतिहास, लोकव्यवहार, युक्ति, कला आदि से परिचय आवश्यक है। सत्काव्य का पठन तथा विद्वानो का उपासन भी उसके साथ होना चाहिये। यह तो सही है कि बिना प्रतिभा के काव्य का सर्जन नही होता, किन्तु उस पर व्युत्पत्ति का अध्ययन-पूर्वक सस्कार न हो तो वह प्रतिभा प्रकाशित नही होती; और इतने परिश्रमो के बाद भी कोई बिरला ही 'महाकवि' के नाम से प्रसिद्ध होता है। एक सत्कवि के साथ अनेक कविब्रुव निर्माण होते हैं। 'गणयन्ति नापशब्द, न वृत्तभग, क्षयं न वार्ऽर्थस्य।' इस प्रकार वेश्यापति से समानता प्राप्त करनेवाले कविब्रुवो से भामह स्पष्ट रूप में कहते है—'भाईयो, कवित्व न भी हो तो चल सकता है, कवित्व न होने से अधिक से अधिक क्या होनेवाला है? अधर्म होगा, व्याधि होगा या दण्ड होगा। किन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मृत्यु ही है (२४)।"

इसी लिए भामह ने काव्यग्रन्थो की कडी जॉच की है। काव्य के लिए वक्रोक्ति की आवश्यकता है यह तो ठीक है, किन्तु वक्रोक्ति की भी कुछ सीमाएँ है इस बात को भामह खूब जानते है। वक्रोक्ति का अतिशयित मात्रा में उपयोग करने से कवि काव्य की क्या हानि करते है यह भामह ने भिन्न भिन्न काव्यो के उदाहरणो से स्पष्ट किया है। भामह कहते है—"अभिधेयवक्रता और शब्दवक्रता वाणी के भूषण तो है ही, किन्तु वक्रोक्ति की सीमाओ का पालन न किया तो महान् दोष होते हैं। महाकवि ये दोष नही होने देते। परन्तु कुकवि इस बात की ओर ध्यान ही नही देते। इस लिए उनके काव्य नेयार्थ, क्लिष्ट, अवाचक और अयुक्तिमत् होते है (२५)।" काव्य में अयुक्तता का भामह ने बड़ा ही सुदर उदाहरण दिया है। कालिदास ने 'मेघदूत' लिखा। ऐसा तो था नही कि वास्तव में मेघ दौत्य नही कर सकता इस बात को कालिदास का यक्ष जानता नही था। किन्तु विरह की उत्कण्ठा का उसके मन पर ऐसा प्रभाव जम गया था कि चेतन और अचेतन का उसे कोई भान ही नही रहा। इस लिए मेघ का दौत्यकर्म रसिक मान लेता है और उसमें उसे रुचि भी होती है। उसमें कुछ भी अयुक्त प्रतीत नही होता। कालिदास की यह अर्थवक्रता हमें आकृष्ट करती है। किन्तु कालिदास के मेघदूत के बाद 'दूतकाव्यो' की एक फैशन ही निकली। इन्दुदूत, वायुदूत, चक्रवाकदूत, आदि काव्य निर्माण हुए। कालिदास के समान

---

२४. अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्व पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ (१।१२)

२५. नेयार्थ क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढशब्दाभिधान च कवयो न प्रयुञ्जते॥ (१।३७)

इन कवियो ने युक्तता का ध्यान नही रखा। इस लिए उनकी वक्रोक्ति का टेढेपन में रूपातर हुआ। भामह ने ऐसे कवियो की कडी आलोचना की है (१।४२-४४)।

भामहकालीन साहित्यपडितो में और भी एक वाद का प्रश्न था। काव्य के वैदर्भ काव्य और गौड काव्य इस प्रकार भेद करते हुए वैदर्भ काव्य को श्रेष्ठ माननेवाला रसिको का एक वर्ग था। काव्य में इस प्रकार के भेद भामह को स्वीकार न थे। इन रसिको की वे कडी आलोचना करते हैं। वे कहते हैं—'वैदर्भ काव्य और गौड काव्य ऐसे भेद भी किस सिद्धान्त के आधार पर कर सकते है? केवल गतानुगतिक न्याय से एक की भलाई और दूसरे की बुराई करने में क्या धरा है? काव्य तो अलकारवत्, अग्राम्य, अर्थवत्, न्याय्य और अनाकुल होना चाहिये। इन गुणों से यदि काव्य युक्त है तो गौडीय होने पर भी ग्राह्य है, और यदि ये गुण न हो तो वैदर्भ काव्य भी हेय है। केवल देश के नाम से काव्य अच्छा या बुरा नही हो सकता।'

दण्डी ने काव्यादर्श में वैदर्भ मार्ग और गौड मार्ग की विवेचना की है। इस पर से कतिपय विद्वानो ने तर्क किया है कि भामह की आलोचना का लक्ष्य दण्डी होगा किन्तु यह तर्क ठीक नही है। दण्डी ने इन दो मार्गो का कथन करने में न एक की भलाई की है न दूसरे की बुराई। "वाणी के अनेक मार्ग हैं। प्रत्येक में एक अपनी मधुरता है। उनमें से वैदर्भ और गौड ये दो 'प्रस्फुटातर' होने से उनका भेदपूर्वक वर्णन किया जा सकता है; वह मैं करूँगा।" इतना ही दण्डी ने कँहा है।

वक्रोक्ति और अभिनय

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलक्रुति·।' अथवा 'वाचा शब्दार्थवक्रोक्तिरलकाराय कल्पते।' ऐसा भामह ने स्पष्टरूप से कहा है। इसमें जो अभिप्राय है वह देखने का हम प्रयास करें। उपर्युक्त दोनों वचनो में से प्रथम वचन का अर्थ अभिनवगुप्त ने ऐसा किया है—'शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्।'—शब्द तथा अर्थ की लोकोत्तर रूप में काव्य में स्थिति ही वक्रोक्ति का स्वरूप है। शब्द तथा अर्थ के इस लोकोत्तर अवस्थान से ही काव्यार्थ का विभाजन होता है (अनयाऽर्थो विभाव्यते)। अर्थों का विभावन करना ही अलकारों का कार्य है। अतएव काव्य के लिए वक्रोक्ति आवश्यक है। भामह के समक्ष महाकाव्य का आदर्श है। नाटच से जो सौदर्य प्रतीत होता है वही महाकाव्य से भी होता है। किन्तु सौदर्य के आविर्भाव के दोनो के साधन भिन्न भिन्न हैं। नाटच में सौदर्य के आविर्भाव के लिए वेष, दृश्य संगीत आदि अनेको साधनो की सहायता मिलती है। काव्य में इन सब का कार्य शब्दो से ही कराना पड़ता है। 'कुमारसभव' की कथावस्तु लेकर यदि कालिदास ने नाटक रचा होता तो उसमें वसंत ऋतु

का दृश्य समक्ष प्रस्तुत किया होता। एव शिव तथा पार्वती के भावाभिप्राय अभिनय के द्वारा प्रकट हुए होते। किन्तु वही कार्य कालिदास अपनी वक्रोक्ति की सहायता से काव्य में भी सिद्ध करता है। और वह सपूर्ण प्रसग दर्शको के समक्ष 'प्रत्यक्षवत्' स्फुट रूप में उपस्थित करता है। यह सब कैसे होता है?

इसपर भामह का उत्तर है कि भाविकत्व गुण से यह सब होता है। "भाविकत्व काव्य का एक ऐसा गुण है कि जिससे भूतकालीन या भविष्यत्कालीन अर्थ हमें प्रत्यक्षवत् दिखाई देते है (२६)।" किन्तु यह गुण कवि अपने काव्य में कैसे लाता है? भामह का इसपर कहना यह है—

चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्व, **कथायाः स्वभिनीतता।**
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतु प्रचक्षते॥ (३।५४)

चित्र, उदात्त और अद्भुत काव्यार्थ होना तो कथा में भलीभाति अभिनीत होने की क्षमता होना, और शब्दो में प्रसन्नता (प्रसाद) होना, ये तीन समुच्चय से भाविकत्व के कारण होते है।' कथाया स्वभिनीतता' अत्यत महत्त्वपूर्ण शब्दप्रयोग है। **काव्य में भी अर्थ अभिनीत ही होता है।** अभिनवगुप्त कहते है—'काव्येऽपि सर्वो नाटचायमान एवार्थ.' यह अभिनय हम देखें कैसे? भामह का कथन है कि अलकारो से या वक्रोक्ति से वह रसिक को प्रतीत होता है।

अभिनय अच्छा रहा तो नाटचार्थ ठीक प्रकार से प्रतीत होता है। अभिनय अच्छा न रहा तो नाटक असफल होता है। ऐसा ही काव्य का भी है। वक्रोक्ति का ठीक उपयोग हुआ तो काव्यार्थ स्वभिनीत होता है। इसके विपरीत वक्रोक्ति का अयुक्त उपयोग होने से वही दुरभिनीत होता है एवं उससे वैरस्य आता है। "कुमारसभव" का तीसरा और पाँचवाँ सर्ग वक्रोक्ति से अर्थ के स्वाभिनीत होने के उत्तम उदाहरण हैं। स्थल के अभाव के कारण यहाँ उनकी स्वल्प कल्पना भी देना असभव है। पाठक उन्हें मूल में देखें। वक्रोक्ति के अयुक्त उपयोग से होने-वाली अर्थहानि का भामह ने यह उदाहरण दिया है—

क्वचिदग्रे प्रसरता क्वचिदापत्यनिघ्नता।
शुनेव सारगकुल त्वया भिन्न द्विषा बलम्॥ (२।५४)

राजा के विक्रम वर्णन के प्रसंग में कवि कहता है, "क्या आप के विक्रम का बखान करें! आप अकेले और शत्रु असख्यात। किन्तु कभी अचानक आक्रमण करते हुए या कभी अकस्मात् प्रहार करते हुए—कुत्ता जैसे हीरनों को खदेड़ता है उसी

२६ भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबंधविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥ (३।५३)

प्रकार आप ने शत्रुओ को मार भगाया!" यहाँ कवि ने अपनी वक्रोक्ति से विक्रम-शाली रणवीर के स्थानपर कुछ दूसरा ही चित्र उपस्थित किया है। यही काव्य की दुरभिनीतता है। उत्तरवर्ती आलकारिकों ने इसे ही अलकारदोष कहा है।

साराश, नाट्यार्थ आहार्यादि अभिनयो से अभिनीत होता है, तो काव्य में वही अर्थ वक्रोक्ति से अभिनीत होता है। नाट्यार्थ अभिनय से विभावित होता है तो काव्यार्थ वक्रोक्ति से विभावित होता है। नाट्य अभिनय में प्रतिष्ठित है तो काव्य अलंकारो में प्रतिष्ठित है। अभिनय नाट्यधर्मी है तो अलकार वक्रोक्ति है। नाट्यधर्मी के द्वारा लोकधर्मी प्रतीत होना नाट्य है तो वक्रोक्ति के द्वारा लोकानुभव प्रतीत होना काव्य है। नाट्यधर्मी का आधार लोकधर्मी है तो वक्रोक्ति भी लोकाश्रित ही है। नाट्यधर्मी ही नाट्यालकार है; इधर वक्रोक्ति ही काव्यालकार है। इसी लिए भामह कहते हैं—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
> यत्नोऽस्या कविभि· कार्य· कोऽलकारोऽनया विना ।। (२।८५)

अ ध्या य पाँ च वाँ
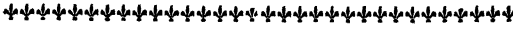
अलंकारशास्त्र का मार्गक्रमण

शब्दसस्कार के समान ही
अर्थसस्कार भी होता है।

शब्द के ग्राम्य अथवा सस्कृत रूप के समान अर्थ के भी ग्राम्य अथवा सस्कृत रूप होते हैं। शब्दसस्कार को शब्दव्युत्पत्ति या सौशब्द्य कहते है, अर्थसस्कार को अर्थ-व्युत्पत्ति या वक्रोक्ति कहा जाता है। भामह ने वक्रोक्ति के पर्याय के रूप में 'अर्थव्युत्पत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। शब्दव्युत्पत्ति का शास्त्र 'व्याकरण' है, अर्थव्युत्पत्ति का शास्त्र 'अलकार' है। व्याकरण शिष्टप्रयोगशरण होता है; अलंकारशास्त्र भी कविप्रयोगशरण होता है। 'शिष्टा. शब्देषु प्रमाणम्।' ऐसा महाभाष्यकार ने कहा है तो भामह का कहना है– 'कि च काव्यानि नेयानि लक्षणेन महात्मनाम्।' (२।४५), और एक महाकवि ही कहता है कि महाकवियो के काव्य का स्वरूप लोकातिक्रान्त होता है (१)। जब पाणिनि कहते हैं—

> उपोढरागेण विलोलतारक तथा गृहीत शशिना निशामुखम्।
> यथा समस्त तिमिराशुक तया पुरोऽपि रागात् गलित न लक्षितम्॥

या कालिदास लिखते है—

> अगुलीभिरिव केशसंचय सनियम्य तिमिर मरीचिभि।
> कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुख शशी॥

---

१. अतह ठ्ठिए वि तहसण्ठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकड कइगोअरा वाणी॥

अचेतन भावों को भी मानों सचेतन करते हुए उन्हें रसिक हृदय में संक्रान्त करनेवाली असीम सामर्थ्यशाली कविवाणी की जय हो।

तब वद्यप्रतिपदा की, चन्द्रमा के उदय की पार्थिव घटना प्रणयी युगुल के अपार्थिव प्रेमव्यवहार में परिणत होते हुए रसिकहृदय में सक्रान्त होती है और इस प्रकार के अपार्थिव आकार के तथ्य के विषय में हम क्षणभर के लिए भी सदेह नही करते, बल्कि प्रकट रूप में उसका स्वीकार करते हुए रसास्वाद के आनन्द का अनुभव करते है। यह चमत्कार वक्रोक्ति की जादुगरी से होता है।

काव्य का सौदर्य इस प्रकार वक्रोक्ति में प्रतिष्ठित है। वैयाकरणों की शब्द-व्युत्पत्ति मात्र से या तार्किको के अनुमान मात्र से इस सौदर्य का आकलन नही होता। उसके लिए वक्रोक्ति का ही आश्रय लेना पडता है ऐसा भामह का कथन है। भामह का यह एक कथन मात्र है। किन्तु केवल इस कथनमात्र से वक्रोक्ति की शास्त्रीय उपपत्ति स्पष्ट रूप में समझ में नही आती। यह उपपत्ति सिद्ध करने का कार्य उत्तरवर्ती आलकारिको ने किया।

वक्रोक्ति, समाधिगुण और लक्षणा

वक्रोक्ति का बीज कहाँ है इस प्रश्न का उत्तर, विवेचन के क्रम में दण्डी ने ही दिया था, भले ही उसकी उपपत्ति न दी हो। दण्डी का कथन है कि काव्य में गौण-वृत्ति का आश्रय किया हुआ रहता है (२)। दण्डी ने वैदर्भी रीति के प्राणभूत गुणो में 'समाधि' नामक गुण दिया है। दण्डी का कहना है कि समाधिगुण कवि के काव्य का सर्वस्व है (३)। गौणवृत्ति का उपयोग ही यह समाधिगुण है। समाधिगुण का लक्षण दण्डी ने इस प्रकार किया है—

अन्यधर्मास्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र समाधि स स्मृतो यथा।।
कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च।
इति नेत्रक्रियाध्यासात् लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः।। (१।९३,९४)

लोकमर्यादा का अतिक्रम न करते हुए, एक वस्तु के धर्म का जहाँ अन्य वस्तु पर आरोप किया होता है वहाँ समाधिगुण रहता है। उदा० कुमुदो का निमीलन हो रहा है और कमलो का उन्मीलन हो रहा है। यहाँ कुमुद एव कमलो पर नेत्र-क्रिया का अध्यास हुआ है। इस अध्यास को आधार है कुमुद एव कमल तथा नेत्र इनमें अभेदप्रतीति का। अध्यास का अर्थ है अन्यत्र अन्यधर्मारोप (शांकरभाष्य) इसी अर्थ में दण्डी ने यहाँ इस शब्द का प्रयोग किया है। उत्तरकालमें राजशेखर

---

२. तेऽमी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रया.। अत्यंतसुन्दराः—(१।९५)

३ तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुपर्जीवति॥ (१।१००)

ने इसीके लिए 'प्रतिभास' शब्द का प्रयोग करते हुए, "न प्रतिभास वस्तुनि तादात्म्येनावतिष्ठते।" इस प्रकार भिन्न शब्दो में उसका स्वरूप बताया है।

यह अध्यास अर्थात् "अन्यत्र अन्यधर्मारोप" भाषिक व्यवहार में लक्षणा-द्वारा प्रवृत्त होता है। यही शब्दो की गौणवृत्ति है और यही वक्रोक्ति का बीज है। अब हम कह सकते है कि काव्य में वक्रोक्ति होती है इसका अर्थ है काव्य में "अन्यत्र अन्यधर्मारोप" अर्थात् गौणवृत्ति अर्थात् लक्षणा होती है।

भामह के उत्तरवर्ती काल मे वक्रोक्ति का अमुख्यवृत्तिद्वारा विवेचन

" संभव है कि काव्य में लक्षणा का कैसा विलास है इसका विवेचन उद्भट के भामहविवरण में आया हुआ हो।' 'भामहविवरण' भामह के ग्रन्थ का उद्भट ने किया हुआ व्याख्यान है। यह ग्रन्थ अभी उपलब्ध नही है। किन्तु इससे अनेक ग्रन्थकारो ने उद्धरण लिये हुए है, उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है। उद्भट की समति में शब्द से अभिमान भिन्न है। उस अभिधान के अर्थात् अभिधा-व्यापार के दो भेद है—मुख्य तथा गुण वृत्ति। काव्य मे अमुख्य अर्थात् गुणवृत्ति का ही उपयोग किया हुआ होता है (४)। उद्भट के उपलब्ध 'काव्यालकार-सारसग्रह' से भी यह अनुमान स्थिर होता है। उक्त ग्रन्थ में दिये हुए रूपक तथा पर्यायोक्त के लक्षण देखने से उद्भट के विचार में काव्यस्थित व्यापार वाच्यवाचक या श्रुतिसबन्ध से किस प्रकार भिन्न है एव वह गुणवृत्तिप्रधान ही कैसे होता है यह ध्यान में आ जाता है। वामन ने तो वक्रोक्ति को "सादृश्याल्लक्षणा" ही कहा है एवम् "उन्मिमील कमल सरसीनां कैरव च निमिमील मुहूर्तात्" इस प्रकार दण्डी के समाधिगुण के उदाहरण के समान उदाहरण दिया है, तथा "अत्र नेत्रधर्मौ उन्मीलननिमीलने सादृश्यात् विकाससकोचौ लक्षयत।" इस प्रकार वह विशद किया है। माधुर्यगुण को तो उन्होने 'उक्तिवैचित्र्य' ही कहा है। साराश, दण्डी तथा भामह के उत्तरवर्ती उद्भट और वामन इन दोनो ग्रन्थकारों ने काव्यस्थित वक्रोक्ति का विवेचन अमुख्यवृत्ति अर्थात् लक्षणा के रूप में किया है।

अलकारशास्त्र की मधुपवृत्ति

नैयायिक एव वैयाकरण दोनो को काव्यस्थित वक्रोक्ति का महत्त्व स्वीकार न था, क्योंकि दोनो को लक्षणा स्वीकार न थी। नैयायिक लक्षणा का अन्तर्भाव

---

४. भामहेनोक्तं—'छन्दः शब्दोऽभिधानार्थाः' इति। अभिधानस्य शब्दात् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे–शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारः मुख्यो गुणवृत्तिश्च–अभिनवगुप्त.लोचनटीका। इसी स्थान पर अभिनवगुप्त ने और भी कहा है कि काव्य में आमुख्यवृत्ति का ही व्यवहार होता है ऐसा उद्भट, वामन आदि का विचार है।

अनुमान में करते थे और प्राचीन वैयाकरण लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ के अन्तर्गत मानते थे (५)। इस कारण से, काव्यस्थित अमुख्य वृत्ति की विवेचना के लिए काव्यशास्त्र ने मीमासा का आश्रय लिया। काव्यचर्चा के इतिहास में, साहित्य के पडितो ने मधुप वृत्ति का अगीकार किया हुआ दिखाई देता है। साहित्यशास्त्र का मूल आधार व्याकरण है। साहित्य के पडितो ने 'पूर्वे विद्वांस.' कह कर वैयाकरणो का आदर किया है। भामह ने अपने ग्रन्थ मे व्याकरण की महत्ता का गान किया है। इतना होने पर भी काव्यशास्त्र व्याकरण का दास नही बना। उनके विचार में काव्यचर्चा की दृष्टि से व्याकरण में जो कुछ उपयुक्त था वह उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक ले लिया। व्याकरण का 'चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्तिः।' यह सिद्धान्त उन्होंने स्वीकार किया। किन्तु लक्षणावृत्ति के सम्बन्ध में उनकी व्याकरण से न बनी। लक्षणा की सिद्धि के लिए उन्होंने मीमासा का आश्रय लिया। किन्तु मीमांसक व्यञ्जना मानते नही यह देखते ही उन्होंने मीमासा को भी छोड़ दिया और स्वतन्त्र मार्ग अपनाया। रसविवेचन में भी उन्होंने न्याय, मीमासा, सांख्य, वेदान्त आदिका जहाँ जिस प्रकार उपयोग हो सकता था कर लिया, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता खोई नही। जैसे भ्रमर फूल फूल में से मधुकण लेता है उसी प्रकार की साहित्यशास्त्र की प्रवृत्ति रही। इसी लिए साहित्यविद्या, 'सर्वविद्याना निष्यन्द.' के गौरव की पात्र रही।

काव्यचर्चा लक्षणा के आश्रय से होने लगी तब उसपर मीमासा का बड़ा प्रभाव हुआ। वह बहुत कालतक—आनन्दवर्धन के कालतक—रहा। व्यजना के प्रस्थापन में आनन्दवर्धन के सब से बड़े विरोधी मीमासक ही थे। 'भाक्तमाहुस्तमन्ये।' इस प्रकार ध्वनिकार ने जिनका निर्देश किया है वे मीमासक ही है। तात्पर्यवादी, दीर्घ—अभिधावादी तथा अन्विताभिधानवादी आदि सब ही ध्वनि के विरोधक मीमांसक ही थे। इनके विरोध मे आनन्दवर्धन को व्यञ्जना की प्रस्थापना करनी पड़ी। भामह के समय में न्याय तथा व्याकरण की प्रणाली से साहित्यचर्चा होती थी। और भामह के बाद आनन्दवर्धन के समयतक वह मीमासा की प्रणाली से होती रही इस प्रकार (६) काव्यचर्चा में हुआ स्थित्यतर सक्षेप में बताया जा

---

५. प्राचीन वैयाकरणों को लक्षणा स्वीकार न होने का कारण ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने तत्त्वबोधिनी में 'द्रोणो व्रीहिः' पर किये हुए विवेचन में दिया है। जिज्ञासु देखें।

६. व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा का काव्यचर्चा पर हुआ प्रभाव देखने से मुकुलभट्ट के निम्न वचन का रहस्य स्पष्ट हो जाता है—

पद-वाक्य-प्रमाणेषु यदेतत्प्रतिबिम्बितम्।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति ॥

सकता है। इस समय के उपलब्ध ग्रन्थकारो में उद्भट, वामन और रुद्रट ये महान ग्रन्थकार हुए।

उद्भट और वामन (लगभग सन ८०० ईसवी)

दण्डी तथा भामह के बाद उद्भट तथा वामन दोनो ने काव्यचर्चा को आगे बढाया। उद्भट ने भामह के अलकारो को ठीक आकार दिया। और वामन ने दण्डी के काव्यमार्गो को रीति की शास्त्रीय भित्तिपर स्थिर करने का प्रयास किया। इन दोनो को साहित्य के क्षेत्र में इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई कि उनकी तुलना में दण्डी और भामह लुप्तप्राय हो गये। इन दोनो ने काव्यचर्चा में क्या कार्य किया यह अब देखेंगे (७)।

उद्भट के विशेष मत

'काव्यालकारसारसग्रह' में उद्भट ने अलंकारो का विवेचन किया है। कुछ थोडे परिवर्तन छोड दिये तो उद्भट का अलंकारक्रम भामह से मेल रखता है। भामह के यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षावयव आदि कतिपय अलकार उद्भट ने छोड़ दिये है और पुनरुक्तवदाभास, सकर, काव्यहेतु तथा काव्यदृष्टान्त अधिक लिये है। उद्भट ने अपने लक्षण भामह के ही आधार से किये हैं किन्तु उनका स्वरूप विशेष ठीक किया है। उद्भट ने अलकारो को दिया हुआ शास्त्रीय स्वरूप लेने की उत्तर काल में मम्मट की भी इच्छा हुई इसीमें उद्भट के ग्रन्थ की योग्यता स्पष्ट होती है।

उद्भट के ग्रन्थ से उनके कुछ विशेष विचार प्रतीत होते हैं। सक्षेप में ही क्यो न हो, उनका परिचय कर लेना इष्ट है।

(१) श्लेष अलकार के सबन्ध में उनका मत है कि बाहृचत. शब्द एकरूप

---

७. विद्वानों का अनुमान है कि संभवतः उद्भट और वामन समकालीन थे। उद्भट काश्मीर के राजा जयापीड के सभापति थे। उद्भट का 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त भामह के ग्रन्थपर 'भामहविवरण' नामक टीका एवं नाट्यशास्त्रपर एक टीका उन्होंने लिखी है। ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। डॉ. राघवन् का कथन है कि नाट्यशास्त्र के आठ रसों में एक और शान्त रस उद्भट ने सिद्ध किया। इनका 'कुमारसंभव' नामक एक काव्य भी था। 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि सारसंग्रह के उदाहरण इसी काव्य से लिए गये हैं। वामन का एक ही ग्रन्थ — 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'— उपलब्ध है। राजतरंगिणीकार का कथन है की राजा जयापीड का वामन् नामक एक मन्त्री था। यह वामन और काव्यालंकारसूत्रवृत्तिकार वामन यदि एक ही हो तो संभव है कि उद्भट और वामन समसामयिक ही नहीं, एक दूसरे से परिचित भी थे। और यद्यपि ऐसा न भी हो, तो भी उनके समसामयिक होने के विषय में अन्य काफी प्रमाण उपलब्ध हैं।

दीखनेपर भी अगर उनके अर्थ में भेद है तो वे शब्द भी भिन्न है (८)। साधारण रूप मे जैसा हम समझते है कि श्लेष में एक शब्द के दो अर्थ होते है, ऐसी बात नही है, अपितु दो शब्द समरूप होने से उनके एक होने का आभास होता है। श्लेष का अलकारत्व इसी मत से उपपन्न होता है। उद्भट का यह मत उत्तरवर्ती आलकारिको को स्वीकार हुआ। किन्तु उन्होने श्लेष का शब्दश्लेष और अर्थश्लेष इस प्रकार विभाग करते हुए भी, दोनो का भी अर्थालकारो में ही अन्तर्भाव किया इस बात की उत्तरकाल में आलोचना की गई।

(२) उद्भट को गुण और अलकार यह भेद स्वीकार न था। उनके विचार में दोनो शब्दार्थो में समवाय वृत्ति से रहते है तथा दोनो काव्यसौदर्य निर्माण करने वाले धर्म है। दोनो में भेद केवल इतना ही है कि गुण सघटनाश्रित होते है और अलंकार शब्दार्थाश्रित होते है।

(३) प्रेयस्, रसवत् आदि अलकारो के सबध में भी उनकी एक अपनी विशिष्ट दृष्टि है। आगे चलकर 'ध्वन्यालोक' में उपलब्ध रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि का बीज उद्भट की विवेचना में मिलता है। इस विषय में उद्भट की की हुई विवेचना भामह तथा दण्डी से बहुत आगे बढी हुई पाई जावेगी। उद्भट के मन्तव्य में भाव चार प्रकारों से एव रस पाँच प्रकारो से काव्य में आविर्भूत होते है (९)। उसमें जो रस का स्वशब्दनिवेदितत्व बताया गया था वह आनन्दवर्धन की आलोचना का विषय हुआ। उद्भट नाट्य में भी नौ रस मानते है। उद्भट का रस के सबन्ध में विवेचन उत्तरार्ध में आवेगा।

(४) काव्यस्थित शब्दव्यापार के विषय में भी उनका अपना एक विशेष मत है। उनका विचार है कि काव्य में वैभक्त, शाक्त तथा शक्तिविभक्तिमय इस प्रकार त्रिविध व्यापार होता है। तथा उनके द्वारा शब्दो की अमुख्य वृत्ति अर्थात् गुणवृत्ति प्रवर्तित होती है। काव्य में व्यापार अमुख्यवृत्ति का होता है यह कहने में उद्भट शब्दव्यापार के क्षेत्र में बहुत ही आगे बढ़ गये है। आनन्दवर्धन कहते है—अमुख्य वृत्ति का स्वीकार करते हुए, अनजाने क्यो न हो, उद्भट ने ध्वनितत्त्व को ही स्पर्श किया है (१०)।

(५) काव्यन्याय के विवेचन में उद्भट ने विचारितसुस्थ तथा अविचारितरमणीय इस प्रकार दो भेदो में अर्थ का विभाग करते हुए कहा है कि शास्त्र का अर्थ

---

८. अर्थभेदेन तावत् शब्दाः भिद्यते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः। प्रतिहारेन्दुराज.

९. चतूरूपा भावाः। पञ्चरूपा रसाः।

१०. १।१ पर वृत्ति, काव्यमीमांसा पृ. २२। ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत।

विचारितसुस्थ होता है तो काव्य का अर्थ अविचारितरमणीय होता है। उद्भट के इस विचार की राजशेखर ने आगे चलकर आलोचना की है।

(६) उद्भट का प्रेयस्वत् अलकार का लक्षणविशेष रूप में विचारार्ह है। उद्भट का कथन है कि जिस काव्य में अनुभाव आदि से रति आदि भावो का सूचन होता है वह काव्य प्रेयस्वत् काव्य है। प्रेयस्वत् काव्य का यह लक्षण भावकाव्य का ही लक्षण है। उद्भट का टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज तो इस कारिकापर "एव भावकाव्यस्य प्रेयस्वत् इति लक्षणया व्यपदेश.।" इस प्रकार स्पष्ट रूप में टिप्पणी देता है। हमारी भावकाव्य की आधुनिक कल्पना प्रेयस्वत् से कुछ खास भिन्न न होगी; और इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि यहाँ प्रतिहारेन्दुराज आजकल रूढ हुए भावकाव्य शब्द का ही प्रयोग कर रहा है।

उद्भट का प्रभाव

उद्भट के यह मत उत्तरवर्ती आलंकारिको को पूर्ण रूपेण स्वीकार न थे। किन्तु इससे उद्भट के कार्य का महत्त्व कम नहीं होता। बल्कि उसीसे उसकी महत्ता ध्यान में आती है। उत्तरकाल में हुए कोई भी आलकारिक अपना मत प्रस्तुत करने में बिना उद्भट के मत का परामर्ष किए आगे बढ नही सका। काव्यविवेचना का एक भी अग ऐसा न था जिसपर कि उद्भट ने कुछ कहा न हो। रस, गुण, अलकार, शब्दार्थ तथा नाट्य – सभी के विषय में उन्होने कुछ न कुछ विशेष बात कही है। इसीमें उद्भट के कार्य की महत्ता है। भामह ने काव्य का एव अलकार का स्वतन्त्र क्षेत्र है यह सिद्ध किया। एव काव्यचर्चा के लिए व्याकरण आदि शास्त्रो से समान स्थान प्राप्त करा दिया। किन्तु स्वतन्त्र हुए काव्यशास्त्र की सोपपत्तिक रचना करने के लिए आवश्यक अवसर उन्हे प्राप्त न हुआ। वह कार्य उद्भट ने किया। इससे उत्तरवर्ती काव्यचर्चा में उद्भट का एव वामन का भी (वामन के कार्य का वर्णन आगे आवेगा) इतना प्रभाव रहा कि उन्हे असख्यात अनुयायी मिले एव वे 'औद्भटा.', 'वामनीयाः' आदि नामो से पहचाने जाने लगे। इतना ही नही, उत्तरवर्ती साहित्यचर्चापर आनन्दवर्धन का अनन्यसाधारण प्रभाव होने के बाद भी उद्भट के ही मत का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करनेवाला प्रतिहारेन्दुराज एव वामनीय विवेचना को प्रचलित करनेवाला प्रतिहारेन्दुराज का गुरु भट्ट मुकुल निर्माण हुए, इस तथ्य को भी भुलाया नही जा सकता।

'रीतिरात्मा काव्यस्य'

अब हम वामन का कार्य क्या रहा यह देखेंगे। वामन का नाम लेते ही "रीतिरात्मा काव्यस्य" इस वचन का स्मरण हो आता है। भामह रसविरोधी

है ऐसा कह कर आधुनिक अभ्यासको ने जिस प्रकार भामह से अन्याय किया है, उसी प्रकार वामन की 'रीति' शब्दार्थो की साफ रचना मात्र है ऐसा कह कर उन्होने वामन से भी अन्याय किया है। वास्तव में काव्यचर्चा के विकास में वामन का स्थान बहुत ऊँचा है। सौदर्यप्रतीति ही काव्य का रहस्य है ऐसा वामन ने कहा है (११)। गुण तथा अलकारो का स्पष्ट विवेक करते हुए उन्होने काव्यचर्चा को बहुत ही आगे बढाया। वामन का विवेचन काव्यशास्त्र में अन्तिम निर्णय नही यह तो सत्य है। किन्तु वे उसके बहुत ही समीपवर्ती है इसमें कोई सदेह नही। काव्य का सवाल हल करने में वामन केवल आखिरी पद (Stage) में कुठित हुए।

वामन का गुणालंकारविवेक

वामन के मत में सौदर्य ही काव्य का प्राणभूत अलकार है। दोषों का त्याग एव गुण तथा अलकारों का उपादन इन साधनो द्वारा यह शोभा काव्य को प्राप्त होती है। गुण काव्यशोभा के कारक हेतु है एव अलकार काव्यशोभा के वर्धक है, अतएव गुण नित्य होते है, अलकार नित्य नही होते (१२)। गुणों का शब्द गुण एव अर्थगुण इस प्रकार विभाग किया जाता है किन्तु वास्तव में गुण काव्यबन्ध के अर्थात् रीति के धर्म है। केवल लक्षणा से उन्हे शब्दार्थों के धर्म कहा जाता है (१३)। गुणालकारो का भेद एव उनकी नित्यानित्यता दर्शाने के लिए वामन युवती का दृष्टान्त लेते है और कहते है, "युवती का रूप मूलत. शुद्ध गुणो से युक्त हो तो अलकार-विहीन अवस्था में भी वह सुदर दीखता है। उसी प्रकार शुद्ध गुणो से युक्त काव्य भी रसिकों को आनन्द देता है। इसी बीच, यदि उन दोनो को अलकार प्राप्त हुए तो उनका सौदर्य और भी अधिक अच्छे प्रकार से प्रतीत होगा इसमें कोई सदेह नही। लेकिन युवती के लावण्यहीन शरीर के समान यदि काव्य भी गुणहीन हो तो उस पर कितने ही लोकप्रिय अलकारो की रचना क्यों न की जायँ, वे अलकार रोते ही है (१४)।" अतएव गुण जिस प्रकार काव्य के नित्य धर्म होते है उस प्रकार अलकार नही होते। भरत से प्राप्त हुए और दण्डी ने विवेचित किये हुए गुणो को वामन ने और भी व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त ने भी नाटयशास्त्र में गुणो का विवेचन

---

११. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। का. सू. वृ. १।१।१२.

१२. काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः। तदतिशयहेतवः अलंकाराः॥

१३. गुणा वस्तुतो रीतिनिष्ठा अपि उपचारात् शब्दधर्मा इत्युक्तम्—कामधेनु.

१४. युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरतराभि: सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥

करने में वामनीय विवेचना का भलीभाँति उपयोग कर लिया है, इसीमे वामन के कार्य का महत्त्व स्पष्ट है। उत्तरवर्ती साहित्यचर्चा में वामन के कथित दश गुणो में से केवल तीन ही शेष रहे, इससे वामन की विवेचना का महत्त्व कम समझने की आवश्यकता नही। उत्तरकालीन विवेचना में वामनीय गुणो का निरास नही हुआ; हुआ इतनाही कि उनकी पुनर्व्यवस्था हुई (१५)।

वामन का अलंकारविवेचन

वामन की अलकारविवेचना में भी विशेषता है। वामन ने एक अध्याय में उपमा का विवेचन किया और दूसरे अध्याय में अन्य अलकारो का विवेचन करते हुए वे सभी अलकार उपमा का ही प्रपच है यह दर्शाया (१६)। उपमा की सीमाएँ भी उन्होने ठीक पहचानी थी। उनका कथन है उपमान को भी लोक में प्रसिद्धता होनी चाहिये। कुमुद और कमल दोनो सुदर तो है किन्तु 'मुखकमल' वाली उपमा जिस प्रकार अच्छी लगती है उस प्रकार 'मुखकुमुद' नही लगती। इसका अर्थ यह नही कि काव्य में नए उपमान आने ही नहीं चाहिये। वामन ने उपमा के लौकिक और कल्पित इस प्रकार विभाग किये है।' मुखकमल', 'नरव्याघ्र', 'पुरुषसिह' आदि लौकिक उपमाएँ है। परंतु किसी नए उपमान का प्रयोग करते हुए कवि जब रसिक को विस्मित करता है तब कल्पित उपमा होती है। लौकिक उपमाएँ भी आरभ में कल्पित ही थी; किन्तु वे अब इतनी घुल गई है कि उन्हे लौकिक रूप प्राप्त हुआ है। कल्पित उपमाएँ ऐसी नही होती। वामन ने कल्पित उपमा का बहुत ही सुदर उदाहरण दिया है – 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धिनारगकम्।' यह नारगी का वर्णन है। नारगी का लाल रग मदिरा से मत्त हूण के 'सद्योमुण्डित' डाढ़ी से स्पर्धा कर रहा था। ऐसा वर्णन यहाँ कवि ने किया है। पहले तो हूण का चेहरा हि लाल रग का तिस पर उसने मद्यपान किया हुआ और फिर अभी अभी डाढ़ी बनाई हुई। फिर नारगी उस रग की क्यो न दीखें?

काव्य का वामनकृत वर्गीकरण

काव्य का वर्गीकरण करने में भी वामन की अपनी विशेषता है। पूर्वसूरियो के अनुसार वे भी काव्य का गद्य और पद्य में विभाग करते है। किन्तु भरत के अनुसार गद्य के 'वृत्तिगन्धि', 'चूर्ण' और 'उत्कलिका' ये भेद दर्शानेवाला वामन ही पहला उपलब्ध ग्रन्थकार है। पद्य के 'अनिबद्ध' और 'निबद्ध' ये दोनो भेद भी

---

१५. 'केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिता:।–मम्मट.

१६. शब्दवैचित्र्यगर्भेऽयमुपमैव प्रपंचिता।

उन्होने दण्डी से ही लिये है। किन्तु इन भेदो की विवेचना में उन्होने अपनी विशेषता दर्शाई है। अनिबद्ध पद्य का अर्थ है मुक्त पद्य। इन पद्यो के विषय में वे कहते है,–"असकलित अर्थात् मुक्त कविता में काव्यचारुत्व पूर्णरूपेण प्रतीत नही होता। परमाणु तेजोयुक्त होने पर भी विलग्न अवस्था में प्रकाश नही देते (१७)।" उनका कथन है कि निबद्ध अर्थात् सदर्भ काव्य में भी दशरूप अर्थात् नाट्य ही सब से उत्कृष्ट भेद है। सर्गबध आदि अथवा कथा-आख्यायिका आदि नाट्य के ही विलास है। अतएव, उनका कथन है कि इनके भिन्न भेद मानने की आवश्यकता नही है (१८)।

दशरूप को श्रेष्ठ बतानेवाले वामन के ग्रन्थ में रसविवेचन नही है इस बातपर आश्चर्य करने का कोई कारण नही। कान्तिगुण के विवेचन में उन्होने रस का अनुवाद किया है और कान्तिगुणहीन काव्य 'पुराणचित्रच्छाया' (पुरानी तस्वीर) के अनुसार निस्तेजस्क होता है ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त, समाधिगुण की विवेचना में उन्होने काव्यार्थ की 'भाव्यता' तथा 'वासनीयता' भी वर्णन की है।

वामन के समय में कवि कहलानेवालों के झुड; वामन ने सत्काव्य की प्रतिष्ठा का रक्षण किया

वामन का कहना है कि कवित्व के लिए अधिकार आवश्यक है। वामन के समक्ष कवियो के दो वर्ग थे। एक वर्ग के कवि विवेक रखते थे। काव्य के सदोष होने पर भी गुण एव दोष ध्यान में आनेपर वे दोषो का निरास करने में दक्ष रहते थे। किन्तु दूसरा वर्ग ऐसा था कि उनको गुणदोषो का कोई विवेक था ही नही। विवेकशील कवियो को वामन 'अरोचकी'—अर्थात् ऐसे लोग जिन्हें रुचि है किन्तु किसी कारण से वह नष्ट हो गई है—सज्ञा देते है। परन्तु विवेकहीन कवियों को वे 'सतृणाभ्यवहारी'—अर्थात् 'तुसी के साथ अनाज खानेवाले' कहते थे। अरोचकी अर्थात् विवेकशील कविशिष्यों का काव्य आरभ में सदोष होने पर भी, शास्त्रज्ञान

---

१७. असंकलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसा परमाणवः॥

१८. महाकाव्य, कथा आदि को दशरूप का विलसित बताने में वामन ने इन भेदों की अन्तर्गत रचना का ही प्रत्यक्ष निर्देश किया है और इसके लिए नाट्यशास्त्र की ओर ही अंगुलिनिर्देश किया है। इसीमें महाकाव्य के विषय, पात्र, स्वभावपरिपोष, रचना आदि सभी का विवेचन गृहीत है। इतना होने पर भी डॉ. वाटवे महोदय का कथन है कि संस्कृत ग्रन्थकारों ने महाकाव्य के वर्णन में उसके अन्तरंग का स्वरूप बताया नहीं, केवल बाह्य वर्णन किया। (देखिये–संस्कृत काव्याचे पंचप्राण–मराठी)। प्रकट है कि शास्त्रलेखन में सिद्धानुवाद के नियम का ध्यान न रहने से डॉ. वाटवे महोदय की यह धारणा हुई है।

होने के बाद अपने दोषो को टालने की वे यत्नपूर्वक चेष्टा करते है। किन्तु सतृणा-भ्यवहारी अर्थात् विवेकहीन कवियो के पास मूलत. विवेक ही न होने के कारण शास्त्र पढने से भी उनके लिए कवित्व प्राप्त करना असभव होता है। बेचारे शास्त्र का तो इसमें कोई दोष नही। जिनके पास विवेक ही नही उन्हे शास्त्र भी कहाँ तक सिख-लायेगा ? वामन कहते हैं—कतक नाम का फल कुछ मैले-से पानी में डालने से पानी शुद्ध होता है; किन्तु इस हेतु यदि वह कीचड में डाला गया तो कीचड को क्या शुद्ध करेगा ? (न हि कतक पकप्रसादनाय) (१९)।

इनमें से विवेकी शिष्य ही कवित्व के लिए एव काव्यशास्त्र के लिए अधिकारी होते है। ऐसे शिष्यो के लिए वामन ने अपना ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ के लेखन में उन्होने एक विशिष्ट पद्धति का अवलबन किया हुआ है। हरेक विषय मे उन्होने उदाहरण प्रत्युदाहरण दिये है। गुणो के विवेचन में उन्होने महाकवियो के काव्यो से चुने हुए उदाहरण दिये है तथा प्रत्युदाहरण देने के समय स्थान स्थान पर कहा है कि ऐसे सदोष पद्य प्रचुर मात्रा में एव सुलभता से मिलते है। 'प्रत्युदाहरण तु भूयः सुलभ च'।

इन सारी बातो पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि वामन के समय में कवि-ब्रुवो का (कवि कहलानेवालो का) एक झुड ही निर्माण हुआ था। अर्थव्यक्ति गुण का नामोनिशान तक जिसमें नही ऐसा काव्य उन्हे जिधर देखो दिखाई दिया। काव्य के क्षेत्र मे ऐसे कवियो ने तहलका मचा रक्खा था और तिस पर भी वे सतुष्ट न थे। उनका कहना था कि हमारा यह काव्य समझने की तुम लोगो मे कुछ पात्रता ही है नही। उन्होने तो रसिको का ही 'अरोचकी' और 'सतृणाभ्यवहारी' ऐसा भेद किया (२०)। इन सारी बातों का परिणाम यह निकला कि हर कोई अपने आप की योग्यता कालिदास के समान ही समझने लगा और महाकवियो की प्रतिष्ठा डगडौर हो गई। ऐसे समय में वामन का यह ग्रन्थ निर्माण हुआ है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इस वामनीय वचन की पृष्ठ भूमि इस प्रकार की है। इस पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से यह भी ध्यान में आता है कि उन्ही बातो का एक स्थान में शब्दगुण कह कर एव एक स्थान में अर्थगुण कह कर वामन ने विवेचन क्यो किया। इस पृष्ठभूमि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपने ग्रन्थ में वामन ने कविसमय एवं शब्दशुद्धि के प्रकरण क्यो लिखे ? कविसमय मे वामन ने होनहार कवियो को सूचित किया है और शब्दशुद्धि के अध्याय में महाकवियो के प्रयोगो का समर्थन करते हुए उनकी प्रतिष्ठा की

---

१९. अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः। पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात्। नेतरे तद्वि-पर्ययात् न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत्। न कतक पकप्रसादनाय। (१।२।१–५)

२०. काव्यमीमांसा, पृ. १२४

रक्षा की है। महाकवियो के काव्यो में यत्र तत्र बिखरे हुए, रस की दृष्टि से उचित किन्तु व्याकरण के नियमो के अन्तर्गत ठीक ठीक न आनेवाले कतिपय शब्दप्रयोग लेकर वामन ने उनका जो समर्थन किया है वह नितान्त अध्ययनयोग्य है। "सित सितिम्ना सुतरा मुनेर्वपु। विसारिभि सौधमिवाथ लम्भयन्।", (माघ) 'लज्जालोल वलन्ती,' 'विम्बाधर: पीयते,' 'मन्द मन्द नुदति पवन' (कालिदास) आदि प्रयोगो का उन्हो ने व्याकरण की दृष्टि से किया हुआ समर्थन, वैसे ही "लावण्य प्रसरतिरस्कृतागलेखाम्" और "राज्ञा तिरस्कृत." इनमें किया हुआ अर्थभेद भी देखनेयोग्य है। आज हम इन प्रयोगो के विषय में वामन का ही आधार देकर काम चलाते है। परन्तु वामन के समय में इन समर्थनो में जो नवीनता प्रतीत होती थी-वह ध्यान में आने के लिये उस समय के वैयाकरणो के वादो को समझना आवश्यक होता है। सस्कृत काव्य के उत्कर्ष की अन्तिम अवस्था एव अपकर्ष की प्रथम अवस्था की सधिपर वामन स्थित है, इस बात को ध्यान में रखते हुए वामन के ग्रन्थ का अवलोकन करने से उनकी रीतिविवेचना की पृष्ठभूमि ध्यान में आती है।

वामन के पूर्ववर्ती भामह तथा दण्डी और वामन के उत्तरवर्ती रुद्रट इन सभी ने लक्षणो के साथ उदाहरण भी (अधिकांश) अपने बनाये हुए दिये है। किन्तु वामन ने अधिकाश उदाहरण प्रसिद्ध काव्यो से दिये है इस बात का मर्म अब स्पष्ट होगा। वामन हर समय उदाहरण महाकवियो के देते है' एव प्रत्युदाहरण तथा दोष प्रकरण के उदाहरण अज्ञात कवियों के देते है इसका अर्थ यही है कि उन्हे होनहार कवियों के समक्ष महाकवियो का आदर्श प्रस्तुत करना है। मनुष्य को अपने कवित्व का भान होने पर उसने अगर विवेक और सयम न रखा तो वह मनचली काव्यरचना करता है या कल्पनाओ की मनचाही खीचातानी करता है। ऐसे कवियों को उन्होंने गुणालकारविवेक कर दिखाया है।

वामन का विरोध

ऐसा समझना ठीक नही कि वामन का यह विवेचन कवियो ने या शास्त्रकारो ने सरलतापूर्वक मान लिया। कई ऐसे थे जो वामनीय गुणो को पाठधर्म कहते थे और कई ऐसे भी थे जो कहते थे कि वामन का यह पागलपन है। इन आक्षेपको को वामन ने यह उत्तर दिया है—"कोई ऐसा कहेगे कि वामन ने अपनी कल्पना से इन गुणों का सर्जन किया है, वास्तव में उनका कोई अस्तित्व नहीं है। किन्तु यह आक्षेप ठीक नही है। इन गुणों का अस्तित्व है। क्योंकि ये सहृदयसवेद्य है और सहृदयों की सवेदना भ्रांति नहीं है। वह प्रत्यय है। कारण यह है कि यह संवेदना निष्कंप है; वह बाधित नही होती। यह केवल पाठधर्म भी नहीं है। क्योकि यदि वे पाठधर्म होते तो वे सर्वत्र उपलब्ध हुए होते। किन्तु ऐसा नही है। काव्य के वे विशेष

धर्म है एव 'विशेष' ही गुणों का स्वरूप होने से गुणो को स्वीकार करना आवश्यक है (२१)। वामन का यह विवेचन देखने पर 'ध्वन्यालोक' की पहली कारिका तथा उस पर वृत्ति का स्मरण हो आता है एव ध्वनिकार के लिए भूमिका कैसे बन रही थी यह स्पष्ट हो जाता है।

वामन के ग्रन्थ के इस स्वरूप पर ध्यान देने से उनके ग्रन्थ के विषय में प्रचलित किम्वदन्ती का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वामन के ग्रथ का सहदेव नामक टीकाकार बताता है कि वामन का ग्रन्थ कुछ काल तक प्रचार में नही रहा था। कुछ समय के बाद मुकुलभट्ट को इस ग्रन्थ की एक प्रति उपलब्ध हुई तब उहोने इस ग्रन्थ को फिर से प्रचारित किया (२२)। वामन के ग्रन्थ का स्वरूप देखने से प्रतीत होता है कि तत्कालीन कविजन (?) इस ग्रन्थ को आसानी से नही अपना सके। विशेषतः उनका गुणालकारविवेक तो निश्चय ही उन्हे भाया नही होगा। क्योकि इस गुण-विवेचना के निमित्त से वामन ने काव्यपाक के सिद्धान्त की ही विवेचना की थी एव आम्रपाक और वृन्ताकपाक में भेद निर्भीकता से दर्शाया था (२३)।

वामनकृत विवेचना की यह पीठिका ध्यान में लेने से स्पष्ट होगा कि वामन केवल पदो की रचना पर बल देनेवाले शास्त्रकार न थे। उनके बन्धगुणो की चर्चा करने का यहाँ प्रयोजन नही है (२४)। किन्तु उनकी गुणविवेचना का कुल निष्कर्ष इस प्रकार हो सकता है—"वह शब्दार्थबन्ध काव्य है जिस बन्ध में वैदग्ध्य प्रतीत हो कर रसदीप्ति सहजता से होती है।" शब्दो में कान्तिगुण न हो तो बन्ध में नवीनता नही आती। वह काव्य केवल 'पुराणचित्र' के समान दीखता है। अर्थ मे कान्तिगुण हो तो काव्य में आस्वाद्यता नही आती ऐसा उनका स्पष्ट कथन है (२५)।

---

२१ का. सूत्रवृत्ति ३।१।२६-२८ और इसपिर वृत्ति।

२२. वेदिता सर्वशास्त्राणा भट्टोऽभून्मुकुलामिध.।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्॥
काव्यालकारशास्त्रं यत् तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभि क्वचित्॥

२३ गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते॥
सुप्तिङ्संस्कारमात्र यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं तत् जुगुप्सन्ते जनास्तत॰॥

२४. वामनीय गुणों का विवेचन प्रकृत लेखक के "वैदर्भी रीति" प्रबन्ध में देखें।

२५. वामन की इस भूमिका को ध्यान में न लेते हुए डॉ. डे आदि विद्वानों ने रीति है एक ढॉचे में ढली हुई लेखनपद्धति ऐसा मत स्थिर किया है (Sanskrit Poetics, Vol. II, p 116)। आधुनिक अभ्यासकों ने डॉ. डे का ही अनुसरण करते हुए "रीति व रेखा' में भेद विशद करने का प्रयास किया है।

रुद्रटकृत काव्यविवेचन (लगभग सन् ८५० ईसवी)

वामन के पश्चात् प्रसिद्ध ग्रन्थकार रुद्रट है। रुद्रट का समय सन् ८०० से ८५० ई तक का है। इनका 'काव्यालकार' नामक ग्रन्थ है जिसमें काव्य के रससहित सभी अगो की चर्चा की है। इस ग्रन्थ के कुल सोलह अध्याय है। प्रथम अध्याय में काव्यप्रयोजनो का वर्णन है। कीर्ति, प्रीति तथा व्युत्पत्ति के साथ रुद्रट ने अर्थ तथा अनर्थोपशम भी काव्य के प्रयोजन बताये है। यह देखते ही हमें मम्मट की प्रसिद्ध 'काव्य यशसेऽर्थकृते—' आदि कारिका का स्मरण हो आता है। काव्य का लक्षण उन्होने 'शब्दार्थौ काव्यम्' ऐसा ही किया है। वैदर्भी, पांचाली, लाटी तथा गौडी इस प्रकार चार रीतियो का उन्होने निर्देश किया है। किन्तु वे वामनीय गुणो का निर्देश या विचार भी नही करते। प्रत्युत रीतियो को 'सनिवेशचारुत्व' बतलाकर वे उनका सबन्ध रसो के साथ जोड़ देते है। अनुप्रासविवेचना में वे ललिता, प्रौढा, परुषा आदि पचवृत्तियाँ बताते है, एव रस की दृष्टि से वृत्तिरीतियो का वर्गीकरण करते है। रसानुकूल भाषाविशेष की दृष्टि से रुद्रट का यह विवेचन महत्त्व-पूर्ण है। काव्य दीप्तरस होना चाहिये यह तो वामन ने कहा था, किन्तु रसोचित सनिवेश के भेद रुद्रट ने ही सर्वप्रथम बताये है। तत्पश्चात् वे शब्दालकारों का विस्तरश: विवेचन करने है, और अन्तत कवियो को चेतावनी देते है कि शब्दा-लकारो के अधीन न होते हुए औचित्य से ही उनका प्रयोग करना चाहिये। अर्थविवे-चना में भी उन्होने कतिपय महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये है। "केवल रसपरतन्त्र हो कर कवि को व्यवहार में, देश काल आदि से नियमित जाति, द्रव्य, आदि पदार्थो के स्वरूप में मनचाही उथलपुथल नहीं करनी चाहिये। सत्कविपरपरा से जितना अन्यथा वर्णन निर्दोष माना गया हो उतना ही करना चाहिये (२६)।" रुद्रट यहाँ यही सूचित करते है कि वक्रोक्ति लोकमर्यादा से बद्ध हुई होती है। वामन ने भी यही चेतावनी 'अलकारो में असभवदोष' के रूप में दी है।

अलंकारों में विवक्षा

रुद्रट ने अलकारो के 'वास्तवमौपम्यमतिशय. श्लेष.' इस प्रकार चार वर्ग किये है। अलकारो के व्यवस्थित रूप में वर्गीकरण करने का उपलब्ध ग्रन्थो में यही पहला प्रयास है। अलंकारो की पृष्ठभूमि में कवि की विवक्षा होती है यह महत्त्वपूर्ण

---

२६. सर्वं स्व स्व रूपं धत्तेऽर्थो देशकालनियमं च।
तं च न खलु बध्नीयात् निष्कारणमन्यथाति रसात्॥
सुकविपरपरयाचिरमविगीततया यथा निबद्धं यत्।
वस्तु तदन्यादृशमपि बध्नीयात् तत्प्रसिद्ध्यैव॥ (७।७,८)

तथ्य रुद्रट ने इस अध्याय में बताया है। कवि नें दी हुई उपमा से भी उसकी विवक्षा प्रतीत होती है। रुद्रट का स्पष्ट रूप में कथन है कि सत्कवि के काव्य में निष्प्रयोजन अलकार मिलते नहीं (२७)। रुद्रट ने सूचित किये हुएं इसी तथ्य को आगे चलकर राजशेखर ने विशद रूप में प्रस्तुत किया है।

रुद्रटकृत दोषविवेचन

रुद्रटकृत दोषविवेचन अनेक दृष्टियो से अध्ययनयोग्य है। विशेष करके, 'ग्राम्यत्व' तथा 'विरस' के दोषो के संबन्ध में उनका कथन हर कवि को ध्यान में रखना चाहिये। वे कहते है कि ग्राम्यत्व माधुर्य का विरोधी है। उनका विचार है कि ग्राम्यत्व का उद्‌गम अनौचित्य में है। इसी कल्पना को आगे चल कर आनन्द-वर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में, "अनौचित्यादृते नान्यद्, रसभगस्य कारणम्" इस कारिका में प्रस्तुत किया है। विरस दोष के सम्बन्ध में भी उनका विवेचन महत्त्वपूर्ण है। एक रस के प्रसग के मध्य दूसरे अनपेक्षित रस का आविर्भाव या रस की अपेक्षा से ज्यादा विस्तार करना 'विरस' दोष है। रुद्रटकृत इस विवेचना की आनन्दवर्धन की ३।१८, १९ कारिकाओ से तुलना करने से आनन्दवर्धन की विवेचना की पृष्ठभूमि किस प्रकार रची जा रही थी यह स्पष्ट होता है एवम् सम्प्रदायपद्धति के अनुकूल विवेचना करने से विकास का क्रम समझने में आनेवाली अड़चने धीरे धीरे कम होने लगती है।

रुद्रट के रसविषयक मत

रसविवेचन के आरभ में ही रुद्रट कहते है—"सरस प्रवृत्ति के जन को चतुर्वर्गों का ज्ञान काव्य के द्वारा सुलभता से एव मृदुता से उपलब्ध होता है। नीरस शास्त्रो से वे ऊब जाते है। अतएव काव्य निरन्तर रसयुक्त होना चाहिये। अन्यथा वे काव्य से भी विमुख हो जावेगे (२८)। यही काव्य में अपेक्षित "कान्तासमितोपदेश" है।

अलकारग्रन्थो में रसविवेचन करनेवाला रुद्रट ही प्रथम ग्रन्थकार है। शान्त तथा प्रेयान् मिलाकर वे दस रस मानते हैं। किन्तु रसों की सख्या वे दस तक ही

---

२७ सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वतरमभिदध्यात् वक्ता यस्मिन् तदौपम्यम्॥ (७।१०)
इसपर नामिसाधु ने लिखा है — "यो यादृशो वक्ता येन स्वरूपेण वस्तुमिच्छति तादृशमेव वस्त्वतरमभिदध्यात्, तदौपम्यम्॥

२८ ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यः ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥
तस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषा शास्त्रवदेवान्यथा भवति॥ (१२।१,२)

सीमित नहीं रखते। उनका विचार है कि आस्वाद्यता की अवस्था को प्राप्त होनेवाली कोई भी वृत्ति रस हो सकती है (२९)। रसविवेचन के साथ ही उन्होने और भी दो महत्त्वपूर्ण तथ्य बताये हैं। रस के निर्माण में, ससार की ओर से आँखें मूँद लेने से कवि का काम नही चल सकता। "अभियुक्त महाकवियो ने अपनी विवेक दृष्टि से जीवन के सिद्धान्त खोज निकाले है तथा त्रिभुवन की जनता का चित्र काव्य में निबद्ध किया है। उनका भलीभाँति अध्ययन करना चाहिये एवं उन्हीके मार्ग का अनुसरण हमें करना चाहिये (३०)।" इस प्रकार उनका समकालीन कवियो से अनुरोध है। चतुर्वर्ग का ज्ञान करा देनेवाले काव्य मे भी कवि कभी ऐसी बात निबद्ध करता है जो आपातत. आक्षेपार्ह लगती है। इस संबन्ध में रुद्रट का कथन है—"ऐसी बाते काव्य में निबद्ध करने में कवि का उद्देश्य उस बात का उपदेश करने का नही होता या उसके कहने का अर्थ यह भी नही होता कि काव्य में दर्शित उपाय हमने भी अपनाने चाहिये। केवल काव्य के अग के नाते रसिको के मनोविनोद के लिए ऐसी कोई बात काव्य में आती है एव वह लोकवृत्ति के अनुकूल ही होती है। इसीके कारण कवि का दोष बताने की कोई आवश्यकता नही है (३१)।"

शब्दार्थ और रस परस्परसंमुख हुए

रुद्रट के रसविवेचन से शब्दार्थ और रस परस्परसमुख हुए। 'काव्य है शब्दार्थ,' ये शब्दार्थ रसयुक्त होने चाहिये ऐसा उसने स्पष्ट रूप में कहा है। भामह एव दण्डी का 'रसैश्च सकलै. पृथक्' अथवा 'रसभावनिरन्तरम्' यह कथन और रुद्रट का 'तस्मात् तत्कर्तव्यम् यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्' यह वचन, इन दोनो में आशय में भेद है। वह भेद यह है कि भामह तथा दण्डी रसवत् काव्य को भी अलकृत काव्य—

---

२९. रसनाद्रसत्वमेषा मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥ (१२।४)

३०. सुकविभिरभियुक्तैः सम्यगालोक्य तत्त्वं
त्रिजगति जनताया यत्स्वरूपं निबद्धम्॥
तदिहमिति समस्तं वीक्ष्य काव्येषु कुर्यात्
कविरविरलकीर्तिप्राप्तये तद्वदेव॥ (१४।१७)

३१. न हि कविना परदारा एष्टव्या नैव चोपदेष्टव्याः।
कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्याः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्यागतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषः तेन न दोषः कवेरत्र॥ (१४।१२, १३)

कहते है तो रुद्रट रस को काव्य का गुण मानता है (३२)। भामह-दण्डी से रुद्रट तक काव्यचर्चा का प्रवाह क्रम से विकसित हुआ दिखाई देता है। शास्त्र एव काव्य दोनो में समान शब्दार्थ होने पर भी काव्य में ऐसी क्या विशेषता है जिससे कि काव्य आनन्ददायी होता है ? इस प्रश्न पर विचार करने पर शास्त्रकारो को 'सौदर्य' काव्य का विशेष धर्म उपलब्ध हुआ। यह सौदर्य शब्दार्थो में किस कारण से आता है इसका विचार करने पर अर्थसस्कार अर्थात् वक्रोक्ति यह कारण भामह को उपलब्ध हुआ। उसके लिए भामह ने 'अलंकार' की भरतकालीन सज्ञा का ही उपयोग किया। इससे वाङमय के अन्य प्रकारो से काव्य का व्यवच्छेद हुआ। भामह-दण्डी के पश्चात् इसीको लेकर और विचार चलता रहा, तब यह प्राप्त हुआ कि पूर्वाचार्यो के अलकारो में कुछ एक सौदर्यनिर्माण के लिए आवश्यक है एव कुछ एक केवल पोषक है। यही गुणालकारविवेक का आरभ है। शब्दार्थसस्कार सौदर्य का पोषक तो है किन्तु यह होने के लिए उनका ठीक ठीक बन्ध होना चाहिये। गुण काव्यबन्ध का विशेष है। इन बन्धगुणो में भी रसदीप्ति अर्थात् कान्ति भी एक गुण था। रस-दीप्ति के विचार के साथ ही काव्यचर्चा का रूप सूक्ष्म होता गया, एव यह पाया गया कि काव्य का सौदर्य रस में है। रुद्रट ने अपना विचार स्पष्ट रूप में बताया है कि रस न होने से काव्य भी शास्त्र के समान ही शुष्क होता है।

किन्तु शब्दार्थो से रसनिष्पत्ति किस प्रकार होती है इस प्रश्न का उत्तर अभी मिला नही था। काव्यवस्तु का विश्लेषण पूरा हो चुका था। शब्दार्थ, अलकार, गुण, रस ये घटक उसमें पाये गये। ये घटक विवेच्य थे। किन्तु विभाज्य न थे। लेकिन इनमें सबन्ध किस प्रकार का था यह प्रश्न अभी अनुत्तरित था। शास्त्र के विकास में Classification एव Analysis का कार्य समाप्त हुआ था। अब यह चर्चा Synthesis एव Explanation के क्षेत्र में प्रवेश कर रही थी। अनेक मत-मतान्तरो का (Hypothesis) ताँता-सा बन्धा रहा। उनमें ध्वनिकार आनन्द-वर्धन ने भी अपना एक मत प्रस्तुत किया। वह मत ऐसा था जिससे कि काव्यचर्चा में एक अनोखी क्रान्ति हो गई, एव काव्यालकार का साहित्यशास्त्र में रूपान्तर हुआ।

---

३२. अथ अलंकारमध्ये एव रसः कि नोक्ताः ? उच्यते — काव्यस्य हि शब्दार्थौ शरीरम् तस्य वक्रोक्तिवास्तवादयः कटकुण्डलादय इव कृत्रिमा अलकाराः। रसास्तु सौंदर्यादय इव सहजाः गुणाः इति भिन्नः तत्प्रकरणारंभः। नामिसाधु. रुद्रट १२।२ पर टीका.

अध्याय छठा

शब्दार्थों का साहित्य

रुद्रट जिस काल में अपना ग्रन्थ 'काव्यालकार' लिख रहे थे उसी काल में या तत्पश्चात् कुछ समय से ध्वनिकारिकाएँ बन रही थी (१)। ध्वनितत्त्व का प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में किया है। इस ग्रन्थ की महत्ता के विषय में महामहोपाध्याय पा. वा काणे महोदय लिखते हैं—"अलकार-शास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। व्याकरणशास्त्र में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का जो महत्त्व है, अथवा वेदान्तशास्त्र में 'वेदान्त-सूत्रो' का जो महत्त्व है, कह सकते हैं कि वही महत्त्व अलकारशास्त्र में 'ध्वन्यालोक' का है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता ने अपनी गभीर विद्वत्ता एव सूक्ष्म आलोचनबुद्धि का परिचय दिया है। उनकी भाषा स्पष्टार्थक एव समर्थ है तथा उसमें पदे पदे स्वतन्त्र बुद्धि की मुद्रा दिखाई देती है। ध्वनिकार आलकारिको के मार्ग के प्रस्थापक है (ध्वनि-कृतामालकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्) ऐसा रसगगाधरकार पडितराज जगन्नाथ ने कहा है वह पूर्णरूप से सत्य है। 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक टीका अभिनव-गुप्त ने लिखी है। व्याकरण शास्त्र में पतञ्जलि के 'महाभाष्य' का या वेदान्त में 'शाङ्करभाष्य' का जो स्थान वही स्थान साहित्यशास्त्र में 'लोचन' को दिया जाना चाहिये।" 'ध्वन्यालोक' तथा उसकी टीका 'लोचन' दोनों में ध्वनितत्त्व का

---

१. ध्वनिकारिकाएँ किस की लिखी हों इस विषय में मतभेद है। म म. काणे, डॉ डे आदि विद्वानों के मत में कारिकाकार आनन्दवर्धन से भिन्न है। इधर, कारिका एव वृत्ति दोनों आनन्दवर्धन की है ऐसा डॉ. शकरन्, डॉ. शर्मा आदि का मत है। ध्वनिकारिकाएँ आनन्दवर्धन की नहीं हैं, किन्तु कारिकाकार भी कोई नहीं हुआ। ये कारिकाएँ पूर्व काल से साहित्यकारों में अव्यवस्थित रूप में प्रचलित थीं। आनन्दवर्धन ने उन्हें एकत्रित करते हुए वृत्ति में उनका ग्रथन किया ऐसा मत अभी अभी प्राध्यापक आष्टीकर महोदय ने प्रस्तुत किया है। [युगवाणी (मराठी), १९५२]।

परमतखण्डनसहित विवेचन आया है। 'लोचन' के पश्चात् ध्वनितत्त्व पर जो आक्षेप उपस्थित किये गये उनका खण्डन मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में किया एव ध्वनितत्त्व की साहित्यशास्त्र में चिरन्तन प्रतिष्ठापना की।

साहित्यचर्चा का उत्कर्ष

आनन्दवर्धन का समय ८४० से ८७० तक का निर्धारित किया गया है। अभिनवगुप्त का लेखनकाल ९९० से १०२० तक का था एव 'काव्यप्रकाश' ख्रि. ११००ई. के लगभग लिखा गया है। सारांश, ख्रि ८५० से ख्रि ११०० तक के २५० वर्षो के काल में ध्वनितत्त्व की प्रस्थापना हुई। यह २५० वर्षो का काल साहित्यचर्चा के उत्कर्ष का काल है। ध्वनितत्त्व के विवेचक असाधारण तो थे ही, किन्तु ध्वनितत्त्व के विरोधक भी साधारण व्यक्ति न थे। मुकुल, भट्टनायक, कुन्तक, धनजय, महिमभट्ट, भोज आदि ध्वनि के विरोधक इसी काल मे हुए है। राजशेखर भी इसी काल में हुए। औचित्यविचार करनेवाला क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त का शिष्य था। इनके अतिरिक्त रसचर्चा करनेवाले लोल्लट, शकुक, भट्टतौत आदि है। साराश, यह काल साहित्यचर्चा का परम उत्कर्ष का काल है।

आनन्दवर्धनकृत उपपत्ति (सन् ८४० से ८७० ईसवी)

उत्तरार्ध में ध्वनि के विवेचन के विषय में एक सम्पूर्ण अध्याय तो रहेगा ही, किन्तु साहित्यचर्चा का विकास दर्शाने के लिए यहाँ कुछ एक प्रमाण देने चाहिये। उद्भट ने कहा है—काव्यव्यवहार अमुख्यवृत्ति से अर्थात् गुणवृत्ति से होता है। वामन ने कहा है कि गुण काव्यसौदर्य के कारक धर्म होते है, एव रुद्रट का अनुसधान है कि काव्यसौदर्य रसाश्रित होता है। किन्तु यहाँ अनेक प्रश्न उपस्थित होते है। शब्द की मुख्य वृत्ति का त्याग करते हुए कवि अमुख्य वृत्ति का आश्रय करता है तो क्यों करता है? यदि गुण काव्यशोभा के कारक हेतु है तो शब्दार्थाश्रित गुण रस का निर्माण कैसे कर पाते है? शब्दार्थमय काव्य से रस निर्माण होता है इसका अर्थ क्या है? इन प्रश्नो का समाधान न किया तो काव्यचर्चा पूरी नही हो सकती। आनन्दवर्धन ने यह कार्य किया। उनका विचार इस प्रकार है—

(१) मुख्यार्थ का बाध करते हुए कवि लक्ष्यार्थ अर्थात् अमुख्य वृत्ति का आश्रय करता है तो किसी कारण के बिना नही करता। उसके पीछे कवि का कुछ प्रयोजन (हेतु) होता है। यह प्रयोजन उन शब्दार्थो के द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस कारण से वह व्यङ्ग्य है। शब्दार्थो के द्वारा कवि अपना यह प्रयोजन अर्थात् व्यङ्ग्य ही रसिक हृदय में संक्रामित करता है।

(२) अतएव काव्यगत शब्द के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इस प्रकार तीन अर्थ होते है । इन अर्थो की अपेक्षा के हेतु शब्द को वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक कहा जाता है । शब्द की इस अर्थबोधन की शक्ति को ही क्रम से अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की सज्ञाएँ है ।

(३) अपना प्रयोजन अर्थात् व्यङ्ग्य परिणामकारी रूप में अभिव्यक्त करने के लिए ही कवि वक्रोक्ति का आश्रय करता है । इस दृष्टि से ही अलकारो का काव्य में स्थान है । लौकिक शब्दार्थो को व्यजक बनाना—व्यग्यव्यजनक्षम बनाना—यही अलकारो का कार्य है । व्यग्यरूप प्रयोजन के विरहित वक्रोक्ति का उपयोग केवल वाग्विकल्प मात्र है ।

(४) व्यंग्य अर्थ का अत्यन्त सुदर रूप 'रस' है । 'रस' चर्वणारूप चित्तवृत्ति है और वह स्वसवेद्य है । मन की दृति, दीप्ति एव विस्तार इन अवस्थाओ पर रस का आस्वाद अवलबित होता है । मन की इन्ही अवस्थाओ को साहित्यशास्त्र में क्रमश माधुर्य, ओजस् एव प्रसाद कहा है । ये गुण है ।

(५) अर्थात् ये गुण रस में समवाय वृत्ति से रहते है । काव्यगत शब्दार्थों के सयोग से मन की ये अवस्थाएँ उदित होती है, अतएव गुण शब्दार्थो के है यह केवल उपचार से कहा जाता है । गुण तथा विशेष रूप की पदसघटना इनमें अव्यभिचारी सबन्ध नही होता ।

(६) काव्यगत शब्दार्थो के सयोग से रसिक के मन की विशेष अवस्था उदित होती है । एव वह उस अवस्था का आस्वाद लेता है यह अनुभव है । आस्वाद की अवस्था ही रस की अभिव्यक्ति है । रस की अभिव्यक्ति करनेवाली शब्दार्थों की इस शक्ति को 'व्यजनाव्यापार' की सज्ञा है ।

(७) महाकवियो के काव्य में शब्दो का व्यजनाव्यापार ही प्रधान होता है । काव्य में पाये जानेवाले व्यापार का विशेष 'व्यजना' ही है । काव्य में शब्दार्थो का सबन्ध वाच्यवाचकरूप अथवा लक्ष्यलक्षकरूप न होकर व्यग्यव्यजकरूप होता है ।

(८) अतएव व्यंग्यव्यजकरूप शब्दार्थसबन्ध ही काव्यगत शब्दार्थो का साहित्य है, इस संबन्ध को ही 'ध्वनि' सज्ञा है । इसी कारण से ध्वनि काव्य की आत्मा है । ध्वनि शब्द से व्यग्य, व्यजक और व्यजना तीनो का बोध होता है ।

(९) काव्यगत शब्दार्थो का पर्यवसान रस के आस्वाद में होता है । काव्य में रस ध्वनित होता है । वक्रोक्ति अथवा अलंकारो के कारण ही शब्दार्थों में रस ध्वनित करने का सामर्थ्य आता है ।

(१०) रस के आस्वाद के लिए रसिक की योग्यता भी अपेक्षित है । यह योग्यता केवल व्याकरण के ज्ञान से अथवा तर्क के ज्ञान से नहीं आती । उसके लिए

रसिक के पास प्रज्ञा की विमलता एव वैदग्ध्य होना आवश्यक है। रसिक के यह गुण उसके चित्त की दृति—दीप्ति—विस्तार से अभिव्यक्त होते है। ये ही गुण है। इन गुणो के कारण ही हृदयसवाद होकर काव्य आस्वाद्य होता है।

(११) अतएव काव्यगत शब्दार्थसाहित्य केवल कविगत व्यापार नहीं है, केवल शब्दार्थगत व्यापार नही है या केवल रसिकगत व्यापार भी नही है; वह कविसहृदयगत अखण्डानुभवरूप व्यापार है। अतएव अभिनवगुप्त ने कहा है कि सरस्वती का तत्त्व कविसहृदयरूप है।

आनन्दवर्धन की इस उपपत्ति का साहित्यशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस उपपत्ति का एक महान् विशेष यह है कि कवि से रसिक तक आनेवाली प्रतीति की अखण्डता पर यह उपपत्ति आधारित है। इसी कारण से काव्य के सभी अगो की इसमें ठीक ठीक व्यवस्था की जा सकी। और आनन्दवर्धन के पूर्व उत्पन्न हुई सभी विचारधाराएँ इस उपपत्ति में विलीन हुई तथा नवीन विचारधाराएँ इस उपपत्ति से प्रवाहित हुई। भामह की वक्रोक्ति, दण्डी के काव्यशोभाकर धर्म, उद्भट की अमुख्य वृत्ति, वामन की रीति, रुद्रट की वृत्ति; सक्षेपतः पूर्वकाल के सभी 'काव्यप्रस्थानो' पर विचार करते हुए आनन्दवर्धन ने अपनी उपपत्ति में उनकी अविरोधेन व्यवस्था की। अपनी उपपत्ति का सूत्ररूप में कथन उन्होने 'काव्यस्यात्मा ध्वनि.' इस प्रसिद्ध वचन से किया है। (२)। इस वचन के दो अर्थ किये गये। एक अर्थ यह कि रसध्वनि काव्य की आत्मा है एव दूसरा अर्थ यह कि ध्वनन अर्थात् व्यजनाव्यापार ही काव्यगत शब्दार्थो की आत्मा है। इनमें से रस का काव्यात्मत्व सभी साहित्यपडितो को स्वीकार हुआ। किन्तु ध्वनन व्यापार के विषय में पडितो में मतभेद हुए। इन मतभेदों से ही ध्वनिविरोधक उदय हुए एव काव्यचर्चा का रुख ही बदल गया। जयरथ का कथन है कि ध्वनितत्त्व के विरोधियो के कुल बारह भेद थे। इन विरोधियो के विचार उत्तरार्ध में दर्शाये जायेंगे। यहाँ इतना ही कहना है कि इन विरोधियो की चर्चा-प्रतिचर्चा में एक ही प्रश्न का ऊहापोह हो रहा था। वह प्रश्न यही था कि काव्यगत शब्दार्थो का रसास्वाद में पर्यवसान होता है तो कैसे होता है ? इस विषय में अनेक विद्वानो ने अनेक उपपत्तियाँ बताई। भट्ट लोल्लट का कहना था कि शब्दार्थो से रस निर्माण होता है, श्रीशकुक एव महिमभट्ट का विचार था कि रस अनुमित होता है। मुकुल ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे, तो भट्ट

२. काव्यस्यात्मा ध्वनि·" यह कारिकाकार का वचन है। वृत्तिकार का नहीं। किन्तु 'ध्वन्यालोक' आनन्दवर्धन का ग्रन्थ है और इस ग्रन्थ में कारिका भी अन्तर्गत हैं, इस दृष्टि से ही इसे आनन्दवर्धन का वचन कहा है। 'ध्वन्यालोक' के किये हुए निर्देशों में सर्वत्र यही अभिप्राय है।

नायक भोगीकरण का सिद्धान्त उपस्थित करते थे। कुन्तक ध्वनि को वक्रोक्ति का ही भेद मानते थे तो धनजय एव धनिक उसे तात्पर्यार्थ समझते थे। भोज तात्पर्यार्थ और ध्वनि में मेल करने की चेष्टा करते थे। परन्तु इन सभी के समक्ष एक ही प्रश्न था। वह था—"किमेतत् (शब्दार्थयो) साहित्यम् ?"। "कोऽसौ अलकार. ?" का प्रश्न अब पिछड़ गया था। इसीमें से "काव्यालकार" का "साहित्य" मे रूपातर हुआ। उसका स्वरूप अब हम देखेंगे।

आनन्दवर्धन से मम्मट तक हुए कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकार और उनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(१) राजशेखर—काव्यमीमांसा (सन् ९२० ईसवी)
(२) मुकुलभट्ट—अभिधावृत्तिमातृका (सन् ९२० ईसवी)
(३) भट्टतौत—काव्यकौतुक (सन् ९५०-९९० ईसवी)
(४) भट्टनायक—हृदयदर्पण (सन् ९५०-१००० ईसवी)
(५) अभिनवगुप्त—लोचन, अभिनवभारती (सन् ९९०-१०२५ ईसवी)
(६) कुन्तक—वक्रोक्तिजीवित (सन् ९२५-१०२५ ईसवी)
(७) धनजय, धनिक—दशरूप व अवलोक (सन् ९७५ ईसवी)
(८) महिमभट्ट—व्यक्तिविवेक (सन् १०२०-१०६० ईसवी)
(९) भोज—सरस्वतीकठाभरण, शृगारप्रकाश (सन् १०१५-१०५५ ईसवी);
(१०) क्षेमेन्द्र—औचित्यविचारचर्चा (सन् १०५० ईसवी)
(११) मम्मट—काव्यप्रकाश (सन् ११०० ईसवी)।

इनके अतिरिक्त सभव है कि भट्ट लोल्लट और श्रीशकुक ये नाट्यशास्त्र के दो टीकाकार भी इसी काल में हो गये। इनमें भट्टतौत, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र और मम्मट ध्वनिकार के अनुयायी हैं। मुकुलभट्ट लक्षणावादी है, धनंजय और धनिक तात्पर्यवादी (अभिहितान्वयवादी) तथा भट्टलोल्लट अन्विताभिधानवादी मीमांसक है। इन्हे व्यंजनावृत्ति स्वीकार नही है। भोज भी तात्पर्यवादी ही है किन्तु वे तात्पर्यवाद और ध्वनि में सामंजस्य लाना चाहते हैं। उनका विचार है कि, "तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये।" श्रीशकुक और महिमभट्ट अनुमानवादी हैं। इनके मन्तव्य के अनुसार रस अनुमित होता है। इन्हे लक्षणा एव व्यजना दोनो वृत्तियाँ स्वीकार नही है एव दोनो को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। कुन्तक वक्रोक्तिवादी हैं। वे ध्वनि को अर्थवक्रता का ही एक भेद मानते हैं। राजशेखर का ग्रन्थ पूर्ण रूप में उपलब्ध नही है; इस लिए ध्वनि के विषय में उनका क्या विचार था यह समझने के लिए कोई साधन नही। भट्टनायक भोगीकृतिवादी है। उन्हें भी व्यजना स्वीकार नही है।

काव्य कविकर्म है। कवि से आरंभ होनेवाला एव रसिक के रसास्वाद में पर्यवसित होनेवाला वह एक व्यापार (activity) है। इस दृष्टि से उपर्युक्त ग्रन्थकारो का वर्गीकरण किया तो उनके तीन वर्ग हो सकते हैं। ध्वनिकार एव उनके अनुयायी कवि-रसिकमुख से काव्य की विवेचना करते थे। राजशेखर, कुन्तक और भोज, कविव्यापारमुख से विवेचना करते है। अन्य सभी विवेचक रसिक व्यापार-मुख से विवेचना करते है। रसिकव्यापार के विवेचको का मन्तव्य उत्तरार्ध में रस-विवेचन में विस्तरशः आवेगा। कविव्यापारमुख से विवेचना करनेवालो का कहना क्या है हम यहाँ देखेंगे। इससे साहित्य की कल्पना विशेष रूप से विशद होगी।

राजशेखर (सन् ६२० ईसवी)

'काव्यमीमासा' राजशेखर का एक अपूर्व ग्रन्थ है। यह पूर्णरूप में उपलब्ध नही है। आरभ में ग्रन्थकार ने दिये हुए अनुक्रमणिका के प्रमाण से देखें तो ग्रन्थ १८ अधिकरणो का होना चाहिये। इनमें से केवल प्रथम कविरहस्य नामक अधिकरण उपलब्ध है। अन्य १७ अधिकरण राजशेखर ने पूरे लिखे या नही इसका कोई पता नही चलता। उपलब्ध अश में ही १८ अध्यायों में साहित्य के विषय में इतनी विपुल एव विविध सूचनाएँ हैं कि यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हुआ तो वह साहित्यशास्त्र का एक विश्वकोष ही होगा।

'काव्यमीमांसा' के प्रथम अधिकरण में ही इतने विषय आये है कि सभी विषयो की स्थूलमान से कल्पना देना भी स्थलाभाव के कारण असभव है। साहित्यकल्पना का विकास दर्शाने के लिए आवश्यक प्रमाण ही यहाँ प्रस्तुत करेंगे। पहली तो बात यह है कि यह "कविरहस्य" कवियो को पथप्रदर्शन हो इस दृष्टि से ही लिखा गया है; अतएव इसमें कवि की दृष्टि से शास्त्रविवेचन एव व्यावहारिक सूचनाएँ (Suggestions) दी गई है। साहित्यविद्या अर्थात् अलकारशास्त्र को राज-शेखर सातवॉ वेदाग या पॉचवी विद्या मानता है। "शब्दार्थयो· यथावत् सहभाव"—"शब्दार्थो का परस्परोचित सहावस्थान साहित्य है।" वह रस को काव्य की आत्मा मानता है। तीसरे अध्याय में काव्यपुरुष का वर्णन करते हुए उसने कहा है—"शब्दार्थौ ते शरीर, सस्कृत मुख, प्राकृत बाहू, जघनमपभ्रश·, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः, प्रसन्नो, मधुर, उदार, ओजस्वी चासि। उक्तिचरण च ते वचो, रस आत्मा, .. अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति"। इसमें उसने सभी काव्यागो को अन्तर्भूत करते हुए उनकी व्यवस्था सूचित की है। इस काव्यपुरुष का उसने साहित्य-विद्यावधू से विवाहसपन्न किया है। इससे वह काव्य एव काव्यचर्चा का अविभाज्य सबन्ध ही सूचित करता है। उसका विचार है कि शक्ति ही काव्य का एकमात्र

कारण है। उसका कथन है कि इस शक्ति से ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति का आविर्भाव होता है। उपरान्त वह काव्यपाक अर्थात् कवित्व की परिणत दशा का अर्थ बताकर, "गुणवदलक्कृत च वाक्यमेव काव्यम्।" ऐसा काव्यलक्षण देता है। प्रतीत होता है कि उसका काव्यलक्षण एव काव्यपाकविवेचन वामन के अनुसार ही हुआ है।

काव्यविवेचन एव उसकी सत्यता के विषय में उसका विवेचन महत्त्वपूर्ण है। काव्यपर आरोप लगाया जाता था कि काव्य में विषय एव वर्णन असत्य होते हैं। उसका निर्देश करते हुए राजशेखर ने उसका खण्डन किया है। इस प्रसग में उसने काव्यप्रत्यक्ष का स्वरूप विशद किया है। भामह के काल में भामह ने इस प्रश्न का किस प्रकार समाधान किया है यह हम पूर्व देख चुके हैं। शास्त्रीय न्याय भिन्न होता है एव लोकाश्रित न्याय भिन्न होता है इस प्रकार विवेक करते हुए भामह ने काव्यप्रत्यक्ष का स्वरूप दर्शाया। भामह के पश्चात् उद्भट ने इस विषय पर विवेचन किया। उद्भट के विचार के अनुसार अर्थ के दो भेद होते हैं। एक अर्थ 'विचारितसुस्थ' अर्थात् विचार के व्यवस्थित रूप से सिद्ध होता है एव दूसरा अर्थ 'अविचारित रमणीय' होता है, जिसमें कार्यकारणादि विवेक के लिए विशेष स्थान नही होता, केवल रमणीकता ही देखी जाती है। इनमें से प्रथम अर्थात् 'विचारितसुस्थ' अर्थ शास्त्र का विषय है, और अविचारितसुस्थ अर्थ काव्य का विषय है (३)। उद्भट के इस विचार का निर्देश महिमभट्ट ने भी अपने 'व्यक्ति-विवेक' में किया है।

उद्भट का यह मन्तव्य राजशेखर को स्वीकार नहीं है। यह अर्थविभाग स्वीकार करने से काव्य के असत्य निर्धारित होने की आपत्ति होती है। अर्थ के विचारित एव अविचारित इस प्रकार विभाग किये तथा विचारित की सत्यता स्वीकार की (और वह तो स्वीकार करनी पड़ती ही है) तो अविचारित अर्थ आप ही असत्य हो जाता है। राजशेखर का मत है कि उद्भट का यह विभाग ही उपपन्न नही होता। शास्त्र का अर्थ एव काव्य का अर्थ, दोनो की कक्षाएँ मूलत. भिन्न हैं। अतएव एक को सत्य और दूसरे को असत्य बताना असभव है। विश्व में विषय जैसे होते हैं उसी प्रकार उनका विवरण करने का शास्त्र का प्रयास होता है। किन्तु इस प्रकार स्वरूपवर्णन करना काव्य का प्रयोजन नही होता। विश्व में विषय जैसे दीखते हैं अथवा प्रतीत होते है उसी प्रकार काव्य में कवि उनका वर्णन करता है। शास्त्रीय वर्णन 'स्वरूपनिबन्धन' होता है, तो काव्य में वर्णन 'प्रतिभासनिबन्धन' होता है।

---

३. अस्तु निःसीमा अर्थसार्थः किन्तु द्विरूप एवासौ, विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च इति। तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि इति औद्भटाः। (का. मी. पृ. ४४)

कालिदास आकाश को 'असिश्याम' कहते हैं और वाल्मीकि उसीको 'नीलोत्पलद्युति' कहते हैं। यह आकाश का स्वरूपवर्णन नही है, प्रतिभासनिबद्ध वर्णन है। कवि को जैसा वह प्रतीत हुआ वैसा ही उसने उसे प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त, प्रतिभास का वस्तुओ से तादात्म्य संबन्ध नही होता। यदि ऐसा होता तो हमारी आँखें जो सूर्य के या चन्द्रमा के बिम्ब को थाली के आकार के देखती है वे बिम्ब शास्त्र में पृथ्वी के या उससे भी बडे आकार के है ऐसा नही बताया जाता। वस्तुओ के इन यथाप्रतिभास रूपो का शास्त्र में भी महत्त्व होता है। काव्य में वर्णन तो पूर्णरूपेण प्रतिभासनिबन्धन होते हैं (४)।

वस्तु का यह प्रतिभास अथवा प्रतीति वस्तु से तादात्म्यसबन्धबद्ध नही होती इसका अर्थ यह नही होता कि वह प्रतीति असत्य होती है। कवि की वह प्रतीति लोकव्यवहार से अथवा लोकानुभव से सवादी होती है। अतः उसमें सत्यता भी होती है। राजशेखर ने यहाँ शास्त्रीय प्रत्यक्ष और काव्यप्रत्यक्ष में भेद ठीक ठीक दर्शाया है। काव्य में वर्णन प्रतिभासनिबन्धन होने से कल्पित होता है एव शास्त्रीय सत्य स्वरूपनिबन्धन होने से कल्पनापोढ होता है।

यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह प्रतिभास भ्रम नही होता। प्रतिभास को ही वस्तुस्वरूप समझ कर यदि कोई तदनुकूल कार्य करें तो वह भ्रम की अवस्था होगी। मृगमरीचिका दीखना या सीप चाँदी के समान चमकती हुई दीखना यह भ्रम नही है, यह तो प्रतिभास है। किन्तु मृगजल देखकर यदि हम पानी पीने की अभिलाषा से उसकी ओर दौडते है या चाँदी का टुकडा समझ कर सीप को उठाने के लिए हाथ बढाते है तो वह प्रतिभास भ्रम में रूपातरित होता है। क्यो कि, उस समय हम प्रतिभास का उस वस्तु से तादात्म्यसबन्ध जोडने की चेष्टा करते हैं। कानून में Appearance और Mistake में माना हुआ भेद प्रतिभास एव भ्रम को ठीक लागू होता है।

प्रतिभास और अलंकार

काव्यस्थित वर्णनो को प्रतिभासनिबन्धन कहने में राजशेखर केवल अपना पाडित्य दर्शाना नही चाहता, वह सम्पूर्ण अलकारवर्ग की उपपत्ति स्थिर करता है।

---

४. न स्वरूपनिबंधनमिद रूपमाकाशस्य सलिलादेर्वा, किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्। न हि प्रतिभासः वस्तुनि तादात्म्येनावतिष्ठते। यदि तथा स्यात् सूर्याचन्द्रमसोर्मण्डले दृष्ट्या परिच्छिद्यमानद्वादशागुलप्रमाणे पुराणाद्यागमनिवेदितधरावलयमात्रे न स्त. इति यायावरीयः। यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबंधोपयोगी.. काव्यानि पुनरेतन्मयान्येव। (का. मी. पृ. ४४)

प्रतिभास एक प्रतीति है तथा एक प्रतीति की दृष्टि से उसे उसके क्षेत्र में सत्यता है। शब्द की वाच्यार्थबोधक शक्ति की—अभिधा की वास्तव सत्यता है, परन्तु लक्षणा की भी—वह अभिधा से भिन्न होने पर भी—सत्यता है, क्यो कि वह भी एक प्रतीति ही है (अभिधेयाऽविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते—कुमारिल)। प्रतिभास-रूप काव्यप्रत्यक्ष एव लक्षणा, दोनो की प्रतीतिनिष्ठ सत्यता की सीमाएँ भी समान हैं। काव्यप्रत्यक्ष लोकाश्रित अर्थात् लोकानुभव से सवादी होना चाहिये, लक्षणा भी लोकाश्रित ही होनी चाहिये (लक्षणाऽपि लौकिकी एव—शबरस्वामी)। यह प्रतिभासनिबन्धनत्व ही अलकारो का मूल है, एव शब्दो में उसका विलास लक्षणा-शक्ति के द्वारा हुआ दिखाई देता है। इस लिए प्रतिभास एव लक्षणा दोनो की सीमाएँ अलकारो को भी लागू होती हैं। वामन ने उपमा के लिए एक ओर लोक-प्रसिद्धत्व का एव दूसरी ओर असभवदोष टालने का बन्धन दिया है, इसका मूल लोकाश्रितता की कल्पना है। लोकाश्रितता एव सभवनीयता की दो सीमाओ के मध्य प्रतिभास स्फुरित होता है। इस प्रतिभास की विविधता अलकारभेदो का मूल है। अलकारभेद प्रतिभासप्रतीति की विविधता से उपपन्न होते हैं। अनेक अलकार सादृश्यमूल तो हैं, किन्तु सादृश्यप्रतीति की विविधता के कारण वे भिन्न होते हैं। आलकारिको ने यह समयसमय पर स्पष्ट रूप में बताया है। दो भिन्न पदार्थों में केवल सादृश्यप्रतीति हो तो वह उपमा होगी, सादृश्य के कारण सदेह-प्रतीति हो तो वह ससदेह होगा, सदेह की उत्कटकोटिक प्रतीति हो तो वह उत्प्रेक्षा होगी, अभेदप्रतीति हो तो वह रूपक होगा, तादात्म्यप्रतीति हो तो अतिशयोक्ति होगी; अन्यथाप्रतीति हो तो वह अपह्नुति होगी; एव अन्यथाप्रतीति के कारण निष्पन्न क्रिया से कर्ता के मिथ्या अध्यवसाय की प्रतीति हो तो वह भ्रान्तिमान् होगा। ये सब प्रतीतियाँ प्रतिभासरूप ही हैं। कवि इस प्रतीतिभेद के कारण ही वैचित्र्य निर्माण करता है। यही उसकी अलौकिक सृष्टि है। इस प्रतीतिवैचित्र्य के कारण ही, विषय के घिसे होने पर भी, कवि की वाणी 'प्रतिक्षण नई रुचि' पैदा करती है। आनन्दवर्धन 'विषमबाणलीला' में कहते हैं— "प्रिया के विभ्रम की एव सुकवि की वाणी के अर्थ की कोई सीमाएँ तो है ही नही; और उनकी कभी पुनरुक्ति हुई नजर नहीं आती (५)।"

काव्यार्थ की सत्यता का स्वरूप कथन करने के पश्चात् वह उनकी रसवत्ता के विषय में लिखता है। इसमें उसने भट्ट लोल्लट के मत का परीक्षण किया है। भट्ट लोल्लट का मन्तव्य इस प्रकार है— "विश्व में असख्यात अर्थ है। किन्तु उनमें

---

५. न अ ताण घडइ ओही, ण इ ते दीसंति कहइ पुनरुत्ता
जे विब्भमा पिआण, अत्था या सुकइवाणिणम् ॥

से जो अर्थ रसवत् है उन्ही का निबन्धन कवि अपने काव्य में करता है। नीरस अर्थों का नही करता।" राजशेखर इसपर कहता है— "ठीक है। इसमें कोई सदेह नही कि महाकवियों के काव्यों में वर्णित अर्थ रसवत् होते है। परतु अर्थो में यह रसवत्ता कहाँ से आती है? ससार के अर्थो में से कुछ अर्थ मूलतः रसवत् एव कुछ अर्थ मूलत. नीरस होते है ऐसा निश्चय कैसे किया जायँ? और ऐसा अर्थ स्वीकार किया तथा स्त्री, चदन आदि अर्थ मूलत रसवत् होते है यह मान भी लिया तो भी ऐसा तो नही कि ऐसे सरस अर्थो को भी अपने बेढगे वर्णनो से नीरस बनानेवाले कवि होते ही नही। इसके विपरीत श्मशान आदि भीषण पदार्थो मे भी अपनी वाणी से रसवत्ता भर देनेवाले कवि भी होते ही है। तो काव्य की सरसता या नीरसता भी वस्तुगत नही होती; वह तो कविवचन पर ही अवलबित होती है, एव कविवचन भी कवि की प्रतीति का ही द्योतक होता है। अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए राजशेखर बौद्ध साहित्य पडित पाल्यकीर्ति का वचन देता है— "प्रिया के साथ जिसकी हेमन्त ऋतु की राते भी क्षण के समान व्यतीत होती है उसे चन्द्रमा भी अमृत के समान शीतल प्रतीत होगा तो विरहाकुल व्यक्ति को वही चन्द्रमा उल्का के समान तापदायक होता है। किन्तु हम जैसे लोगो को— जिनके कोई प्रिया भी नही है और विरह भी नही है—चन्द्रमा केवल दर्पण के समान दीखेगा, वह शीत भी नही प्रतीत होगा और उष्ण भी नही प्रतीत होगा (६)।" साराश, काव्यार्थ की सत्यता जिस प्रकार कवि-प्रतीतिनिष्ठ होती है उसी प्रकार उसकी रसवत्ता भी कविप्रतीतिनिष्ठ ही होती है। मूलत. पदार्थ सरस भी नही होते या नीरस भी नही होते। राजशेखर के इस विवेचन से आनन्दवर्धन के निम्न पद्यो का स्वाभाविक स्मरण हो आता है—

अपारे काव्यससारे कविरेक प्रजापति·।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥
शृगारी चेत् कविर्जात सर्व रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेत् नीरस सर्वमेव तत्॥

इस कविप्रतीति का आविर्भाव कविवचनो में होता है। यही आविर्भाव शब्दों के द्वारा यथार्थ रूप में होना राजशेखर के विचार में शब्दार्थो का यथावत् सहभाव अर्थात् साहित्य है।

---

६. येषा वल्लभया समं क्षणमिव स्फारा क्षपा क्षीयते
तेषा शीततर· शशी विरहिणामुल्केव संतापकृत्।
अस्माक तु न वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिना-
मिन्दू राजति दर्पणाकृतिरयं नोष्णो न वा शीतलः॥

कुन्तककृत साहित्यविवेचन (सन ९२५–१०२५ ईसवी)

राजशेखर साहित्य कों शब्दार्थो का यथावत् सहभाव कहता है तो कुन्तक उसीको शब्दार्थो का अन्यूनातिरिक्तत्व से अवस्थान कहता है। कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है, उसका लेखनकाल ख्रि. ९२५ से १०२५ के मध्य आता है। कुन्तक और अभिनवगुप्त समसामयिक थे, सभवत वे सहाध्यायी भी थे ऐसा डॉ. लाहिरी का विचार है।

"साहित्य क्या है ?" इस प्रश्न से ही कुन्तक ने विवेचन का आरभ किया है। "शब्दार्थो का सहभाव नित्य व्यवहार में भी पाया जाता है। फिर साहित्य में शब्दार्थो का सहभाव चाहिये यह कहने में क्या विशेषता है? (७)" इस प्रकार प्रश्न उपस्थित करते हुए कुन्तक कहता है— "यह तो ठीक है कि शब्दार्थो का वाच्यवाचक सहभाव सर्वत्र होता है, किन्तु यह भी सत्य है कि इस सहभाव का परमार्थ काव्यमार्ग में ही पाया जाता है (८)।" काव्य में शब्दार्थो की रमणीयता की दृष्टि से अन्यून एव अनतिरिक्त अवस्थिति होती है (९)। शब्द और अर्थ का, शब्द और शब्द का, एव अर्थ और अर्थ का पारस्परिक शोभा बढानेवाला सौदर्यशाली अवस्थान ही काव्य मे अभिप्रेत साहित्य है। काव्य में शब्दार्थो की परस्पर रमणिकता बढाने में मानो स्पर्धा चलती है। इस प्रकार की स्पर्धा जिनमें परिस्फुरित होती है ऐसे वाक्यविन्यासो के द्वारा प्रतीत होनेवाला सौदर्य ही काव्यगत शब्दार्थसाहित्य है। साहित्य के विषय में अपनी कल्पना कुन्तक ने परिकर श्लोक में सक्षेपतः एकत्र प्रस्तुत की है—

मार्गानुगुण्यसुभग माधुर्यादिगुणोदय।
अलकरणविन्यासः वक्रतातिशयान्वितः॥
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसाना परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥
सा काऽप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुदरा।
पदादिवाक्परिस्पन्दसार साहित्यमुच्यते॥

---

७. शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते॥ (१।१६)

८. वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमपि यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥ (१।८)

९. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥ (१।१७)

"मार्ग (रीति) के लिए उचित सिद्ध होनेवाला माधुर्य आदि गुणो का उदय, वक्रता का (वैचित्र्य का) अतिशय द्योतित करनेवाला अलकारविन्यास, एव रसो का वृत्तियो के औचित्य से निष्पन्न मनोहर परिपोष ये सभी जिसमें एक दूसरे से स्पर्धा करते दिखाई देते है ऐसी रसिको के मन में आह्लाद निर्माण करनेवाली शब्दार्थो की अवस्थिति साहित्य है। इस प्रकार के साहित्य का ही पर्यवसान अन्ततोगत्वा रसास्वाद में होता है।" कुन्तक का कथन है—

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसपदा।
गीतवत् हृदयाह्लाद तद्विदा विदधाति यत्॥
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।
यत्किमप्यर्पयत्यन्त· पानकास्वादवत् सताम्॥
शरीर जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम्॥
विना निर्जीवता येन वाक्ये याति विपश्चिताम्॥
यस्मात् किमपि सौभाग्य तद्विदामेव गोचरम्।
सरस्वती समभ्येति तदिदानी विचार्यते॥

"वाक्य के अर्थ पर ध्यान न देने पर भी केवल बन्धसौदर्य के कारण जो रसिक के मन में संगीत के समान आह्लाद निर्माण करती है; तथा वाक्यार्थ समझ लेने के उपरान्त उन पदवाक्यार्थो से भिन्न एव उनसे अतीत, पानकास्वाद के समान आस्वाद-रूप अनुभव रसिक के हृदय में समर्पित करती है, जीवित के बिना शरीर या स्फुरण के बिना जीवित जैसा हो उसी प्रकार जिसके बिना शब्दार्थमय वाक्य रसिको को केवल निष्प्राण प्रतीत होता है, तथा जिसके होने से रसिक अलौकिक सुख का—आनद का—अनुभव करते है उस अवस्थातक कविवाणी किस प्रकार जा सकती है इसका अब विचार करेंगे।" कविवाणी का पर्यवसान रसास्वाद में होता है; केवल इतना ही नही, रसास्वाद कविवचन का जीवित है; वह न हो तो काव्य निष्प्राण होता है, यही कुन्तक यहाँ कहते है। इन परिकर श्लोको के शब्दों का ध्वनिकारिका एव अभिनवगुप्त के वचनों से अत्यत साम्य है। पानकरस का दृष्टान्त तो अभिनवगुप्त ने भी रसास्वाद के लिए लिया है।

काव्य में किसी स्थान पर न खटकते हुए शब्दार्थो का रसास्वाद में पर्यवसान होना ही शब्दार्थसाहित्य का गमक है। कल्पना अथवा अलकारो की झपट में आकर कवि रसभग करता है तब साहित्य नष्ट होता है। इसी को कुन्तक ने 'साहित्य-विरह' कहा है।काव्य में अलकारो की रचना स्वभाविक एव सुदर रूप में होनी चाहिये। कवि अगर यत्न से अलकारविन्यास करें तो उसमें औचित्यहानि होने से साहित्यविरह होगा। अपने काव्य में अलकारो की तृष्णा से केवल कल्पना की

उडान रचनेवाले कवियो से कुन्तक कहते है, "व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहारेण वाच्यवाचकयो. परस्परस्पर्धित्वलक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति।"

कुन्तक का यह साहित्यविवेचन हमें औचित्यविचार के बहुत ही समीप ले जाता है। कुन्तक का कथन है कि प्रस्तुतौचित्यहानि के कारण साहित्य विरह होता है। रसोचित शब्दार्थसदर्भ न हो तो साहित्यविरह होना ही चाहिये। साराश शब्दार्थो का साहित्य रसोचित शब्दार्थविन्यास में है। कुन्तक ने साहित्य का लक्षण करते हुए, "परस्परसाम्यसुभगावस्थान" ऐसा प्रयोग किया है। इसीको राजशेखर 'शब्दार्थों का यथावत् सहभाव' कहता है, तथा भोज भी इसीको, 'सम्यक् प्रयोग' कहता है। सब का कुल अर्थ एक ही है, और वह है 'रसोचितशब्दार्थसनिवेश'। यही औचित्य कहलाता है। औचित्य की चर्चा क्षेमेन्द्र ने की है; और आनन्दवर्धन का कथन है कि रसादि औचित्य से वाच्य तथा वाचक का उपयोग करना ही महाकवि का प्रधानकर्म है एव औचित्य ही रस के परिपोष का एकमात्र रहस्य है (१०)। एव राजशेखर तथा अवन्तिसुन्दरी का कथन है कि यही काव्यपाक है (रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धन पाक)।

कुन्तककृत विवेचन कविव्यापारमुख से किया गया है। भट्टनायककृत विवेचन रसिकव्यापारमुख से किया गया है। काव्य से रसिक किस प्रकार रसास्वाद लेता है यह उसने विशद रूप में बताया। इन सभी साहित्यपडितो ने सभी काव्यागो पर विचार किया है। गुणालकारो के कारण साधारणीकरण किस प्रकार होता है यह भट्टनायक ने बताया है, एव गुणालकारो की प्रस्तुतौचित्य से योजना कवि किस प्रकार करता है यह कुन्तक ने स्पष्ट किया है। गुणालकारसस्कृत शब्दार्थों का पर्यवसान अन्तत. रस में ही कैसे होता है यह आनन्दवर्धन ने दर्शाया है एव इसी दृष्टि से शब्दार्थ, गुणालकार, रीति, वृत्ति आदि काव्य के सभी अगो की व्यवस्था की है। ध्वनिपूर्वकालीन आचार्यो का मन्तव्य था कि शब्दार्थौ को काव्यसज्ञा प्राप्त होने के लिए गुण एव अलकार आवश्यक धर्म है। अर्थात्, सभी आचार्य साहित्य की ही चर्चा करते हैं। "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" इस वचन का विशेष अभिप्राय बताते हुए समुद्रबन्धनामक 'अलकारसर्वस्व' का टीकाकार लिखता है—

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्टय धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन व्यङ्ग्यमुखेन वा इति त्रयः पक्षाः। आद्येऽपि अलकारतो गुणतो वा इति

१०- वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् मुख्य कर्म महाकवेः॥ (ध्व. ३।३२)
अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ (परिकर श्लोक)

वविध्यम् द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगीकृत्त्वेन वा इति द्वैविध्यम् इति पंचसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरगीकृत:, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पचम. आनन्दवर्धनेन।" समुद्रबन्ध का कथन आलेख के रूप में इस प्रकार होगा—

भोजकृत साहित्यविवेचन (सन् १००५ से १०५० ईसवी)

कुन्तक का लेखनकाल ख्रिस्ताब्द की दसवी शताब्दी के अन्त में आता है तो भोज का राज्यकाल ग्यारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आता है। भोज के नाम से दो ग्रन्थ है—'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश'। एक दृष्टि से 'शृंगार-प्रकाश' कण्ठाभरण' का विस्तार ही है। 'शृंगारप्रकाश' में भोज ने साहित्यविवेचन किया है। आरंभ में ही भोज कहते है :—

"तत् (काव्य) पुन. शब्दार्थयो साहित्यम् आमनन्ति। तद्यथा—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" इति। क. पुन. शब्द ? येन उच्चरितेन अर्थ प्रतीयते। कोऽर्थ ? य शब्देन प्रत्याय्यते।. कि साहित्यम् ? य शब्दार्थयो: सम्बन्ध । स च द्वादशधा—अभिधा, विवक्षा, तात्पर्यम्, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्यम्, अन्वय:, एकार्थीभाव:, दोषहानम्, गुणादानम्, अलकारयोग:, रसावियोगश्च इति।"

साहित्य का अर्थ है शब्दार्थो का सबन्ध। भोज के विचार से इसके बारह भेद है। इनमें से प्रत्येक भेद का भोज ने विस्तृत विवेचन किया है। यह विवेचन ही 'शृंगारप्रकाश' ग्रथ है। इस विवेचन की हमें यहाँ आवश्यकता नही है। इन बारह भेदो में से प्रथम आठ व्याकरणाश्रित है तथा शेष चार काव्याश्रित है। डॉ. राघवन् ने ये सब भेद आलेख (Table) के रूप में दिये है। वे देखने से भोज के विवेचन का स्वरूप तत्काल ध्यान में आ जाता है।

काव्यशास्त्र के सस्कृत ग्रन्थो में विवेचन के इसी प्रकार चार भाग किये हुए मिलेंगे। इस कारण से, वह काव्य का और साथ साथ शब्दार्थसाहित्य का भी विवेचन है। यह ध्यान मे लेने से, काव्यशास्त्र को साहित्यशास्त्र एव काव्य को साहित्यसज्ञा क्यो दी गई यह स्पष्ट हो जावेगा। काव्यगतशब्दार्थों का साहित्य क्या है इस प्रश्न पर प्रत्यक्ष रूप में विचार ध्वनिकार से आगे आरभ हुआ, और पूर्वकाल के काव्यालकार का साहित्यशास्त्र मे परिवर्तन हुआ।

मम्मट : काव्यप्रकाश (लगभग सन ११०० ईसवी)

भोज का साहित्यविवेचन ध्यान में लेने से मम्मट के काव्य लक्षण का महत्त्व विस्पष्ट होता है। मम्मट लगभग भोज के ही समय में हुए किन्तु भोज से कुछ उत्तरवर्ती है। "तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलकृती पुन. क्वाऽपि" इस प्रकार मम्मट ने काव्यलक्षण किया है। मम्मटकृत लक्षण की विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि उत्तरकालीन ग्रन्थकारो ने कड़ी आलोचना की है, न्याय के अवच्छिन्नावच्छेदक-वाले दृष्टिकोण से उस लक्षण को दोषयुक्त निर्धारित किया, परन्तु साहित्यशास्त्र की दृष्टि से देखने पर इस लक्षणा में शब्दार्थसाहित्य के अथवा सम्यक् प्रयोग के चारों धर्म उपलब्ध है यह विदित होगा। 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' में 'दोषहान' एव गुणोपादान' के दो साहित्यधर्म गृहीत है। 'अनलकृती पुन: क्वाऽपि' पर स्वय मम्मट का ही व्याख्यान "**सर्वत्र सालंकारौ** क्वाऽपि स्फुटालकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानि." इस प्रकार है। इससे नि सदेह प्रमाणित होता है कि अलकार-योग का साहित्यधर्म भी उन्हे अपेक्षित था। रस का, जो कि काव्यात्मा के नाम से प्रसिद्ध है, इस लक्षण में निर्देश नही है ऐसा आक्षेप इस लक्षण पर सभी ने उपस्थित किया है। परन्तु मम्मट ध्वनिवादी है एव उनकी दृष्टि से 'रस' काव्यार्थ ही है। उनका स्पष्टरूप मे कथन है कि शब्दार्थो को यदि काव्य की सज्ञा देनी हो तो वे शब्दार्थ 'व्यङ्ग्यव्यजनक्षम' शब्दार्थ होने चाहिये। स्पष्टरूप में विदित होता है कि 'अर्थ' शब्द से उनका अभिप्राय 'व्यग्यार्थ' से एव व्यग्य का सर्वश्रेष्ठ भेद

(पूर्व पृष्ठ से)

अनुकूल आये है। आज इन ग्रन्थों के पठन पाठन में मध्य में ही कहीं व्याकरण आने से हम त्रास मानते हैं, इसका कुछ कारण है। जिस काल में ये ग्रन्थ हुए उस काल से हम इतने दूर हो गये हैं कि उस समय के साहित्यकारों को प्रतीत होनेवाली उपसर्ग, तद्धित, कृदन्त, अव्यय आदि की अर्थच्छटाएँ आज हम नहीं समझ पाते। उनकी व्यंजकता आज हमारे ध्यान में तत्काल नहीं आती। किन्तु आज भी यदि हम वही शब्दार्थसाहित्य मराठी के उदाहरणों के द्वारा विवेचन करने का निश्चय करें तो मराठी के प्रत्यय, अव्यय, रूप आदि की व्यंजकता निःसंदेह हमें बतानी पड़ेगी और उसके लिए व्याकरण का ही आधार लेना पड़ेगा।

रस से ही है। इसके अतिरिक्त अपने ग्रन्थ की रचना उन्होने जिस प्रकार की है उस प्रकार की ओर ध्यान देने से 'अर्थ' शब्द के प्रयोग में उनका अभिप्राय रस से ही है इस विषय में तनिक भी आशका नही रहती। अपना सम्पूर्ण ग्रन्थ इस लक्षण का स्पष्टीकरण है यह बात, 'इति सम्पूर्णमिद काव्यलक्षणम्।' इस ग्रन्थसमाप्ति के वाक्य से वे निर्देशित करते हैं। इससे, 'रसावियोग' का साहित्यधर्म भी उनके लक्षण में अभिप्रेत है यह स्पष्ट हो जाता है। अब मम्मट के बनाये लक्षण का स्वारस्य स्पष्ट होगा। काव्यचर्चा का विकास जिस क्रम से हुआ नजर आता है उस क्रम पर ध्यान देने से विदित होता है कि मम्मटकृत काव्यलक्षण उस चर्चा का तर्कगम्य (Logical) पर्यवसान है तथा उस लक्षण का साहित्यशास्त्रीय महत्त्व भी ध्यान में आता है।

"मम्मटकृत लक्षण दोषयुक्त होने पर भी पूर्वकालिक भिन्न भिन्न वादो का समन्वय करने का प्रयास उसमें स्पष्ट है।" इस प्रकार डॉ डे, मम्मटकृत लक्षण का समर्थन करते है। यह उस लक्षण का साहित्यशास्त्रीय समर्थन नही हो सकता। साहित्यशास्त्र के स्वरूप के विषय में जो वाद थे वे तो आनन्दवर्धन ने ही समाप्त कर दिये थे। अभिनवगुप्त ने तो "रस एव वस्तुत आत्मा" ऐसा स्पष्ट ही कहा था। अत, भिन्न भिन्न वादो का समन्वय करने का कोई सवाल नही था। मम्मट के समय में वाद थे लेकिन वे काव्य के स्वरूप के सबन्ध में न होकर रसास्वाद के सबन्ध में एवं ध्वनि के विरोध में थे। उन वादो की उहोने अच्छी आलोचना की है एव ध्वनि की श्रेष्ठता भी प्रतिपादन की है। इस लिए, ऐसा कहने में कोई अर्थ नही कि, यह लक्षण दोषयुक्त होने पर भी पूर्वकालीन वादों के समन्वय की दृष्टि से उसे ग्राहच मान लेना चाहिये। मम्मटकृत लक्षण की पूर्वपीठिका हमें विकासमुख से ही ढूँढना पड़ता है और इसके लिए वामन–राजशेखर–भोज–मम्मट इस क्रम से ही जाना पडता है। वामन ने "सौन्दर्यमलकार:" कहने के पश्चात् "स दोषगुणालकारहानोपादाना-भ्याम्" का एक सूत्र दिया है। वामन का कथन है कि शब्दार्थो का सौदर्य दोषहान, गुणोपादान एव अलकारोपादान से ही संपन्न होता है। राजशेखर ने 'गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्' इस प्रकार काव्यलक्षण किया है। भोज ने राजशेखर के ग्रन्थ का बहुत उपयोग किया है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे उन्होंने—

'निर्दोष गुणवत् काव्यमलकारैरलकृतम्।
रसान्वित कवि· कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति॥'

इस प्रकार काव्यलक्षण किया है एव उपर्युक्त कारिका का ही अर्थ वह, "दोषहान, गुणोपादान, अलकारयोग एव रसावियोग सम्यक् प्रयोग के (साहित्य के) धर्म है।" इन शब्दो में 'शृंगारप्रकाश' में देता है। इसी को मम्मट ने "तद-

दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वाऽपि" इन शब्दो में कहा है। मम्मटकृत लक्षरण की पूर्वपीठिका इस प्रकार की प्रतीत होती है। काव्यगत शब्दार्थसाहित्य में जो कुछ अपेक्षित है वह सब इस लक्षरण मे है।

मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से शब्दार्थसाहित्य के विवेचन की पूर्णता हुई। वह इस प्रकार कि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो ने उसीकी पद्धति का अनुसरण किया। 'काव्यप्रकाश' को साहित्यशास्त्र के इतिहास में अपूर्व स्थान प्राप्त हुआ है। म म. पां. वा कारणे महोदय का कथन है, "शताब्दियो से साहित्यशास्त्र के अनेकानेक अगो का विकास हो रहा था। उस विकास का विचार इसमें किया हुआ है एव उसका सार इसमे सगृहीत है। वह (मम्मट) स्वयम् भी साहित्यशास्त्रविषयक अनेक मतो का उद्गमस्थान हुआ था। भावी काव्यमीमासापद्धति एव तद्विषयक सभी बातो का उद्गम इसमें उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ का विशेष गुण यह है कि इस में विवेचन पूर्ण एव सर्वागीण होने पर भी, जहाँ तक हो सके, सक्षेप में किया गया है।" नाटच छोड़कर काव्य के सभी अगो का 'काव्यप्रकाश' में विचार किया गया है एव काव्य के सभी अगो की उसमे व्यवस्था की गई है। स्वय ग्रन्थकार ही कहता है—

'इत्येष मार्गो विदुषा विभिन्नोऽप्यभिन्नरूप. प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्र यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सघटनैव हेतु ॥'

'काव्यप्रकाश' साहित्यचर्चा का उत्कर्षबिन्दु है। एक शताब्दी में ही इस ग्रन्थ को ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई कि साहित्यपडित मम्मट को 'वाग्देवतावतार' कहने लगे। काव्यप्रकाश की आजतक जितनी टीकाएँ हुई है उतनी दूसरे किसी साहित्यग्रथ की नही हुई। साहित्यचर्चा के क्षेत्र में मम्मट के पश्चात् जो कुछ परिवर्तन हुए वे केवल विवरण (Details) के विषय में ही थे।

मम्मट के परवर्ती ग्रन्थकार

साहित्यमीमांसा की जिस पद्धति को मम्मट ने प्रवर्तित किया उसीको उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो ने अपनाया। मम्मट से जगन्नाथ तक लगभग साढे पाँचसौ वर्षो के कालखड में (ख्रि १९०० से १६५०) साहित्यचर्चा की पद्धति में कोई मूलग्राही परिवर्तन नही हुआ। इस काल के लगभग सभी साहित्यपडित ध्वनिकार के ही अनुगामी हुए। इसका अर्थ यह नही कि नवीन विचार इस काल में उदय ही नही हुए। नवीन विचार हुए अवश्य, किन्तु या तो वे हिम्मत से प्रस्तुत नही किये गये या उनके अनुगामियो की सख्या अत्यल्प थी। इन विचारो में से कुछ महत्त्वपूर्ण विचार इस प्रकार है—

(१) नारायण का केवलाद्भुतवाद,
(२) रामचद्र-गुणचंद्र का सुख-दु.खवाद,
(३) नव्यन्याय के अनुगामियो की रसप्रक्रिया,
(४) मधुसूदनसरस्वती का भक्तिरसविवेचन,
(५) प्रभाकर का चमत्कारवाद,
(६) जगन्नाथपडित का पुनर्विवेचन करने का प्रयास।

इनमे से जगन्नाथ पडित ही ऐसे थे जिन्होने कि मम्मट के पश्चात् साहित्य के पडितों के मन पर कुछ प्रभाव डाला। इस अध्याय में काल के अनुक्रम से सभी के इतिहास हम देखेंगे।

बारहवीं शताब्दी

मम्मट के पश्चात् एक ही शताब्दी में (बारहवी शताब्दी में) रुय्यक, वाग्भट और हेमचद्र ये लब्धप्रतिष्ठ ग्रंथकार हुए। रुय्यक का लेखनकाल ख्रि. ११३५ से

११५५, वाग्भट का लेखनकाल ख्रि. ११२२ से ११५६ एव हेमचद्र के 'काव्यानुशाम्न' का काल ख्रि ११५० स्थिर हुआ है।

रुय्यक.—रुय्यक ने 'अलकारसर्वस्व' नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में उसने अलकारो का वर्गीकरण करते हुए लगभग ७५ अलकारो का विवेचन किया। वह ध्वनिमत का एकनिष्ठ अनुयायी था। उसका कथन है कि गुणदोष एवं अलकारों का विभाग अन्वयव्यतिरेक की पद्धति से नही बल्कि आश्रयाश्रयिभाव से करना चाहिये। अलकारो का वर्गीकरण करने में उसकी सूक्ष्म बुद्धि प्रकट हुई है। इसके अलकारविवेचन का प्रभाव पीछे हुए आलकारिकोंपर हुआ प्रतीत होता है। उन्होने अलकारो की विवेचना में मम्मट से भी रुय्यक का ही आधार विशेषरूप में लिया है। विश्वनाथ के अलकारविवेचन पर तो रुय्यककृत विवेचन का प्रभाव प्रत्यक्ष है। 'अलकारसर्वस्व' के अतिरिक्त रुय्यक ने 'अलकारानुसारिणी', 'काव्यप्रकाश-सकेत', 'नाटकमीमासा', 'व्यक्तिविवेकविचार', 'साहित्यमीमासा' एवं 'सहृदय-लीला' इ. ग्रन्थ लिखे है। 'सहृदयलीला' ग्रन्थ है तो छोटा-सा ग्रन्थ किन्तु है बड़ा मजेदार। इसमें स्त्रियो के नैसर्गिक एव कृत्रिम अलकारो का वर्णन है।

हेमचंद्र.—हेमचद्र इसी शताब्दी का एक अन्य श्रेष्ठ ग्रन्थकार है। वाग्भट और हेमचद्र दोनो ने 'काव्यानुशासन' नाम के ही ग्रन्थ लिखे। दोनो ग्रन्थ सग्राहात्मक ही है। किन्तु हेमचद्र के सबन्ध में कुछ लिखना आवश्यक है। हेमचन्द्र की ग्रन्थसख्या विस्तृत है। 'सिद्ध हेमचद्र' अथवा 'शब्दानुशासन' नामक व्याकरणग्रन्थ, 'देशी-नाममाला' नामक प्राकृत कोष, एव 'काव्यानुशासन' नामक साहित्यग्रन्थ की रचना उसने की है। 'काव्यानुशासन' ग्रन्थ संग्रहात्मक होने पर भी उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम, छात्रो की दृष्टि से हेमचद्र ने इस ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक', 'लोचन', 'अभिनवभारती', 'काव्यप्रकाश' एव राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' पर आधारित है। पूर्व आचार्यो के मतो को इसमें विशद रूप में प्रस्तुत किया गया है एव रसविवेचन सक्षेप में हो कर भी गभीर एव सोपपत्तिक है। 'काव्यानुशासन' पर हेमचन्द्र ने ही 'विवेक' नाम्नी टीका लिखी है। हेमचद्रकृत ध्वनि का वर्गीकरण एव अलकारविवेचन देखनेलायक है। मम्मट के किये हुए अनेक ध्वनिभेद, भिन्न प्रकार से वर्गीकरण करते हुए हेमचन्द्र ने सक्षिप्त किये हैं और अलकार भी साठ से छत्तीस तक कम किये है। 'काव्यानुशासन' के अध्ययन में, पाठक आरभ में ही पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष के जाल में फँसता नही। इससे विषय का मानचित्र तत्क्षण ध्यान में आ जाता है। इस कारण, आधुनिक दृष्टि से पाठ्यग्रन्थ (Text Book) के नाते 'काव्यानुशासन' ग्रन्थ का महत्त्व है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से 'काव्यप्रकाश' में सुलभ प्रवेश होता है तथा 'काव्यप्रकाश' की दुर्बोधता कुछ अश में कम होती है।

रामचन्द्र और गुणचन्द्र —ये दोनो ग्रन्थकार हेमचद्र के शिष्य थे। इन दोनों ने 'नाटचदर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा। रामचन्द्र प्रबन्धशतकर्ता के नाम से प्रसिद्ध था। इन दोनो ने "सुखदु खात्मको रस" के मत का उपन्यास किया। इनका कथन है कि शृगार, हास्य, वीर, अद्भूत एव शान्त ये पाँच रस सुखात्मक हैं तथा करुण, रौद्र, बीभत्स एव भयानक ये चार रस दु खात्मक है। इनके पूर्व शारदातनय नामक ग्रन्थकार हुआ था। शातरस नाटचरस नही है ऐसा मत उसने अपने 'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादन किया था। 'नाटचदर्पण'कार इस मत को स्वीकार नही करते। उनकी समति में शात भी नाटचरस है।

तेरहवी शताब्दी

तेरहवी शताब्दी में साहित्यविचार में कोई विशेष परिष्कार हुआ दिखाई नही देता। इस शताब्दी में जयदेव, भानुदत्त और विद्याधर प्रसिद्ध ग्रन्थकार हुए। जयदेव (पीयूषवर्ष) का 'चन्द्रालोक' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ मे सौ अलकारो का विवेचन किया हुआ है। भानुदत्त के दो ग्रन्थ 'रसमजरी' और 'रस-तरगिणी' केवल रसविचार के हैं। विद्याधर का 'एकावलि' नामक ग्रन्थ है। इसके उदाहरण लेखक के ही रचे हुए हैं और उसमे उडीसानरेश नृसिहदेव की स्तुति है।

चौदहवी शताब्दी

इस शताब्दी में दो प्रसिद्ध ग्रन्थकार विद्यानाथ और विश्वनाथ हुए। सभव है द्वितीय वाग्भट भी इसी समय हुआ हो।

विद्यानाथ .— विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ है। उदाहरणो में ग्रन्थकार ने काकतीय वश के राजा प्रतापरुद्र का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में नाटच का भी विवेचन है एव नाटच के नियम विशद करने के लिए ग्रन्थकार ने 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक नाटक भी इस ग्रन्थ में सम्मिलित किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ पर मम्मट का एव अलकारविवेचन पर रुय्यक का प्रभाव स्पष्टरूप में दिखाई देता है।

विश्वनाथ :— विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' इस शताब्दी का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। पाठच ग्रन्थ के नाते 'काव्यप्रकाश' के बाद 'साहित्यदर्पण' का ही महत्त्व है। इस ग्रन्थ का अधिकतर प्रसार बंगाल में रहा। इसमें काव्य के नाटचसहित सभी अगों का विवेचन है। नाटचविवेचन में 'नाटचशास्त्र' एव 'दशरूप' के बाद 'साहित्यदर्पण' का ही प्रामाण्य है। काव्य की 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' की सर्वदूर प्रचारित परिभाषा विश्वनाथ की ही है। विश्वनाथ ने नऊ रसो में दसवाँ वत्सलरस भी माना है। केवलानन्दवाद का इसने प्रबल समर्थन किया। 'साहित्य-

दर्पण' में विवेचन सरल एव विशद है। शब्दशक्ति का विषय इस ग्रन्थ से अच्छी प्रकार आकलन किया जा सकता है।

सोलहवी शताब्दी

पन्द्रहवी शताब्दी में साहित्यशास्त्र में कुछ नया लिखा गया उपलब्ध ग्रन्थों से तो प्रतीत नही होता। साहित्यचर्चा की दृष्टि से सोलहवी शताब्दी का महत्त्व है। इस शताब्दी के दो विशेष बतलाये जा सकते हैं– 'भक्तिरस की चर्चा' एव 'चमत्कार-वाद का प्रतिपादन'।

भक्तिरसचर्चा :— **रूपगोस्वामी** तथा **मधुसूदनसरस्वती** भक्तिरसविवेचक दो ग्रन्थकार हुए। रूपगोस्वामी चैतन्यसम्प्रदाय के वैष्णव साधु थे। वे चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। इनका काल ख्रि. १५०० से १५६० का स्थिर हुआ है। इन्होने दो ग्रन्थ लिखे–'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' इनके विचार से मुख्य रस पाँच है–शान्ति, प्रीति, प्रेयस्, वत्सल एव उज्ज्वल (मधुर)। भक्तिरस का श्रेष्ठ' भेद मधुरभक्ति उज्ज्वलरस है। मधुर भक्ति को ग्रन्थकर्ता ने 'भक्तिरसराट्' कहा है। रूपगोस्वामी का कथन है कि नायक श्रीकृष्ण तथा उनकी वल्लभाओ के शृगार-वर्णन से भक्त के मन में मधुर रति का प्रकर्ष होता है और वह आस्वाद्य होती है, यही भक्तिरस है (१)। तात्पर्यत: यह शृगार ही है। परिणामत, इस ग्रन्थ में भक्तिरसविवेचन में परिभाषा भी शृगाररस की ही है।

भक्तिरसपर दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **मधुसूदनसरस्वती** का 'भक्तिरसायन' है। इस ग्रन्थ में भक्तिरस का सर्वागीण एव सोपपत्तिक विवेचन है। इन्होने भक्ति अथवा भगवदाकारता को मोक्ष से भिन्न पचम पुरुषार्थ स्वीकार किया है, तथा इस आधार पर शान्तरस से भक्ति का भिन्न एव स्वतन्त्र स्थान निर्देशित किया है।

दृतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकता गता।
सर्वेशे मनसो वृत्ति. भक्तिरित्यभिधीयते॥

भगवद्गुणश्रवण से दृतावस्था को प्राप्त चित्त की भगवद्विषयक अखण्ड वृत्ति ही भक्ति है। अर्थात् भक्ति है भगवदाकारता। इसी वृत्ति की आस्वाद्यमानता विभावानुभावसहित, मधुसूदनसरस्वतीजी ने अभिनवगुप्त की शैली में वर्णन की है। अत. भक्तिरस के शास्त्रीय ग्रन्थ के नाते इस ग्रन्थ का ही निर्देश करना होगा। मधुसूदनसरस्वती तुलसीदास के समसामयिक तथा उनके सुहृत् थे। अत. उनका

---

१ वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यै स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तः शृंगाराख्यो मनीषिभिः॥

समय सोलहवी शती का उत्तरार्ध हो सकता है। मधुसूदनसरस्वती गभीर वेदान्ती, रससिद्ध कवि एव महान् भगवद्भक्त थे। "अद्वैतसिद्धि" नामक वेदान्तग्रन्थ, 'भक्तिरसायन' नामक साहित्यग्रन्थ एव 'आनन्दमन्दाकिनी' नामक रसपरिप्लुत स्तोत्रकाव्य ये तीन अमर उपहार उन्होने हमें दिये है।

साहित्य में चमत्कारवाद:—'काव्य का विशेष चमत्कार अथवा चमत्कृति है' इस प्रकार के विचार को सोलहवी शती में प्रभाकर नामक ग्रन्थकार ने प्रवर्तित किया। वैसे तो अद्भुत रस के विवेचन के रूप में इस प्रकार की विचारधारा चौदहवी शताब्दी में ही प्रसृत हुई थी। काव्य में अनुभव होनेवाली आस्वाद्यता के लिए 'चमत्कार' अथवा 'चमत्कृति' शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धन व अभिनवगुप्त ने भी स्थान स्थान पर किया हुआ पाया जाता है। क्षमेन्द्र ने तो कविकण्ठाभरण में चमत्कार के दश भेद उदाहरणसहित दिये है। किन्तु चमत्कार की दृष्टि से काव्य-विवेचन करने की चेष्टा मम्मट के पश्चात् ही हुई है। विश्वनाथ के परदादा नारायण के मन्तव्य के अनुसार तो चमत्कार ही काव्य का प्राण होने के कारण विस्मयमूल अद्भुत ही एकमात्र रस होता था (२)। विश्वेश्वर चमत्कारवाद का एक अन्य पुरस्कर्ता ग्रन्थकार था। यह चौदहवी शताब्दी में हुआ। इसने 'चमत्कार-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ लिखा है। काव्य के पठन से सहृदय को होनेवाला आनन्द ही चत्मकार है एव गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या एव अलकार उसके सात आलबन है ऐसा उसने इस ग्रन्थ में कहा है (३)। सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रभाकर ने 'रसप्रदीप' नामक ग्रन्थ लिखा। उस ग्रन्थ में उसने काव्य की परिभाषा 'चत्मकारविशेषकारित्व, सुखविशेषकारित्व वा।' इस प्रकार की है। उसका विचार है कि रस चमत्कार का विशेष घटक है। नारायण के अद्भुतवाद का इसने खण्डन किया है। 'रसप्रदीप' एक छोटा-सा ग्रन्थ है और प्रभाकर ने उन्नीस वर्ष की अवस्था में इसकी रचना की। इस ग्रन्थ का प्रभाव उस काल में बहुत रहा। डॉ. वाटवे महोदय का कथन है कि जगन्नाथ जैसे पडित पर भी इसका प्रभाव दिखाई देता है।

---

२ रसे सारश्चमत्कार: सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस: ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥
इस प्रकार नारायण के विषय में धर्मदत्त का वचन विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में दिया है।

३. चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलकृतिम्
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः ॥

सत्रहवी शताब्दी

अप्पय्य दीक्षित:—अप्पय्य दीक्षित और पडितराज जगन्नाथ सत्रहवी शती के प्रधान ग्रन्थकार है। दोनो समकालीन थे। किन्तु अप्पय्य दीक्षित जगन्नाथ पडित से उमर मे कुछ बडे थे। दीक्षित ने तीन साहित्यग्रन्थो की रचना की है—'कुवलयानन्द', 'वृत्तिवार्तिक' और 'चित्रमीमासा'। 'कुवलयानन्द' एक 'बालाना सुखबोधाय' अलकारग्रन्थ है। इसमें १२४ अलकार दिये है एवम् इसमें दिये हुए अनेक अलकार-लक्षण 'चन्द्रालोक' से ही लिए है। 'वृत्तिवार्तिक' ग्रन्थ 'शब्दव्यापार' पर लिखा है, इसमें अभिधा और लक्षणा इन दोनों वृत्तियों पर विवेचन है। 'चित्रमीमासा' में अलकारो का सैद्धान्तिक विवेचन है। यह ग्रन्थ अपूर्ण है। 'चित्रमीमासा' में निर्देशित मतो का जगन्नाथ ने खडन किया है, वह 'चित्रमीमासाखडन' नाम से प्रसिद्ध है।

जगन्नाथ:—सत्रहवी शताब्दी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव साहित्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से अन्तिम ग्रन्थ पडितराज जगन्नाथ का 'रसगगाधर' है। यह ग्रन्थ अपूर्ण है। किन्तु इस अवस्था में इसकी योग्यता यह है कि इसे 'ध्वन्यालोक', 'लोचन', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रन्थो की पक्ति में स्थान देना उचित होगा। तर्क है कि 'रसगगाधर' के सभवत' पॉच आनन थे। किन्तु उनमें से प्रथम आनन एव द्वितीय आनन का कुछ अश इतना ही ग्रन्थ उपलब्ध है।' 'रमणीयार्थप्रतिपादक-शब्द. काव्यम्', इस प्रकार जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा की है। वास्तव में जगन्नाथ अभिनवगुप्त के अनुगामी है; किन्तु ऑखें मूँद कर किसीका अनुसरण वे नही करते। हर विषय मे उनका अपना कुछ कथन रहता ही है। उनकी विवेचक शक्ति असाधारण थी। अपना ग्रन्थ उन्होने न्यायघटित भाषा में लिखा है। रसमीमासा में अभिनवगुप्त के पश्चात् उत्पन्न हुई विचारधाराएँ इसी ग्रन्थ मे हम देख सकते है। 'रसगगाधर' में पाडित्य और वैदग्ध्य का अपूर्व समन्वय पाया जाता है।

साहित्यशास्त्र के पुनर्लेखन का जगन्नाथ का प्रयास

साहित्यविकास की दृष्टि से मम्मटोत्तर काल में 'रसगगाधर' ही महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ है। साहित्यशास्त्र के पुनर्लेखन का प्रयास उसमें स्पष्ट रूप से प्रतिबिबित होता है। स्वय ग्रन्थकार ही कहता है कि "आजतक हुई साहित्यमीमासा का सम्पूर्णतया आलोचन करते हुए एव उस पर श्रमपूर्वक मनन करने के पश्चात् यह ग्रन्थ मैने लिखा है, और अन्य सभी अलकारग्रन्थो से यह अच्छा है (४);" और अभ्यासक भी अनुभव करते है कि यह कथन यथार्थ है।

४. निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगंगाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्त हृदयमधिरूढो गुणवता–
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु।

'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द. काव्यम्' इस प्रकार पूर्व आचार्यो से भिन्न रूप में काव्य की परिभाषा जगन्नाथ ने की, केवल इतनाही नही, तो काव्य के भेदो से लेकर सभीका पुनर्लेखन उन्होने किया। उनका कथन है कि काव्य का एकमात्र कारण प्रतिभा है (तस्य च कारण केवल कविगता प्रतिभा।) उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एव अधम इस प्रकार काव्य के चार भेद उन्होने किये। जहाँ व्यग्यार्थ' प्रधान होता है वह उत्तमोत्तम काव्य, जहाँ व्यग्यार्थ प्रधान न होने पर भी चमत्कारकारण है वह उत्तम काव्य, जहाँ व्यग्यचमत्कार से भी वाच्यचमत्कार विस्पष्ट एव उत्कृष्ट है वह मध्यम काव्य, एव जहाँ अर्थचमत्कृति शब्दचमत्कृति मे लीन होती है वह अधम काव्य है, इस प्रकार काव्य के विविध भेदो का स्वरूप उन्होने बताया है। एकाक्षर पद्य, अर्धावृत्ति यमक, पद्मबन्ध आदि पद्यो मे अर्थचमत्कृतिहीन शब्द-चमत्कृति पाई जाती है, किन्तु इनमें शब्दो में रमणीयार्थ प्रतिपादकता न होने के कारण ऐसे पद्य काव्यसज्ञा के पात्र नही है ऐसा जगन्नाथ का कथन है। महाकवियो के काव्यो मे ऐसे पद्य पाये जाते हैं इसी आधार से ऐसे पद्यो का काव्यत्व समझना ठीक नही है। उन महाकवियो ने केवल परम्परा के अनुकूल ही ऐसी रचना की है। कौन कहेगा कि जगन्नाथ ने की हुई शब्दचित्र की यह आलोचना यथार्थ नही है ?

जगन्नाथकृत विवेचन अभिनवगुप्त के अनुकूल होने पर भी अभिनवगुप्त-कृत विवेचन से बहुत आगे बढा हुआ है। 'काव्यप्रकाश' में रस के सबध में चार मत हैं और 'रसगगाधर' में ग्यारह हैं इतना ही इसका अर्थ नही। 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः' यह रसविवेचन को उनकी अति अमूल्य देन है। उनका गुणविचार एव भावध्वनिपर विवेचन भी मर्मग्राही, नवीन एव सूक्ष्म है। तत्तद् गुणों की अभिव्यजक रचना भी उन्होने पूर्णतया नवीन शैली में विवेचित की है। मम्मट आदि के इस सबन्ध में विहित किये हुए नियम अब लागू नही होते थे यह जगन्नाथ ने पहचान रक्खा था। अतएव गुणव्यजकता की दृष्टि से उन्होने नवीन नियमो की रचना की। उन की भावध्वनि की विवेचना भी सूक्ष्म है। और विशेष यह है कि रस, भाव आदि को पूर्व आचार्य केवल असलक्ष्यक्रम ही मानते थे, किन्तु रस, भाव आदि सलक्ष्यक्रम भी हो सकते हैं यह जगन्नाथ ने बडी मार्मिक शैली से दर्शाया है।

पदरचना एव पदव्यंजकता के सबन्ध में भी, किसी ऊँचे दर्जे के सगीत के जानकार के समान जगन्नाथ का 'कान तैयार' था। इसी लिए, अन्य कवियो की रचनाओ का परीक्षण करने में वे अपना मत विशद रूप में समझा सकते है। इसी गभीर अध्ययन के कारण, उनके समय के पंडितों को शिरोधार्य श्रीहर्षकृत 'नैषधीय चरित' की रचना को भी वे 'क्रमेलकवत् विसंष्ठुल' कह सकते हैं। जगन्नाथ का और

भी एक विशेष है; रचना के दोष वे दर्शाते है इतना ही नही, तो वे उसमें सुधार भी कर सकते है। यथा—

उपासनामेत्य पितु. स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु बन्दिनाम् ।।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनल विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ।।

'नैषधीयचरित' का यह पद्य, उसके दोष वर्जित करके जगन्नाथ इस प्रकार लिखते है—

उपासनार्थं पितुरागतापि सा निविष्टचित्ता वचनेषु बन्दिनाम् ।
प्रशसता द्वारि महीपतीनल विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ।।

और इन दोनो पद्यो में तुलना करते हुए वे प्रमाणित कर दिखाते है कि श्रीहर्ष का ऊँट के समान बेढगा (क्रमेलकवत् विसष्ठुल) मूल पद्य, सुधार करने के बाद रमणी की अगयष्टि के समान कैसे सुदर लगता है।

जगन्नाथ की साहित्य विवेचना मे तत्कालीन विचारो का एव हिन्दी वाङमय के विशेषो का प्रभाव स्पष्टरूप में दृष्टिगोचर होता है। भक्तिरस की विशिष्टता उन्हें प्रतीत होती है, भक्तिरस के स्वतन्त्र विवेचन का भी वे निर्देश करते है, इतनाही नही, भगवद्गुणसकीर्तन के समय उदित होनेवाले, भक्तो के भाव भी वे समझ सकते है, परन्तु उन्हे भक्ति का रसत्व स्वीकार नही है। उनके लिए यह बडा कठिन कार्य हो गया है; किन्तु भरतमुनि की की हुई व्यवस्था आकुलित होगी केवल इसी कारण से वे भक्ति का रसत्व स्वीकार नही करते। जगन्नाथ के पूर्व, मधुसूदन-सरस्वती के तथा तुलसीदास, सूरदास आदि कवियो के काव्यो का प्रभाव उस समय के साहित्य पर हुआ था यह बात जगन्नाथ की श्रेणि के परिश्रमी आलोचक के दृष्टि से ओझल नही हो सकती थी। जगन्नाथ के दिये हुए कितने ही पद्य, बिहारीकृत 'सत्तसई' के दोहे सस्कृत में रूपातरित प्रतीत होते है। उदाहारणार्थ—

"छिप्यो छबीलो मुँह लसै नीले आँचल चीर।
मनो कलानिधि झलमलै कालिदीके नीर।।

बिहारी के इस पद्य की, जगन्नाथ के निम्न पद्य से तुलना कीजिये—

नीलाञ्चलेन सवृतमाननमाभाति हरिणनयनाया ।
प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्क ।।

किम्वदन्ती है कि, बिहारी के कुलपति मिश्र नामक भाँजे ने पडितराय जगन्नाथ के पास साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया था। यदि यह सत्य हो तो जगन्नाथ के समक्ष बिहारी की 'सत्तसई' रहना असंभव नही (म म. मथुरानाथ)।

यहाँ एक और बातपर ध्यान देना चाहिये। जगन्नाथ ने उदाहरण अपने रचे हुए दिये है। इस बात पर उन्हें गर्व भी है। इसे आत्मप्रशंसा समझ कर अच्छा नहीं माना जाता। किन्तु इस प्रकार निश्चय करने के पूर्व कुछ सोचना चाहिये। अलकार

अर्थव्यक्ति की एक वैचित्र्यपूर्ण शैली है। हिन्दी भाषा में इस शैली की जो नवीनता प्रतीत हो रही थी उसे जगन्नाथ ने सस्कृत में लाया। उनकी अलंकार विवेचना में केवल पिष्टपेषण नही है, या भेदो का केवल सूक्ष्म दर्शन भी नही है; उसमें वक्रोक्ति का एक नवीन विलास है।

श्याम सित च सुदृशो न दृशो स्वरूप
किन्तु स्फुट गरलमेतदथामृत च।
नो चेत् कथं निपतनादनयोस्तदैव
मोह मुद च नितरां दधते युवान ॥

इस पद्य पर उनका किया हुआ विवेचन वक्रोक्ति के नवीन विलास की दृष्टि से द्रष्टव्य है। इस सस्कृत पद्य का मूल—

अमी हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रत नार।
जियत मयत झुकि झुकि परत जिहि चितवत इक बार॥

इस भाषापद्य में है, यह ध्यान मे लेने से वक्रोक्ति का यह नवीन विलास उन्होंने हिन्दी से या तत्कालीन भाषासाहित्य से सस्कृत में लाया यह विस्पष्ट हो जाता है।

रसगगाधर में तत्कालीन नवीन सकेत भी कई प्रकार के दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए निम्न पद्य देखिए—

निरुद्ध्य यान्ती तरसा कपोती
कूजत्कपोतस्य पुरो दधाने।
मयि स्मितार्द्र वदनारविन्द
सा मन्दमन्द नमयाबभूव॥

यहाँ लज्जाभाव का बिभाव कपोतक्रीडा के रूप मे है। कपोतो की क्रीडा का वर्णन करने की यह पद्धति जगन्नाथकालीन है, पूर्वकालीन नही यह विज्ञो को समझाने की आवश्यकता नही।

साराश, पूर्वकालीन ग्रन्थकारो के किये हुए विवेचन को लेकर तथा स्वकालीन साहित्य मे वक्रोक्ति के नवीन विलास एव सकेतो का विचार करते हुए 'रस-गगाधर' में साहित्यशास्त्र का पुनर्लेखन करने का जगन्नाथ का प्रयास स्पष्टरूप से प्रतीत होता है। रसगगाधर ग्रन्थ अपूर्ण है। यदि पूर्ण रूप में ग्रन्थ उपलब्ध रहता तो सभी विषयो मे जगन्नाथ ने साहित्यशास्त्र को किस प्रकार विकसित किया था यह स्पष्ट हो जाता।

अपनी ग्रन्थरचना से साहित्यशास्त्र को कुछ नया विचार प्रदान करनेवाला जगन्नाथ ही अन्तिम ग्रन्थकार है। जगन्नाथ के पश्चात् निर्माण हुए ग्रन्थ केवल सग्रहरूप है । अतएव साहित्यशास्त्र के विकास का इतिहास जगन्नाथ तक ही समाप्त होता है यह कहने में कोई आपत्ति नही।

अध्याय आठवाँ.
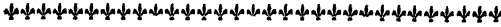
साहित्यशास्त्र का विकास

यहाँ तक हम ने भरत से जगन्नाथ तक साहित्यचर्चा का सक्षिप्त वर्णन किया है। साहित्यचर्चा के विकास का यह काल खि. पू २०० से खि. पू १७०० तक अर्थात् लगभग दो सहस्र वर्षो का है। 'नाटचशास्त्र' का काल खि २०० मानने पर भी १७०० वर्ष होते है। इस काल में साहित्य-शास्त्र परिणत हुआ। साहित्यशास्त्र के इस विकास की अवस्थाएँ निम्न रूप मे दर्शाई जा सकती है—

१ **क्रियाकल्प**:—उपलब्ध साहित्यग्रन्थों में भरत का 'नाटचशास्त्र' ही प्राचीनतम ग्रन्थ है। नाटचप्रयोग सफलता से किस प्रकार करना चाहिये यह दर्शाना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। अतः नाटचमडप की रचना से लेकर नाटचसिद्धि तक नाटच के सभी अगो पर इसमें विवेचना की गई है। **इस ग्रन्थ का स्वरूप प्रयोगप्रधान है एवं सिद्धान्तो की चर्चा तथा क्रियाविधान इसमें मिश्र रूप में** है। नाटचकाव्य की चर्चा इस ग्रन्थ में वाचिक अभिनय की आनुषगिक है एव उसमें काव्यलक्षण, अलंकार तथा गुण और दोषो का स्वरूप बताया गया है। सभव है कि भरत के दिये हुए काव्यलक्षण, निरुक्त, मीमासा आदि में दिये गये वैदिक लक्षणो से ही आये हुए हों। भरत का नाटचशास्त्र काव्यचर्चा में **क्रियाकल्प** की अवस्था दर्शाता है।

२. **काव्यलक्षण**:—भरत से लेकर भामह-दण्डी तक का काल काव्यचर्चा की दूसरी अवस्था है। इस काल में काव्यचर्चा नाटच के अग के रूप में न रहकर स्वतन्त्र होने लगी थी। कह सकते है कि काव्यलक्षणों का अलकारों में रूपातर होना इस काल की चर्चा का सामान्य रूप था। सम्भवतः इस काल

में काव्यचर्चा को '**काव्यलक्षण**' कहते थे। काव्यलक्षण का काल लगभग ख्रि. ६०० तक का हो सकता है।

३. **काव्यालकार** :—भामह-दण्डी से लेकर रुद्रट तक का काल विकास की तीसरी अवस्था है। इस काल में काव्य के अलकार, गुण, रस आदि अगो का स्वरूप क्रमशः विशद होता गया। काव्यगत सौन्दर्यधर्म के लिए इस काल मे 'अलकार' का नाम रूढ हुआ था। एव सौन्दर्य निर्माण के साधन के नाते काव्य के अगो की चर्चा इस काल में होती थी। काव्यचर्चा को इस काल में '**काव्यालंकार**' सज्ञा थी। लगभग ख्रि. ६०० से ख्रि. ८०० तक का यह काल है।

४ **साहित्य** :— इस के पश्चात्, आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक के काल की अवस्था है। शब्दार्थो का साहित्य क्या है? काव्यगत शब्दार्थो के विशेष क्या है? आदि प्रश्नो का विवेचन ही इस काल में चर्चा का सामान्य स्वरूप था। काव्यचर्चा के विकास में यह उत्कर्ष का काल था। इस काल मे ही काव्यालकार का **साहित्यशास्त्र** में रूपांतर हुआ। ख्रि ८०० से ११०० तक क यह काल है।

५. **साहित्यपद्धति** :— मम्मट के पश्चात् उसके बताये मार्ग से ही उत्तरवर्ती ग्रन्थकार चले हैं। मम्मट के पश्चात् नई रीती से तत्त्वविचार हुआ प्रतीत नहीं होता। इस काल के अन्तिम ग्रन्थकार जगन्नाथ ने पुर्नविचार का प्रयास किया, किन्तु शैली मम्मट की ही थी। ख्रि ११०० से १६५० तक का यह काल है। साहित्यचर्चा की इस अवस्था वो '**साहित्यपद्धति का काल**' यह सज्ञा देना उचित होगा।

इस क्रम से काव्यचर्चा का विकास हुआ प्रतीत होता है। किसी वस्तु के अन्तरग का अनुसधान करने में एक एक बाहरी छिलका निकलता जावे और सूक्ष्म आन्तर धर्मो का बोध होता जावें ऐसा ही यह हुआ है। रसिको का अनुभव था कि विविध नाटचाग एकत्र होने पर रस का जो आविर्भाव होता है, ठीक वही आविर्भाव केवल शब्दार्थो के द्वारा भी होता है। यह अनुभव कैसे होता है? शास्त्र में एव काव्य में शब्दार्थ समान होने पर भी शास्त्र का पर्यवसान आनन्द में होता नहीं। इसके विपरीत काव्य का पर्यवसान आनन्द में होता है। ऐसा क्यों? इन दोनों प्रश्नो का समाधान करने के लिए काव्यमीमासा की प्रवृत्ति हुई। केवल न्याय अथवा व्याकरण की सहायता से इन प्रश्नों का समाधान असंभव था। व्याकरण शब्दसस्कार का शास्त्र है। अर्थसस्कार के विषय में उससे कुछ नहीं बनता था। शब्द एव उनके रूढ सकेतों से ही काव्यसौदर्य सीमित नही यह

स्पष्ट हुआ। रूढ सकेतो को लाँघकर गयी हुई शब्दार्थो की यह उडान कैसी है यह देखने के प्रयास से ही भामह की वक्रोक्ति, दण्डी का समाधिगुण एव उद्भट की अमुख्य वृत्ति निर्माण हुई है। इनका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उन्होने मीमासा की लक्षणा का आश्रय किया एव लक्षणा के आश्रय से वक्रोक्ति प्रतिष्ठित की। किन्तु कवियो का एक वर्ग ऐसा भी था जो वक्रोक्ति को टेढ़ेपन में बदल दे सकते थे। अतएव वामन ने काव्यसौदर्य का पुर्नविवेचन किया और दर्शाया कि काव्य-सौन्दर्य अलकारो पर अधिष्ठित न हो कर गुणों पर अधिष्ठित है, और वामन के पश्चात् रुद्रट ने काव्य का विशेष गुण-रस स्वतत्ररूप में विवेचन किया।

दण्डी-भामह से लेकर रुद्रट तक की विवेचना मे इस प्रकार भेद होने पर भी उन सभी की एक विषय में समानता थी। वह यह है कि सभी को स्वीकार था कि शब्दार्थो में गुणालकारो का विशिष्ट धर्म होता है तथा उसीके कारण रस निष्पन्न होता है। साराश, इन सभी का विवेचन धर्ममुख से चल रहा था। किन्तु आनन्दवर्धन ने इस विचारधारा को तोड दिया, फलत: काव्यविवेचन का रुख ही बदल गया। काव्यविवेचन अब व्यापारमुख से तथा फलमुख से होने लगा। फलमुख से विवेचन केवल आनन्दवर्धन ने ही किया। उनका कथन है कि रस यह निर्मित या अनुमित न होकर अभिव्यक्त ही होता है, अतएव काव्यगत शब्दार्थों का पर्यवसान व्यङ्ग्य में (रस में) होना चाहिये एव इसी दृष्टि से काव्य के अगो की शास्त्र मे व्यवस्था करनी चाहिये। व्यापारमुख से विवेचन करनेवालो मे कुन्तक और भट्टनायक प्रमुख थे। कुन्तक ने कविव्यापारमुख से एव भट्ट नायक ने रसिक व्यापारमुख से साहित्यविवेचन किया। विवेचन के इन सभी प्रकारो की पूर्णता अभिनवगुप्त के विवेचन मे एव तत्पश्चात् मम्मट के 'काव्यप्रकाश' मे हुई दिखायी देती है। साहित्यशास्त्र के विकास की पाँच अवस्थाओ मे से 'काव्यालकार' तथा 'साहित्य' की अवस्थाओ मे जो विचारधाराएँ थी उनकी संगति इस प्रकार है।

किसी भी शास्त्र का जब विकास होता है तो उस विकास में एक विशेष यह प्रतीत होता है कि विकास के क्रम मे, अवस्था मे परिवर्तन होते ही शास्त्र की कक्षा के अन्तर्गत विषयो का वर्गीकरण भिन्न प्रकार से होना आरभ होता है। वर्गीकरण करने का ऐसा ही एक भिन्न प्रयत्न ध्वन्यालोक में दिखायी देता है। भामह से रुद्रट तक काव्य का वर्गीकरण गद्य-पद्य, निबद्ध-मुक्त, सर्गबन्ध-अभिनेयार्थ इस प्रकार का है। इस प्रकार का वर्गीकरण 'ध्वन्यालोक' में नहीं है। काव्यवस्तु वही है; किन्तु उसका वर्गीकरण अब व्यङ्ग्य, गुणीभूत व्यङ्ग्य तथा चित्र इस प्रकार से होना प्रारभ हुआ है। यह वर्गीकरण पहले वर्गीकरण की

अपेक्षा शास्त्रीय एवं व्यापक होने के कारण उससे अच्छा एव ग्राह्य हुआ। इस वर्गीकरण मे पहले वर्गीकरण प्रकारो की व्यवस्था हुई, इतना ही नहीं, तो उसे शास्त्रीय अधिष्ठान भी प्राप्त हुआ। किसी शास्त्र के विकास का यह एक निश्चित ज्ञापक होता है और यह ज्ञापक साहित्यशास्त्र के विकास में भी पाया जाता है।

काव्य के अगो का इस प्रकार भिन्न वर्गीकरण होने से चर्चा की पद्धति मे भी परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन मम्मट के 'काव्यप्रकाश' मे स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। 'ध्वन्यालोक' से आरभ हुई काव्यचर्चा की फलश्रुति हमे 'काव्यप्रकाश' मे उपलब्ध होती है। किन्तु मम्मट के पश्चात् चर्चा की इस पद्धति में कोई परिवर्तन हुआ नही। अतएव मम्मट के पश्चात ऐसा कोई परिवर्तन दिखायी नही देता। किन्तु चर्चा की पद्धति मे परिवर्तन न होने पर भी यह स्पष्ट है कि चर्चा सूक्ष्मतर होती गयी। आनन्दवर्धन ने ध्वनि का त्रिप्रकारत्व विशद किया। इसी त्रिप्रकारत्व को लेकर, "रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलकारध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते" इस प्रकार अभिनवगुप्त ने उनकी आन्तरिक व्यवस्था सिद्ध की; मम्मट ने विवेचन मे रस का 'अगी' के नाते निर्देश किया; तथा विश्वनाथ ने "वाक्य रसात्मक काव्यम्" वचन से रस का काव्यात्मत्व स्पष्ट रूप मे कथन किया। विश्वनाथ ने इसमे कोई नवीनता नही दर्शाई, किन्तु निश्चय ही सूक्ष्मता दर्शाई है। जगन्नाथ का वर्गीकरण भी मम्मटानुसारी ही है; किन्तु चित्रकाव्य के अर्थचित्र एव शब्द-चित्र इस प्रकार स्वतन्त्र भेद करते हुए काव्य के कुल चार भेद स्वीकार करने मे उसने भी सूक्ष्मता का परिचय दिया हुआ है, और चित्रबन्ध, एकाक्षरबन्ध आदि भेद काव्य ही नही है ऐसा कहने से तो वह निश्चयही पुरोगामी सिद्ध हुआ है।

भामह से जगन्नाथ तक चर्चा के उदाहरणों में भी कुछ विशेषताएँ दिखायी देती है। वामन का अपवाद वर्ज्य करके, भामह से रुद्रट तक सभी के दिये हुए उदाहरण संस्कृत एव स्वरचित है। इस के विपरीत, आनन्दवर्धन से आगे, उदाहरण प्रसिद्ध कवियो के ग्रन्थो से उद्धृत है। इससे प्रतीत होता है कि, आनन्दवर्धन के पूर्व शास्त्रविरचना (formation) का काल है एव आनन्दवर्धन से आगे, शास्त्र की पुनर्व्यवस्था एव तत्त्वपरीक्षा (Systematization & application) का काल है। पूर्वाचार्यों ने खोज निकाले हुए तत्त्वों की पर्याप्तता जॉचने के प्रयत्न से ध्वनितत्त्व उदय हुआ है; और इसमें एक विशेष यह है कि इस जाँच पड़ताल मे आनन्दवर्धन ने इस चर्चा को संस्कृत के साथ प्राकृत काव्य के लिए भी उपयोग में लाया है। 'ध्वन्यालोक' मे प्राकृत उदाहरण प्रचुर मात्रा मे हैं, केवल इतना ही नहीं, ध्वनि की सूक्ष्म छटाएँ दर्शाने में उन्होने प्राकृत काव्य

का भी प्रचुर उपयोग किया है । इस बात की हम उपेक्षा नही कर सकते ‘ ध्वन्यालोक ’ से ‘ काव्यप्रकाश ’ तक प्राकृत पद्यो की संख्या विपुल तो है ही; किन्तु तत्पश्चात् भी चौदहवी शताब्दीतक यह पद्धति दिखायी है। हेमचन्द्र ने ग्राम्य अपभ्रश के उदाहरण दिये है और विश्वनाथ ने भी प्राकृत उदाहरण दिये है । किन्तु रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वति, अप्पय दीक्षित तथा जगन्नाथ पडित के ग्रन्थो मे प्राकृत उदाहरण नहीं मिलते । रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती के सम्बध मे एक समाधान यह दिया जा सकता है कि उन्हे भक्तिरस को प्रतिष्ठित करना था, इस लिए उन्होने श्रीमद्भागवत के आधार से अपने ग्रन्थो की रचना की, अतएव उनमे प्राकृत पद्य नही है । किन्तु अप्पय दीक्षित या जगन्नाथ पडित के सम्वध मे यह नही कहा जा सकता । यह भी नही कह सकते कि जगन्नाथ उस समय की प्राकृत कविता को नही समझ सकते थे; क्यो कि प्रतीत होता है कि उन्होने प्राकृत पद्यो के रूपान्तर किए हुए है । तो फिर यह पद्धति खण्डित क्यो हुई ?

इसका एक समाधान हो सकता है । जगन्नाथ का समय पाडित्य का समय है । जगन्नाथ को पाडित्य के क्षेत्र मे अनेक स्पर्धक थे । साहित्य के क्षेत्र में उनका सबसे बडा प्रतिस्पर्धी अप्पय दीक्षित था । इन पडितो को कुण्ठित करने के लिए जगन्नाथ ने अर्थ की अभिव्यक्ति की, नयी नयी छटाएँ उनके सामने कैसी प्रस्तुत की है यह रसगगाधर में देखना बड़ा मनोरजक है । सस्कृत में ये नवीन छटाएँ मूलत: हिंदी या फारसी से लायी गयी है यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है । जगन्नाथ शाहजहाँ के आश्रय मे थे । शाहजहाँ का लड़का दारा शिकोह उपनिषदो का अभ्यासक था । शाहजहाँ की पडितसभा मे हिंदी, फारसी तथा सस्कृत पडितो की गोष्ठियाँ होना असभव नही है । ऐसी सभाओ में जगन्नाथ जैसा प्रतिभावान् कवि एवं सूक्ष्मदर्शी पडित अगर दिलचस्पी लेता है तो वह बिलकुल स्वाभाविक है । उन्होने इन नयी अर्थच्छटाओ को आत्मसात् किया । उन्हे सस्कृत मे रूपातरित किया एवं अपने कवित्व से तथा पाडित्य से तत्कालीन सस्कृत पडितो को निष्प्रभ किया ।

जगन्नाथ ने इस प्रकार प्राकृत का सस्कृतीकरण कर के सस्कृत कविता को नि.सदेह समृद्ध किया । किन्तु एक विचार आप ही मन मे आता है कि यदि जगन्नाथ ने प्रतिपक्षी विद्वानों को निष्प्रभ करने की ईर्ष्या न रखते हुए, अर्थ की विविध छटाएँ दर्शाने के लिए मूल पद्य ही दिये होते तो – शायद साहित्य चर्चा एक नयी दिशा मे चलती—तथा उसकी धारा खण्डित—सी न लगती । यह नयी दिशा कैसे और किस प्रकार की हो सकती थी यह कहने का अधिकार प्रकृत लेखक का नही है ।

संप्रदाय नहीं; विकास का क्रम

साहित्यशास्त्र के विकास का यह क्रम देखने से एक प्रश्न आप ही उपस्थित होता है। आजकल हम, साहित्यशास्त्र मे सम्प्रदाय थे इस मन्तव्य को स्वीकार करते है। भरत का रससप्रदाय, भामह का अलकारसप्रदाय, वामन का रीतिसप्रदाय, आनन्दवर्धन का ध्वनिसप्रदाय, कुन्तक का वक्रोक्तिसप्रदाय तथा क्षेमेन्द्र का औचित्यसप्रदाय इस प्रकार हम व्यवहार करते है। हमें सोचना चाहिये कि, यह कहाँ तक उचित है। सम्प्रदाय की कल्पना में एक महत्त्वपूर्ण विशेष यह है, कि हम जिस बात का पुरस्कार करते है उसका प्रतिपादन करने मे अन्य सारी बातो का अभाव सिद्ध करना पडता है। किन्तु इन आलकारिको में से ऐसा किसी ने नही कहा। भामह का रस या गुणो से विरोध नही है। वामन का रस या अलकारो से विरोध नहीं है; आनन्दवर्धन का भी गुण या अलकारो से विरोध नही है। तीनो को ये तीनो बाते स्वीकार है। ध्वनि के विरोधक भी केवल इतना ही कहते है कि व्यजनाव्यापार को स्वतत्र सत्ता मानने का कोई प्रयोजन नही, व्यजना का अन्तर्भाव अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य या अनुमान में ही होता है। मम्मट के पश्चात् ध्वनि का कोई विरोधक ही नही रहा। सभी ने व्यजना को स्वीकार किया।

साहित्यशास्त्र का इतिहास देखने से पता चलता है उसमें विचार उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता गया। पूर्वकालीन आचार्यो के मतो का यथावत् ज्ञान कर लेने के पश्चात् उत्तरकालीन आचार्यों ने वे अधिक सूक्ष्मरूप में विवेचित किये है। काव्यगत पदार्थों का विशिष्ट धर्म कौनसा है इस प्रश्न पर विचार करने में, स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढने का शास्त्रकारो का एक अखण्ड प्रयत्न प्रतीत होता है। काव्य-विवेचन में स्वीकृत जीवशरीर व्यवहार का रूपक अथवा अगागिभाव की कल्पना भी इसी ओर संकेत करती है। शास्त्र के इस प्रकार के विकास में सप्रदाय की कल्पना ठीक जँचती नही।

सत्य यह है कि, साहित्यचर्चा का इतिहासमुख से अध्ययन करने का प्रयत्न हमारे देश में आरभ हुआ तब पाश्चात्य ग्रन्थकारो ने Schools शब्द का प्रयोग किया और हम लोगो ने भी उन्हीका अनुसरण करते हुए Schools के सम्प्रदाय बनाये। इस सम्प्रदाय कल्पना की दृष्टि से साहित्यशास्त्र को देखने से अनेक ग्रन्थकारों के विवेचन दोषयुक्त हुए है। साहित्यशास्त्र का विचार करने मे हमें इस सम्प्रदाय की कल्पना का त्याग करना चाहिये। तभी इस शास्त्र का सम्पूर्ण मानचित्र हमारी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो सकता है।

यहाँतक साहित्यशास्त्र का विकास इतिहासमुख से दर्शाया। डेढ़ से दो सहस्राब्दी के विचारमंथन से जो साहित्यविषयक सिद्धान्त उपलब्ध हुए उनका परिचय करा लेना आवश्यक है। यह कार्य हम उत्तरार्द्ध में करेंगे। ● ● ●

भारतीय साहित्यशास्त्र

उत्तरार्द्ध

अ ध्या य नौ वाँ

काव्यशरीर – शब्दार्थ विचार

साहित्यशास्त्र काव्य के स्वरूप का विश्लेषण करने के हेतु ही प्रवृत्त हुआ है। साहित्य के अन्य प्रकारों के समान काव्य भी शब्दार्थमय होता है। काव्य में शब्दार्थ प्रत्यक्ष सिद्ध होते है, वे हमारे समक्ष ही होते है। काव्य का पर्यवसान रसास्वादन में होता है, रसास्वादन अनुभवसिद्ध है । काव्य के ये दो घटक इस प्रकार स्वतत्र रूप में सिद्ध है । इन दोनों के साथ काव्य के विवेचको को तीसरी भी एक बात प्रतीत हुई, वह यह कि शब्दार्थों का रसास्वादन में पर्यवसान होने के लिये काव्यगत शब्दार्थों में कुछ विशेषताएँ होनी चाहिए। ये विशेषतायें है, गुण और अलकार। अतएव वामन का कथन है कि गुणालकारो से सस्कृत शब्दार्थों को ही काव्य की सज्ञा है । गुणालकारों का स्वरूप आलकारिकों ने अन्वयव्यतिरेक पद्धति से निश्चित किया है । इस प्रकार काव्य में शास्त्रत: विवेच्य किन्तु व्यवहारत अविभाज्य (Logically distinguishable but actually inseparable) तीन घटक होते है – शब्दार्थ, रस और अलकार । काव्यशास्त्र इनका स्वरूप एव परस्पर सबन्ध बताता है । काव्यशास्त्र के सभी सिद्धान्त इन तीनों घटकों के अन्तर्गत आते है । अत हम भी क्रम से इन घटकों की विवेचना करेंगे ।

'व्याकरणस्य पुच्छम्'

शब्दार्थो की विवेचना करने में व्याकरण, न्याय, और मीमासा शास्त्र सम्मुख आते है। अपने मदिर की सजाने में काव्यशास्त्र ने इन तीनों में से आवश्यक वस्तुएँ अपनायी है । किन्तु उनमें भी व्याकरणशास्त्र से काव्यशास्त्र का जितना सबन्ध रहा है उतना न्याय और मीमासा से नही रहा । सभी महत्त्वपूर्ण बातो में काव्यशास्त्र ने व्याकरण का आश्रय किया है। सभी आलकारिको ने वैयाकरणों का 'बुध' कहकर

आदर किया है। भामह से नागेशभट्ट तक के किसी भी आलकारिक का ग्रन्थ देखने से व्याकरण का ऋण हर पृष्ठ पर प्रत्यक्ष होगा।

अतएव कहा जाता है कि अलकारशास्त्र व्याकरण का पुच्छ है। एक अर्थ में यह ठीक भी है। 'व्याकरणस्य पुच्छम्' का अर्थ है व्याकरण का परिशिष्ट। व्याकरण शब्दो का साधुत्व और असाधुत्व निर्धारित करता है, परतु अलकारशास्त्र उसके भी आगे बढकर शब्दो की 'सम्यक् प्रयोगयोग्यता' निर्धारित करता है। व्याकरण-शास्त्र ने शुद्ध निर्धारित किये शब्दो में से, विशिष्ट सदर्भ में कौनसा शब्द प्रयोगयोग्य है तथा कौनसा शब्द प्रयोगयोग्य नही है इस सबन्ध में नियम और निर्बध अलकार-शास्त्र बताता है। श्रुतिकटु शब्द रौद्र में ठीक होगा किन्तु शृगार में नही। 'रव' और 'नाद' दोनो शब्द समानार्थक है इस आधार पर 'सिहरव' और 'मडूकनाद' नही कहा जा सकता। रणित, कूजित, भणित, गर्जित आदि शब्द 'आवाज' के एक ही अर्थ मे है किन्तु उनका प्रयोग करने मे रुद्रट की निम्न कारिका का—

'मजीरादिपु रणितप्रायान् पक्षिषु च कूजितप्रभृतीन्।
भणितप्रायान् सुरते मेघादिषु गर्जितप्रायान्।'

ध्यान रखना आवश्यक है। साराश, सम्यक् प्रयोग की दृष्टि से शब्दो की योग्यता एव अयोग्यता निर्धारित करने का कार्य अलकारशास्त्र करता है, अतएव वह व्याकरण का परिशिष्ट है।

इतना होने पर भी काव्यशास्त्र सर्वथा व्याकरण के अधीन नही रहा। जहाँ तक बन सका उसका व्याकरण से मेल रहा। जहाँ नही बना वहाँ उसने व्याकरण का साथ छोड दिया एवम् अन्य शास्त्र की सहाय्यता से या स्वतत्र रूप से अपना मार्ग निर्धारित किया। अन्तत: वह राह इतनी सही निकली कि व्याकरण को भी काव्य-शास्त्रान्तर्गत सिद्धान्तों को स्वीकार करना पडा। काव्यशास्त्र ने अभिधा के लिये व्याकरणशास्त्र का आश्रय लिया किन्तु व्याकरण को लक्षणा स्वीकार न होने से लक्षणा विचार में उसने मीमासा से सहाय्यता ली। मीमासा और न्याय को व्यजना स्वीकार नही है, प्रत्युत काव्यशास्त्र व्यजना वृत्ति मानता है। अत: व्यजना की सिद्धि के लिये उसने अपने स्वतत्र मार्ग का अवलंब किया। व्याकरण की आरभकालीन स्थिति में व्यंजना का दर्शन नही होता। किंतु काव्यशास्त्र ने व्यजना की सिद्धि करने पर व्याकरण को भी उसे मानना पड़ा। नागेशभट्ट की 'परमलघुमजूषा' से यह स्पष्ट हो जाता है। "शक्तिर्द्विविधा—प्रसिद्धा, अप्रसिद्धा च। आमन्दबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वं, सहृदयमात्रवेद्यात्वम् अप्रसिद्धात्वम्" स्पष्ट है कि इस वचन में कही गयी

अप्रसिद्धा शक्ति व्यजना ही है। अप्रसिद्ध शक्ति की विवेचना में ही "ननु व्यंजना नाम क पदार्थ" इस प्रकार प्रश्न उपस्थित करते हुए नागेश ने व्यजना की काव्यशास्त्र-संमत परिभाषा दी है और यह भी दर्शाया है कि भर्तृहरि आदि वैय्याकरणो ने निपातों की द्योतकता एव स्फोट की व्यजकता किस प्रकार बतायी है और अत में स्पष्ट रूप से अपना मत अकित किया है कि, "वैयाकरणानामपि एतत्स्वीकार· आवश्यक।" नागेशभट्ट एक निपुण वैय्याकरण थे, साथ साथ वे एक रसिक आलकारिक भी थे। अत उनके इस मत का विशेष महत्त्व है। उन्होने साहित्यशास्त्र में व्याकरण का महत्त्व पहचाना और उसी तरह साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्त का व्याकरण की दृष्टि से क्या महत्त्व है इसकी भी जाँच की। अतएव केवल व्याकरण के अधीन होकर अलकार के नीरस भेद करने वाले आलकारिकों पर वे दोष लगाते है, और उसी प्रकार वैय्याकरणो को भी साहित्यशास्त्रीय व्यजना का महत्त्व समझाते है। मजूषा में नागेशकृत व्यजनानिरूपण तो अलकारशास्त्र की व्याकरण पर अन्तिम विजय है।

साहित्यशास्त्र मे पदवाक्यविवेक

व्याकरण के अनुसार काव्यशास्त्र ने भी पदवाक्यविचार किया है। उसे देखने से व्याकरण की अपेक्षा काव्य का विशेष सहज ही विदित हो जाता है। साहित्य दृष्टि से पदवाक्यविवेक करते हुए राजशेखर 'काव्यमीमासा' में कहते हैं—"व्याकरण-शास्त्र द्वारा साधु निर्धारित किया गया शब्द अभिधानादि कोषो में निर्दिष्ट होता है। किसी शब्द का जो अभिधेय है वह उस शब्द का अर्थ है। वह शब्द तथा उसका अर्थ दोनो मिलकर पद होता है (१)"। पद की यह परिभाषा व्याकरणशास्त्रीय नही है। न्यायशास्त्रीय है। व्याकरण कहता है— 'सुप्तिङन्त पदम्' परतु न्यायशास्त्र का पद के सबन्ध में कथन, 'शक्त पदम्'—अर्थयुक्त शब्द ही पद है। काव्य में प्राप्त पदो के पाँच भेद होते है—सविभक्तिक, समास, तद्धित, कृदन्त एवं क्रियापद। कतिपय कवियो के काव्य मे विशिष्ट पदो के प्रयोग करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। राजशेखर ने ऐसी कुछ प्रवृत्तियो का उल्लेख किया है। वैदर्भीय कवि सुप् विभक्ति से अर्थ कथन करना पसद करते है, गौड समासप्रिय होते है, दाक्षिणात्य अधिकतर तद्धितों का प्रयोग करते है, उत्तर के लेखक कृदन्त रूप पसद करते है और इष्ट धातुओं का प्रयोग तो सभी करते है। इन पाँच प्रवृत्तियो का उपयोग कवि जब किसी विशेष के अनुसार करता है तभी वाक्य में शोभा आती है। महाकवि और काव्यज्ञों की रचना

१. व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दः निरुक्तनिघंटाभिर्निर्दिष्ट·। तदभिधेयोऽर्थ·। तौ पदम्
—का मी. पृ. २१

में इस प्रकार की विशेषताएँ पग पग पर पायी जाती है। इतना ही नही और तो और उनकी इस प्रकार की विशिष्ट रचना के कारणहि भाषा के सौदर्य में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। (२)

वह पदसदर्भ (पदरचना)—जिसमें वक्ता का आशय ग्रथित रहता है—वाक्य है। (पदानामभिधित्सार्थग्रथनाकर सदर्भ वाक्यम्) । वाक्य में क्रियापदो की संख्या एव उनके स्थानो को लेकर राजशेखर ने वाक्यो के दस भेद दिये है। उन भेदो की विवेचना का यहाँ कोई प्रयोजन नही है, किन्तु उदाहरण के लिए निम्न एक भेद देखिए : "समुद्रमथन समाप्त होने पर देवों ने तथा असुरो ने ब्रह्माजी का जयजयकार किया, उनकी पूजा की, सम्मान किया, उन्हे अग्रेसर के रूप में स्वीकार करते हुए उनकी वदना की (३)"। यहाँ पाँच क्रियापद मिलकर एक वाक्य हुआ है। 'जितने क्रियापद उतने ही वाक्य' वाला व्याकरणशास्त्र का नियम यहाँ लागू नही होता। क्रियापद कितने ही क्यो न हो, कारकसमूह यदि एकाकार है और सब कारक मिलकर वक्ता का एक हि आशय पूर्ण रूपसे ग्रथित होता है तो वह एक ही वाक्य है (४)। उपर्युक्त उदाहरण में देवासुरों की पाँच भिन्न भिन्न क्रियाएँ पाँच क्रियापदो से दर्शायी गयी है। किन्तु इन सब के द्वारा श्रम की सार्थकता का आनन्द – यह एक ही अर्थ प्रतीत हो रहा है। अत एव यहाँ क्रियापद पाँच होने पर भी वाक्य एक ही रहा है।

वाक्य के स्वरूप के सबन्ध में ये दो मत भोज ने 'शृगारप्रकाश' में विस्तार से विवेचित किये है, और उसमें से 'एकतिङ्' वाक्य की अपेक्षा एकार्थपर वाक्य वाला मत ही उपादेय क्यो है इसकी विवेचना की है। वाक्य के सबन्ध मे स्वयम् वैय्याकरणो में ही एकाख्यात (एकतिङ्) वाक्य और अनेकाख्यात वाक्य इस प्रकार दो भेद पाये जाते है। अधिकाश वैय्याकरण तथा वार्तिककार 'एकतिङ् वाक्यम्' अर्थात् जितने क्रियापद उतने वाक्य होते है इस मत के थे, किन्तु स्पष्ट है कि स्वयम्

---

२. विशेषलक्षणविदां प्रयोगा. प्रतिभान्ति ये ।
आख्यातराशिस्तैरेव प्रत्यहं ह्युपचीयते ॥—का. मी. पृ. २२

३. देवासुरास्तमथ मन्थगिरां विरामे पद्मासनं जयजयेति बभाषिरे च।
द्राग् भेजिरे च परितो बहुमेनिरे च स्वाग्रेसरं विदधिरे च ववन्दिरे च ॥ का मी पृ. २३

४. "आख्यातपरतंत्रा वाक्यवृत्ति· अतो यावदारव्यातमिह वाक्यानि" इत्याचार्या:, एकाकातरया कारकग्रामस्य, एकार्थतया च वाचोवृत्तेः, एकमेवेदं वाक्यम् इति यायावरीयः।—
का. मी. पृ २३

प्राचीन आचार्यों का विचार था कि जितने क्रियापद होते हैं उतने ही वाक्य भी होते हैं, और राजशेखर की राय है कि एक अभिप्राय से एक वाक्य बनता है।

पाणिनि का अनेकाख्यात वाक्य से भी अभिप्राय था (५)। भोज ने पाणिनि और वार्तिककार के मतो का ऊहापोह करके निर्णय किया कि वार्तिककार का 'एकतिङ् वाक्यम्' यह वाक्यलक्षण स्वरूपत. केवल पारिभाषिक है। इस लक्षण से लौकिक व्यवहार सिद्ध नही होता। अतः व्यवहार दृष्टि से उसकी उपेक्षा करनी चाहिए (६)। व्यवहार में अनेकाख्यात वाक्य भी देखा जाता है, अत. काव्यशास्त्र में भी उसीसे अभिप्राय है। अतएव भोज का कथन है की काव्य की दृष्टि से वाक्य का लक्षण "एकार्थपर. पदसमूहः वाक्यम्।" अर्थात् जिससे एक आशय प्रकट होता है वह एक वाक्य (फिर उसमें कितने ही तिङन्त क्यो न हो) इस प्रकार ही करना चाहिए।

पद और वाक्य के सबन्ध में इस काव्यशास्त्रीय विवेचन पर ध्यान देने से एक तथ्य स्पष्टतया विदित होता है। काव्यशास्त्र में किया गया यह लक्षण व्याकरण-शास्त्रीय न होकर न्यायशास्त्रीय (Logical) है। काव्यस्थित वाक्य पारिभाषिक अर्थ में वाक्य (Sentence) नही होता, प्रत्युत वह अभिधान (Predication, Statement) होता है। उसमें पद सुबन्त या तिङन्त न होकर वाक्यावयव है। जितनी कल्पना या जितना आशय कवि एक साथ प्रकट करना चाहता हो उतने आशय को व्यक्त करने वाला पदसदर्भ या पदरचना ही वाक्य है। काव्यस्थित वाक्यार्थ होता है—एक सपूर्ण विचार या सपूर्ण कल्पना। एक सपूर्ण विचार का अथवा कल्पना का वाचक एक वाक्य होता है, परिभाषा की दृष्टि से उसमें आख्यात कितने ही क्यों न हो। न्यायशास्त्र में कहा जाता है 'Judgement is a unit of thought.' काव्यशास्त्र में भी कहा जा सकता है कि 'An idea is a unit of thought' तर्कशास्त्र में वाक्य Judgement का वाचक होता है, तो काव्य में वाक्य का अभिधेय Idea होती है। काव्य में प्रयुक्त इस प्रकार के वाक्य के लिए ही वचन शब्द है। (वाक्य वचनं व्याहरन्ति)। वचन का अर्थ है उक्ति। काव्यशास्त्र में वाक्य, वचन, उक्ति समानार्थक है। इस उक्ति में यदि कोई विशेष हो तो वह काव्य होता है। (उक्ति विशेष. काव्यम्)।

---

५. 'तिङतिङः' (८।१।२८) इस पाणिनीय सूत्र पर भाष्य देखिये। 'शृंगारप्रकाश' के तृतीय प्रकाश में भी इस पर विवेचन है।

६. 'तदेवं' सूत्रकारस्य भाष्यकारस्य च दर्शनेऽस्ति क्रियाया क्रियान्तरेण संबध'। वार्तिककारस्तु युष्मदस्मादादेशनिघातार्थम्, आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्,' 'एकतिङ् वाक्यम्' इत्यन्येदेव लौकिकात् पारिभाषिकं वाक्यलक्षणमारभते। न च तेन लौकिको व्यवहारः सिध्यति, इत्युपेक्ष्यते। —'शृंगारप्रकाश'

वाक्यगत पदों के वैशिष्टय

वक्ता, का आशय ग्रथित करनेवाला अथवा एक सपूर्ण अर्थ कथन करनेवाला पदो का सदर्भ अथवा समूह, इसीको काव्य की दृष्टि से वाक्य की संज्ञा है। इस पद-सदर्भ में या पदसमूह में कतिपय विशेष होना आवश्यक है। जिन पदो का वाक्य बना है उनमें योग्यता, आकाक्षा तथा सनिधि के धर्म अपेक्षित है। वाक्य मे जो पद प्रयुक्त होने है उनके अर्थ एक दूसरे के लिए योग्य होने चाहिए। उन वस्तुओ को एकत्रित करने में कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। अन्यथा वह वाक्य नही होगा। उदाहरणार्थ 'अग्निना सिञ्चति' यह वाक्य नही है, क्योकि 'अग्नि' यह वस्तु और सेचन क्रिया इन दोनो में सामजस्य नही है। किन्तु 'पयसा सिञ्चति' यह वाक्य है, क्यों कि उसमें निर्दिष्ट वस्तुएँ एक दूसरे के लिए योग्य सिद्ध होती है, बाधक नही। योग्यता को पदो में परस्परसवाद कहा जा सकता है। शास्त्रकारो ने योग्यता का लक्षण "पदानां परस्परसंबन्धे बाधाभाव·" अथवा 'अर्थाबाध.' किया है। (वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए) पदो में जो परस्पर आवश्यकता होती है वह है आकाक्षा। वक्ता के मन में जो अर्थ है उसे समझने के लिए जितने पद आवश्यक है वही साकांक्ष होते है। श्रोता की जिज्ञासा (प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा) को आकांक्षा कहते है। वाक्य मे जिस पद का अभाव होने पर श्रोता की जिज्ञासा बनी रहेगी (प्रतीतिपर्यवसानविरह) तथा उस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए जिस पद की आवश्यकता होगी वह पद साकाक्ष होता है। इस दृष्टि से मीमासको का वाक्यलक्षण देखना ठीक होगा। जैमिनि कहते है—"अर्थैकत्वादेक वाक्य साकाक्ष चेद्विभागे स्यात्"। जिस पदसमूह के द्वारा अर्थ की एकता की प्रतीति होगी उसी पदसमूह का वाक्य बनता है, फिर उसमें कितने ही पद आवश्यक क्यो न हो। (अर्थैकत्वादेक वाक्यम्) किन्तु अमुक सख्या मे ही पद वाक्य के लिए आवश्यक है यह निश्चय कैसे किया जाय? इस पर जैमिनी का कथन है कि उस पदसमूह का विभाग करने पर यदि उसका एक एक अंश अर्थत: अधूरा रहा तथा पूरा होने के लिए उसे अलग किये हुए अंश की आवश्यकता प्रतीत हुई (साकाक्ष चेत् विभागे स्यात्) तो समझना चाहिऐ कि वे सभी पद उस वाक्य के लिए आवश्यक है। साकाक्ष पद वाक्य का अश है, इसके विपरीत निराकाक्ष पद वाक्य की दृष्टि से अनावश्यक है। वाक्य के लिए आवश्यक तीसरी बात है 'सानिध्य'। वाक्यगत पदों का योग्य और साकाक्ष होना तो आवश्यक है ही किन्तु उनका अविलब उच्चारण भी आवश्यक है (पदानामविलंबेनोच्चारण सनिधि:); अन्यथा वाक्यार्थ की प्रतीति में खण्ड होगा एव वाक्य के लिए आवश्यक प्रतीति की एकता न रहेगी। अतएव शास्त्रकारों ने आसत्ति का लक्षण 'आसत्ति. बुद्ध्यविच्छेद" किया है।

उपर्युक्त तीन धर्मो में से 'सानिध्य' पदो का साक्षात् धर्म है। योग्यता और आकाक्षा साक्षात् पदधर्म नही हैं। योग्यता पदार्थो का धर्म है, पदो का नही। आकाक्षा श्रोता का आत्मधर्म है। वह पदो का या पदार्थो का धर्म नही है। किन्तु उपचार से योग्यता एव आकाक्षा भी पदो के धर्म माने जाते है (७) ।

वाक्य और महावाक्य

पूर्व जिस वाक्य का स्वरूप हमने देखा वह पदोच्चयरूप या पदसमूहरूप वाक्य है। किन्तु वाक्य का इससे भिन्न और भी एक प्रकार है। उसे 'महावाक्य' कहते हैं। जिस प्रकार आकाक्षा, योग्यता तथा सान्निध्य के धर्मो से पद युक्त होते हैं उसी प्रकार वाक्य भी परस्पर युक्त हो सकते हैं। उपर्युक्त तीन धर्मो से युक्त पद-समूह का जिस प्रकार वाक्य बनता है एव उसमें अर्थैकत्व होता है उसी प्रकार इन धर्मो से युक्त वाक्य समुच्चय में भी अर्थैकत्व होता है। अतएव ऐसे वाक्यसमुच्चय के लिए 'महावाक्य' की सज्ञा है। विश्वनाथ कहते है —

> वाक्य स्याद् योग्यताकाक्षासत्तियुक्त पदोच्चयः ।
> वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थ वाक्य द्विधा मतम् ।। (२।१)

महावाक्य के उदाहरण के रूप में विश्वनाथ ने रामायण, रघुवश आदि काव्यों का निर्देश किया है। इसका अर्थ यह होता है कि सम्पूर्ण काव्य एक महावाक्य ही है।

राजशेखर ने कहा है कि वक्ता के मन के अर्थ को ग्रथित करने वाला पदो का सदर्भ वाक्य है, इसके अनुसार कह सकते है कि कवि के मन के अर्थ को ग्रथित करने-वाला वाक्यसदर्भ महावाक्य है। वामन ने तो काव्य, नाटच आदि के लिए 'सदर्भ' शब्द का ही प्रयोग किया है। (सदर्भेषु दशरूपक श्रेय·)। सपूर्ण काव्य में कवि किसी एक ही अर्थ को कथन करता है। उस एक अर्थ की दृष्टि से जब हम उस काव्य में स्थित अन्यान्य तत्त्वो की जाँच करते है तब हम उनमें पारस्परिक योग्यता एव आकांक्षा की ही अपेक्षा करते है। पदो की योग्यता एव आकाक्षा के कारण हमें वाक्यार्थ का बोध होता है। इसी प्रकार वाक्यो की परस्पर योग्यता एव आकांक्षा के कारण महा-वाक्यार्थ का बोध होता है। वाक्य में प्राप्त पद पृथक् रूपमें भिन्न अर्थ के होते हैं, किन्तु वाक्य में जब उनका समुच्चय होता है तब उस समुच्चय के द्वारा उन सभी पदार्थो के अतिरिक्त एक विशिष्ट वाक्यार्थ हमें ज्ञात होता है। इसी प्रकार भिन्न

७. आकांक्षायोग्यतयोरात्मधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात्। साहित्यदर्पण २।१ वृत्ति

भिन्न वाक्यों के समुच्चय के द्वारा उन वाक्यो के अर्थों से सर्वथा भिन्न एक महावाक्यार्थ प्रतीत होता है। काव्यशास्त्रस्थित महाकाव्य की यह कल्पना साहित्य पडितो की मनगढन्त बात नही है। उन्होंने यह मीमासको से ली है (८)। एव काव्यशास्त्र में उसका उपयोग किया है। इस कल्पना का काव्यशास्त्र की रचना में बहुत बड़े प्रमाणपर उपयोग हुआ। महावाक्यस्थित तत्त्वो की 'योग्यता' वही है जो काव्यस्थित तत्त्वों की 'सभवनीयता' है। एव आकांक्षा उन तत्त्वो की अपरिहार्यता है। काव्य के तत्त्वो की सभवनीयता एव अपरिहार्यता का विवेचन ही उचितानुचित विवेक है, तथा इस प्रकार का विवेक करना ही काव्यशास्त्रान्तर्गत गुणदोष प्रकरणो का प्रयोजन है।

नैयायिको की पद की व्याख्या–'शक्त पदम्' आलकारिकों ने भी अपनायी। शक्त का अर्थ है बोधक शक्ति से युक्त। वर्णसमुदायरूप शब्द में अर्थ का बोध कराने वाली जिस शक्ति का अनुभव होता है उसीको शक्ति, वृत्ति या व्यापार कहते हैं। साहित्यशास्त्र के सस्कृत ग्रन्थो में इस वृत्ति पर विचार हुआ है। (९)

काव्यशास्त्र में शब्द की अर्थबोधक शक्ति–अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना इस प्रकार त्रिरूप मानी गयी है। इनकी विवेचना आगे प्रकरणश. की जावेगी। इनके अतिरिक्त तात्पर्य नामक एक चौथी वृत्ति भी कतिपय मीमासक और साहित्यिक मानते हैं। अभिधा आदि तीन वृत्तियो से शब्दो का अर्थ ज्ञात होता है, तो तात्पर्य वृत्ति से वाक्यों का अर्थ ज्ञात होता है। शब्दो का अपना स्वतत्र अर्थ होता है। शब्दो से जब वाक्य बनता है तो वाक्य का भी एक स्वतत्र अर्थ होता है। यह वाक्यार्थ वाक्यगत शब्दो के द्वारा ही सपन्न होता है किन्तु फिर भी वह उन शब्दार्थो से भिन्न तथा स्वतत्र होता है। अर्थात् यह वाक्यार्थ केवल शब्द सबद्ध अभिधा आदि व्यापारो के द्वारा ज्ञात नही होता है। उसके लिए एक पृथक् शक्ति ही माननी होगी। वाक्य के अर्थ की बोधक यह शक्ति 'तात्पर्यवृत्ति' है। हम पूर्व देख चुके है कि वाक्यबोध के लिए आकाक्षा, योग्यता एव सानिध्य के धर्म आवश्यक है। इन तीन धर्मो के योग से तात्पर्यवृत्ति होती है। आकाक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के कारण पदार्थो का

---

८. प्रसिद्ध मीमासक कुमारिलभट्ट ने महावाक्य के संबन्ध में कहा है–
स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गागित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुन' सहत्य जायते॥
हम व्यवहार में 'एकवाक्यता' शब्द का प्रयोग करते हैं, इस में भी यही अभिप्राय है।

९. 'काव्यप्रकाश,' 'साहित्यदर्पण' एवं 'रसगगाधर' – इन ग्रथों में वृत्तियों पर विचार हैं। इनके अतिरिक्त स्वतंत्र रूप में इस विषय पर दो ग्रन्थ और हैं, मुकुलभट्टकृत 'अभिधावृत्तिमातृका' तथा मम्मटकृत 'शब्दव्यापारविचार'।

समन्वय होने पर वाक्यार्थ प्रकट होता है, जो उन पदार्थों से पृथक् होता है एव जिसका एक विशेष स्वरूप होता है (१०)। साराश, तात्पर्यवृत्ति का कार्य है–अभिधा आदि शब्दवृत्तियो के द्वारा जिनका बोध हुआ है ऐसे पद–अर्थो में पारस्परिक सबन्ध दर्शा कर तद्द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराना अर्थात्-वाक्यार्थ ही तात्पर्यार्थ है एव वाक्य तात्पर्यार्थ का वाचक है (११)।

वाक्यार्थबोध : अभिहितान्वयवाद

भाट्टमीमासक, नैयायिक तथा वैशेषिक तात्पर्यवृत्ति स्वीकार करते है। उनका विचार इस प्रकार है। शब्दो से हमें शब्दशक्ति के द्वारा पद-अर्थो का ज्ञान होता है। शब्दो से ज्ञात हुए (अभिहित) पद-अर्थो का अन्वय होता है और इस अन्वय के द्वारा हमे वाक्यार्थ ज्ञात होता है (१२)। इनका कहना ठीक तरह से समझने के लिए एक उदाहरण ले। 'घट करोति' यह एक वाक्य है। मीमासको के मत के अनुसार हर वाक्य का पर्यवसान क्रियाबोध में होता है, अर्थात् हर वाक्य किसी क्रिया के विषय में कुछ बताता है। अत उपर्युक्त वाक्य का अर्थ हुआ घट रूप कर्म से सबद्ध क्रिया (घटाश्रयकर्मत्वाश्रिता क्रिया)। इस वाक्य में भी दो अश है। 'घटम्' तथा 'करोति'। 'करोति' पद क्रिया का वाचक है। 'घटम्' पद के भी दो अंश है। 'घट' यह प्रकृति और 'अम्' प्रत्यय। इनमें से घट शब्द से 'घड़ा' नामक वस्तु का ज्ञान होता है। 'अम्' प्रत्यय कर्मत्व का या कर्म का वाचक है। अत. 'घटम्' पद का अर्थ हुआ 'घटाश्रित कर्मत्व' अथवा घट रूप कर्म। इस प्रकार 'घटम्' अर्थात् 'घटाश्रित-कर्मत्व' एवम् 'करोति' अर्थात् क्रिया ये दो अर्थ ज्ञात होने पर, इन दोनों पदार्थों में ('घटाश्रितकर्मत्व' तथा 'क्रिया' इन दोनों में) संबन्ध दर्शाने के लिए इस वाक्य में कोई शब्द नही है। उन उन पदों के उन उन अर्थो का ज्ञान हमें अभिधावृत्ति के द्वारा हुआ। यहाँ अभिधा का काम समाप्त हुआ। फिर यह सबन्ध कैसे ज्ञात होगा? अभिहितान्वयवादियो का कहना है कि यह संबध 'तात्पर्य' नामक स्वतत्र वृत्ति से ज्ञात होता है। यह तात्पर्यवृत्ति योग्यता, आकाक्षा एवं सनिधि के द्वारा प्रवृत्त होती है तथा पदो के द्वारा बोधित पदार्थो में जो सबन्ध है उसका बोध कराती है। तात्पर्य-

१०. आकाक्षा-योग्यता-सनिधिवशात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुः आपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति।– काव्यप्रकाश

११. तात्पर्याख्या वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकम्॥ —साहित्यदर्पण, (२।२०)

१२. "अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या प्रतिपादितानामर्थानाम् अन्वयः इति वदन्ति ये ते अभिहितान्वयवादिनः"। इस प्रकार इनका अन्वर्थक नामाभिधान है।

वृत्ति से बोधित होनेवाला यह अर्थ 'तात्पर्यार्थ' है एवं वाक्य इस 'तात्पर्यार्थ' का बोधक होता है (१३)।

अभिहितान्वयवाद के दो विशेष ध्यान में रखने चाहिए। इनके मत में पदो के द्वारा केवल जाति का बोध होता है। 'घट करोति' इस वाक्य में 'घटम्' पद के द्वारा यह घट या वह घट ऐसा बोध नही होता प्रत्युत घटत्व जाति का बोध होता है। 'करोति' पद के द्वारा भी सामान्य क्रिया का ही बोध होता है। तात्पर्यवृत्ति के द्वारा इन सामान्य अर्थों में सबन्ध बतलाया जाता है। दूसरी एक बात यह भी है कि तात्पर्य-वृत्ति पदार्थो मे सबन्ध दर्शाती है, पदो में पारस्परिक सबन्ध नही दर्शाती। 'घट' प्रकृति और 'अम्' प्रत्यय इन दोनो में आश्रयाश्रयिभावसबन्ध है। यह सबन्ध तात्पर्यवृत्ति से ज्ञात नही होता अपितु प्रकृति और प्रत्यय की समीपता से ही ध्यान में आता है (१४)।

वाक्यार्थबोध : अन्विताभिधानवाद

उपर्युक्त मत के ठीक विपरीत अर्थ प्राभाकर मीमासको का है। वे तात्पर्य-वृत्ति को स्वीकार नही करते। उनका कथन इस प्रकार है—हमारे ध्यान में शब्दो का अर्थ आता है तो स्वतत्र रूप से नही आता, अतएव पहले पदार्थो का स्वतंत्र रूप में बोध तथा उसके अनन्तर उन पदार्थो में परस्पर अन्वय समझने के लिए तात्पर्यवृत्ति ऐसी प्रक्रिया मानना ठीक नही। हम पदार्थो का जो अर्थ समझते है वह अन्वित दशा में ही समझते हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे वृद्धव्यवहार के अनुभव का उदाहरण उपस्थित करते है! कोई वृद्ध किसी युवक से कहता है कि 'बैल को ले आओ'। वृद्ध का यह कहना बालक भी सुनता है। साथ ही वह बालक देखता है कि वह युवक किसी विशिष्ट रूप वाले प्राणी को ला रहा है। इस बात को देख कर बालक मन मे यह समझता है कि वृद्ध के कहने का अर्थ वह बैल को लाने की क्रिया है। कुछ समय के बाद वृद्ध कहता है, 'बैल को ले जाओ, घोड़े को ले आओ।' इन वाक्यों को भी वह बालक सुनता है एव इन वाक्यो के अनुसार होनेवाली क्रियाएँ भी उस बालक के

---

१३. अभिधाया एकैकपदार्थबोधनाविरमात् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः। तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। तद्बोधक च वाक्यम्। इति अभिहितान्वयवादिना मतम्।— साहित्यदर्पण, २।२० वृत्ति

१४. कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी तात्पर्यवादी हैं। उन्होंने अपने मत के लिए 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' (१–१–२५) इस मीमांसासूत्र के शाबरभाष्यपर आधारित है।

समक्ष होती रहती हैं। वाक्य वाक्य का एक एक क्रिया रूप सबन्ध उसे इस प्रकार ज्ञात होता रहता है और उसीसे उसे बैल, घोडा आदि पदार्थों का भी ज्ञान होता रहता है। किन्तु यह ज्ञान अथवा पदार्थबोध उसे केवल सामान्य रूप में होता है यह बात नही तो वह किसी क्रिया से सबन्धित या अन्वित दशा में ही होता है। अब बात यह है कि किसीको भी किसी क्रिया में प्रवृत्त करना हो या उससे निवृत्त करना हो तो वाक्य का ही प्रयोग करना पड़ता है। केवल शब्दों से या पदो से वह प्रवृत्ति या निवृत्ति नही होती। अतएव शब्दो का अर्थ जो हम समझते है वह स्वतत्र रूप में शब्दो के द्वारा न समझ कर, वाक्य में उनका जो प्रयोग एव सबन्ध है उसीके द्वारा समझते हैं। इसी लिये प्रभाकर का कथन है कि पदार्थबोध अन्वित अवस्था में ही होता है। पहले पदार्थ समझ कर बाद में उसका अन्वय ज्ञात होता है, ऐसी बात नही। अतएव अन्वयबोध के लिए तात्पर्यवृत्ति मानने का भी कोई कारण नही है (१५)। इन मीमासकों को अन्विताभिधानवादी कहते है क्योकि इनका मत है वाक्य में अन्वित पदार्थों का ही शब्दों के द्वारा अभिधान होता है (१६)।

इन दोनों मतों का समुच्चय

'अभिधावृत्तिमातृका' में मुकुल भट्ट ने एव 'शब्दव्यापारविचार' में मम्मट ने इन दोनों मतो का समन्वय किया है और उसे 'तत्समुच्चय' कहा है। इस समुच्चय का स्वरूप इस प्रकार है–'पदों का अपना अपना सामान्यभूत वाच्य अर्थ होता है। किन्तु वाक्यों में पदार्थ परस्परान्वित ही होते हैं। इस प्रकार केवल पदों की अपेक्षा से अभिहितान्वयवाद उपपन्न होता है, तो वाक्य की अपेक्षा से अन्विताभिधानवाद उपपन्न होता है (१७)।

वाक्यार्थबोध : अखण्डार्थवाद

वाक्यबोध के विषय में वेदान्तियों की अपनी अलग उपपत्ति है। वेदान्त में महावाक्य परब्रह्म का बोध कराते है। 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीय

---

१५. काव्यप्रकाश, पंचमोल्लास

१६. आन्वितस्य अर्थान्तरसंबद्धस्य अर्थस्य आभिधानं प्रतिपादनं शब्देन क्रियते इति ये वदन्ति ते अन्विताभिधानवादिनः ।

१७. अन्येषा मते तु पदाना तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थः। वाक्यस्य तु परस्परान्विताः पदार्थाः। इति पदापेक्षया अभिहितान्वय', वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम्। एवं च तयोः अभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चयः इति।—अभिधावृत्तिमातृका

ब्रह्म,' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति वाक्यो से उत्पन्न अखण्ड बुद्धि के द्वारा इन वाक्यो का परब्रह्मात्मक अर्थ ज्ञात होता है (१८)। अखण्ड बुद्धि का अर्थ है अखण्ड ज्ञान। वह अखण्ड ज्ञान अखण्ड वाक्य से ही निर्माण होता है। वास्तव में वाक्य ही अर्थ का बोधक है। वाक्य के पद, वर्ण, आदि विभाग कल्पना मात्र है (१९)।

अखडार्थ बोध का स्वरूप सक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है। 'गाम् आनय'। इस वाक्य में 'गाम्' तथा 'आनय' इन पदो के अर्थ स्वतत्र रूप मे उपस्थित होने पर आकाक्षा, योग्यता एव सनिधि के कारण जो वाक्यार्थ ध्यान में आता है उसीको वेदान्त में 'ससर्ग' कहा है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यो का अर्थ करने में इस संसर्ग का कोई उपयोग नही। 'नीलं महत् सुगन्धि उत्पलम्'। इस वाक्य का अर्थ है नीलत्वादि विशिष्ट उत्पल का बोध। इस प्रकार के वाक्य से विशिष्ट पदार्थ का बोध होता है। किन्तु श्रुतिगत महावाक्यो के सबन्ध में यह प्रकार नही होता। श्रुतिगत महावाक्यो का अर्थ अखण्डैकरस अर्थात् स्वगतादिभेदशून्य लेना पड़ता है। इस सबन्ध में आचार्य वाक्यवृत्ति में कहते है·

ससर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र समत· ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषा मत ॥

इस अखण्डैकरसवृत्ति में स्वतत्र पदों के या उनके अन्वय के (अभिहितान्वयवाद) अथवा विशिष्ट पदार्थों के (अन्विताभिधानवाद) अस्तित्व का या स्वतत्र सत्ता का वास्तव में भान ही नही होता है। अखण्डैकरसत्व ही ब्रह्मानुभाव का स्वरूप होने से, संसर्ग अथवा विशिष्ट वृत्ति के लिए जिन स्वगतादि भेदों को स्वीकार करना पड़ता है वे कल्पित ही होते है अतएव तद्बोधक पद भी कल्पित ही होते है। जिस प्रकार पदो की दृष्टि से वर्णो की अनित्यता होती है उसी प्रकार वाक्यों की दृष्टि से पदो की अनित्यता होती है।

वेदान्तियो के इस अखण्डार्थबोध को स्फोटवादी वैय्याकरणों ने स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्य स्फोट ही वास्तव में वाक्यार्थ है और वही

---

१८. अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम् ।
एकं वेदान्तनिष्णाताः तमखण्डं प्रपेदिरे ॥

१९. "अनवयवमेव वाक्यं अनाद्यविद्योपदर्शितालीकपदवर्णाविभागम् अस्याः निमित्तम् ।" इस प्रकार श्री व्यासजी ने कहा है।

सत्य भी है। ऐसे वाक्य का व्याकरण में जो पदपदार्थविभाग या प्रकृतिप्रत्यय विभाग किया जाता है वह व्युत्पत्तिदशातक ही सीमित है और कल्पना मात्र है। भर्तृहरि 'वाक्यपदीय' में कहते है

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युर्निरर्थका ।।

ब्राह्मणकबल का अर्थ है ब्राह्मण के लिए लाया हुआ कम्बल। इस शब्द का उच्चारण करते ही हमारे समक्ष कबल उपस्थित होता है। किन्तु कम्बल के साथ साथ ब्राह्मण उपस्थित नही होता। इस समय ब्राह्मण सबन्ध विशिष्ट कम्बल इस प्रकार का हमारा अखण्ड प्रत्यय होता है। इसी प्रकार 'देवदत्त गच्छति' इस वाक्य से देवदत्त सबन्धी गमन की अखण्ड प्रतीति हमें होती है। यह देवदत्त, यह उसका गमन और यह इन दोनो का सबन्ध ऐसी हमारी प्रतीति नही होती। इस अखण्ड प्रतीति का जब हम विश्लेषण करते है तब हम पद-प्रकृति-प्रत्यय आदि की–जिनकी वास्तव में स्वतत्र सत्ता नही है–कल्पना करने है, और शिष्यो को उस अखण्ड प्रत्यय का स्वरूप समझाते है। भर्तृहरि कहते है

उपाया. शिक्ष्यमाणाना बालानामुपलालना.।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत. सत्य समीहते ।।

जिस प्रकार स्वय को भासमान द्वैत में से मार्गक्रमण करता हुआ साधक अन्तिम एकता का बोध कर लेता है, उसी प्रकार पद-प्रकृति-प्रत्यय के काल्पनिक मार्ग से जाते हुए ही विद्यार्थी को अन्ततोगत्वा वाग्ब्रह्म का आकलन होता है। अखण्ड स्फोट ही शब्द ब्रह्म है एव व्याकरण में वर्णित विविध प्रक्रिया ही अविद्या का विश्लेषण है। (शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।)

यहाँ अखण्डबुद्धि क्या है यह बताना आवश्यक है। वाक्य का अर्थ करने में क्रियाकारक भाव पर ध्यान दे कर जो हमें भान होता है वह खण्डबुद्धि है। किन्तु क्रियाकारकों का दर्शक विभाग न करते हुए भी जो एकात्मक वाक्यार्थ बोध होता है वह है अखण्डबुद्धि। क्रियाकारक भाव के लिए धर्मधर्मिभाव की अपेक्षा होती है। यह धर्मधर्मि भाव ब्रह्म में उत्पन्न नहीं होता। अतएव अर्थबोध विना अखण्ड-बुद्धि के नही होता। किन्तु इस पर भी अविद्यादशा (व्यवहार दशा) में वेदान्ती एव स्फोटवादियो को पदपदार्थभेद मानना पडता ही है।

वाक्यार्थबोध के सबन्ध में जो भिन्न भिन्न मत ऊपर दिये गये है उनका साहित्य-चर्चा में अनेकश सबन्ध आया है। इन मतो के अनुसार हमारे ज्ञान के क्षेत्र में लक्षणा का स्थान क्या और कैसा है, इन मतो के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति का स्वीकार किया जा सकता है या नही एव व्यञ्जनावृत्ति का स्वीकार करने पर इन मतो को काव्य चर्चा में कहाँ तक स्थान रहता है आदि प्रश्न साहित्यशास्त्र में उपस्थित हुए है। इनकी विवेचना यथा स्थान की जाएगी। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि रसानुभव अखण्ड प्रतीति रूप होने पर भी इस अनुभव विश्लेषण करने में साहित्यशास्त्र ने अनेकश· अभिहितान्वयवाद का उपयोग किया है।

तात्पर्यवृत्ति और उसके प्रसग से वाक्यार्थबोध के विषय में भिन्न भिन्न मतो का निदर्शन किया । अब शब्दो की अन्य वृत्तियो के सबन्ध में अगले अध्याय में विवेचना करेंगे।

● ● ●

(१) **मुख्यार्थबाध** : यहाँ 'बाध' शब्द का अर्थ 'अनुपपत्ति' या 'प्रमाण पराहतत्व' है। वाक्य का अर्थ करते हुए, जब कोई शब्द मुख्यार्थ में लेने से अनुपपन्न हो जाता है तभी लक्षणा का आश्रय करना आवश्यक हो जाता है। अनुपपत्ति है तात्पर्य की अनुपपत्ति। दीपिका में कहा है—'तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्।', 'गगाया घोष.' या 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इन वाक्यो में जो अर्थ का बाध है वह है दो शब्दों के मुख्यार्थ **का बाध।** इस बाध को हटाने के लिए हम 'गगा=गंगातीर' एवम् 'काक=काक आदि' इस प्रकार अर्थ करते है। मुख्यार्थ की अनुपपत्ति यदि न हुई होती तो लक्षणा का आश्रय करने की आवश्यकता ही न होती। इस प्रकार की अनुपपत्ति कभी कभी वक्ता का तात्पर्य एवम् उसके प्रयुक्त शब्दों का मुख्यार्थ इन दोनों में भी हो सकती है। उदा अपने विश्वासघाती मित्र से कवि कहता है—"मित्र, क्या बताऊँ। तुम्हारे उपकार तो बडे भारी हुए। तुम्हारी सुजनता भी सर्व प्रसिद्ध हो गयी। ऐसे ही काम करते हुए तुम शतायु होकर सुख से रहो!" (१) यहाँ कवि का उद्देश्य यदि ध्यान में न रखा तो मुख्यार्थ का बाध नही होता, क्योकि यहाँ वाक्य का अर्थ करने में कोई आपत्ति नही है। किन्तु, कवि के उद्देश्य की ओर ध्यान दिया जाय तो इस उद्देश्य का मुख्यार्थ से विरोध आता है। इस प्रकार वक्ता का उद्देश्य एवम् मुख्यार्थ दोनों में 'योग्यताविरह' होने से उपकार=अपकार, सुजनता=दुर्जनता ऐसे विपरीत अर्थ लेना आवश्यक हो जाता है। इसीको विपरीत लक्षणा कहा जाता है। साराश, मुख्यार्थबाध जिस प्रकार दो शब्दार्थों की अनुपपत्ति के कारण हो सकता है उसी प्रकार वह शब्दार्थ तथा वक्ता का उद्देश्य (वक्तृतात्पर्य) इन दोनो में विरोध आ जाने से भी हो सकता है।

(२) **मुख्यार्थयोग** : मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर हम भिन्न अर्थ लेते है। किन्तु इसमें हम मन चाहा अर्थ नही ले सकते। वह अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न होने पर भी उससे सबन्धित ही होना चाहिये। इसीको तद्योग = मुख्यार्थयोग कहते है। मुख्यार्थयोग के पाँच भेद मुकुलभट्ट ने बताए है।

अभिधेयेन संबंधात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता॥ (२)

इनके उदाहरण इस प्रकार हो सकते है।

(१) गगाया घोष.—यहाँ मुख्यार्थ से (गंगाप्रवाह से) लक्ष्यार्थ का (गगातीर का) सामीप्यसबन्ध है,

---

१. उपकृतं बहु नाम किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व तत शरदां शतम्॥

२. कहा जाता है कि यह कारिका मूलत. भर्तृमित्र की है। मुकुल ने 'अभिधावृत्तिमातृका' में, मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' में तथा माणिक्यचंद्र ने 'संकेतटीका' में इसे उद्धृत किया है।

(२) 'सिंहो बटु' में सादृश्य संबन्ध है,

(३) समवाय=साहचर्य, 'कुन्ता प्रविशन्ति'। इस वाक्य में समवाय सबन्ध है।

(४) पूर्व दिये हुए उपकृत·बहु नाम आदि में विपरीत सबन्ध है।

(५) क्रियायोग अर्थात् क्रिया के कारण आया हुआ सबन्ध। 'महति समरे शत्रुघ्न त्वम्'—'युद्ध में आप शत्रुघ्न है।' यहाँ शत्रुघ्न की सज्ञा मुख्यार्थ से जो शत्रुघ्न नही है ऐसे राजा को दी गयी है, शत्रुहनन क्रिया इस का कारण है।

(३) **रूढ़ि और प्रयोजन**. मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ भिन्न है। यह लक्ष्यार्थ या तो रूढि से अर्थात् लोकप्रसिद्धि से प्राप्त होना चाहिये या उसकी पृष्ठभूमि में वक्ता का कुछ विशेष उद्देश्य (प्रयोजन) होना चाहिये। लक्षणा की यह शर्त बडा महत्त्व रखती है। 'मुख्यार्थ' शब्द का स्वाभाविक एवम् सरलता से प्रतीत होनेवाला अर्थ होता है। लक्षणा इस स्वाभाविक अर्थ को त्याग देती है। एक दृष्टि से 'लक्ष्यार्थ' शब्द का अस्वाभाविक अर्थ होता है। अतएव, शास्त्रीय वाङमय में जहाँतक हो सके, लक्षणा का प्रयोग टाला जाता है। कुमारिल कहते है कि अन्य कोई मार्ग ही न हो तभी लक्षणा का आश्रय (अगत्या लक्षणावृत्ति) करना चाहिये। अर्थ यह है कि इस प्रकार अस्वाभाविक अर्थ करने के लिए कुछ न कुछ आधार तो होना चाहिये या तो इस प्रकार अर्थ करने की रूढ़ि चाहिये या वह प्रयोजन श्रोता के ध्यान में सरलता से आना चाहिये। इस दृष्टि से लक्षणा के 'रूढ लक्षणा' और 'प्रयोजनवती लक्षणा' इस प्रकार दो भेद होते है।

रूढ लक्षणा की पृष्ठभूमि में आरंभ में प्रयोजन था ही

मम्मट ने रूढ लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशल.' दिया है। 'कुशल' शब्द का अर्थ हम 'चतुर' करते है। किन्तु यह इस शब्द का मुख्यार्थ नही है। 'कुशल' का अर्थ है 'कुश काटनेवाला'। सभव है कि कुश काटने के लिए बड़ी चतुरता की आवश्यकता होती थी और इस लिए मूलत· इस शब्द का 'चतुर' के अर्थ में लक्षणा से प्रयोग होना आरभ हुआ हो। और 'दर्भ काटनेवाला जिस प्रकार चतुर होता है उस प्रकार जो चतुर है' ऐसा बोध इस शब्द से होने लगा हो। किन्तु आगे चलकर वही शब्द चतुर के अर्थ में रूढ हो गया।

वास्तविक यही दीखता है कि आज जो लक्षणाएँ रूढ कही जाती है वे किसी समय प्रयोजनवती थी। (मराठी में) 'ताराबळ' शब्द इस का अच्छा उदाहरण है। 'ताराबलम्' शब्द का त्वरासे उच्चारण करते हुए किसी ने 'ताराबलम्' उच्चारण किया होगा। प्रारभ में चिढाने के लिए 'ताराबळ' शब्द का 'बोलने में त्वरा करने' के अर्थ में लोक में प्रयोग होने लगा हो। जबतक यह प्रयोजन नया

था तबतक तारावळ = तारावलम् का दोषयुक्त उच्चारण एव त्वरा के ये दो भिन्न किन्तु विशिष्ट घटना से सवन्धित अर्थ ज्ञात होते थे। किन्तु आज हम उस प्रयोजन को भूल चुके है और 'तारावळ' शब्द (अनुचित) त्वरा के अर्थ में रूढ़ हुआ है। 'देवाना प्रिय इति मूर्खे' यह वार्तिक भी इसी बात का द्योतक है कि इस प्रयोग में आरभ मे प्रयोजन था और बाद में रूढि आयी है।

रूढ लक्षणा के इस स्वरूप को देखने से एक बात सहज ही ध्यान में आ जाती है, वह यह कि जब तक इन अर्थो की पृष्ठभूमि में प्रयोजन था तब तक ये अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न थे। किन्तु इनका आधारभूत प्रयोजन नष्ट होते ही किसी समय जो लक्ष्यार्थ थे अब उन शब्दो के मुख्यार्थ बन गये है। अत एव हेमचन्द्र रूढ लक्षणा को स्वीकार करना नही चाहते। उनका कथन है कि, "कुशल, द्विरेफ, द्विक आदि शब्दों के अर्थ अब साक्षात् सकेत के ही विषय वन गये है। इस लिए वे उन शब्दो के मुख्यार्थ ही है। और इसी कारण से रूढि लक्ष्यार्थ का हेतु बन ही नही सकती (३)। विश्वनाथ भी कुशल आदि शब्दो के सबन्ध में यही कहते है, किन्तु वे हेमचन्द्र के समान रूढलक्षणा को वर्जित नहीं करते। 'कलिङ्ग- साहसिक' इस प्रकार वे रूढलक्षणा का उदाहरण देते है। माणिक्यचन्द्र रूढलक्षणा को 'भ्रष्टोपचार प्रतीति' कहते है किन्तु उनका यह कहना किसी समय सादृश्य पर आधारित परन्तु सप्रति प्रयोजन विरहित बने हुए, और इसीलिए रूढ बने हुए लक्षणा के विषय में ही यथार्थ है।

हेमचन्द्र और विश्वनाथ द्वारा मम्मट की की गयी यह आलोचना ठीक ही है। भूतकाल में ये शब्द लक्षणा मे भलेही प्रयुक्त होते हो, आज तो उनके वे अर्थ रूढ़ हो गये है। इस लिए उनकी पृष्ठभूमि मे वृत्ति भी अभिधाही (अभिधा का 'रूढि' नामक भेद) है, न कि लक्षणा। इन उदाहरणो में लक्षणा को मानना ही हो तो केवल व्युत्पत्ति के आधारपर मानना होगा, और ऐसा करने से लावण्य, मण्डप, तैल आदि शब्दो के रूढ अर्थो को भी लक्ष्यार्थ ही मानना पडेगा। इस से अभिधा के 'रूढि' नामक भेद का क्षेत्र तो नष्ट हो जायगा ही, किन्तु इससे और, लोकव्यवहार की मर्यादा का भग भी होगा। शब्द का अर्थ किस प्रकार का है यह देखने में व्युत्पत्ति की अपेक्षा लोकप्रवृत्ति को मानना ही अधिक श्रेयस्कर है। इस सवन्ध में विश्वनाथ ने कहा है—
'अन्यद्धि शब्दाना व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्।' (४)

३ कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्संकेतविषयत्वात् मुख्या एव, इति न रूढिरस्माभिर्हेतुत्वेनोक्ता।– काव्यानुशासन।

४. निरूढलक्षणा और अंग्रेजी की Dead Metaphor में तुलना करना बडा रंजक होगा। दोनों का मूल एक ही है। गौणीसारोपालक्षणा की उपचारप्रतीति नष्ट होने से वह निरूढलक्षणा होती है और Metaphor का आधारभूत प्रयोजन नष्ट होने से वह Dead Metaphor होती है।

लक्षणा सान्तरार्थनिष्ठ व्यापार है

लक्षणा आरोपित क्रिया है। इस विषय में मम्मट कहते है—"मुख्येन अमुख्य अर्थ लक्ष्यते यत् स आरोपित. शब्दव्यापार सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।" अमुख्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) मुख्यार्थ के द्वारा लक्षित होता है। इस अर्थ को लक्षित करने वाला व्यापार लक्षणा है। अर्थ यह है कि 'लक्षणावृत्ति' वास्तव मे मुख्यार्थ की वृत्ति है, गौणत्व से वह शब्द की मानी गयी है। 'अभिधा' शब्द की साक्षात् वृत्ति है। 'लक्षणा' मुख्यार्थ की साक्षात् वृत्ति है और मुख्यार्थ के प्रसग से वह शब्द की वृत्ति है। इस प्रकार वाच्यार्थ की यह वृत्ति शब्द पर आरोपित हुई है। (आरोपिता क्रिया)। इस पर प्रदीपकार कहते है– "गगायां घोष' इस वाक्य में गगा शब्द से गगाप्रवाह का अर्थ उपस्थित होता है; और जब देखा जाता है कि यह अर्थ बाधित होता है तब उस प्रवाह से सबद्ध होने के कारण 'तीर' का अर्थ उपस्थित होता है। शब्द→मुख्यार्थ→लक्ष्यार्थ इस प्रकार शब्द का लक्ष्यार्थ से मुख्यार्थ के द्वारा सबन्ध होता है। मुख्यार्थ इस प्रकार मध्यगत है इसलिए लक्षणाव्यापार शब्दपर आरोपित होता है। वास्तव में लक्षणाव्यापार अर्थनिष्ठ ही है (५)।" 'साहित्य कौमुदी' में भी कहा है—"सा लक्षणा नाम क्रिया वृत्ति **अर्थनिष्ठाऽपि अर्पिता शब्दे।"**

अतएव मम्मट 'आरोपित' का अर्थ 'सान्तरार्थनिष्ठ' करते है। शब्द और लक्षणाव्यापार में साक्षात् सवन्ध नही है। वह वाच्यार्थ से व्यवहित है। अतएव नागेश ने सान्तरार्थनिष्ठ' का अर्थ 'साक्षात् अर्थनिष्ठ परम्परया शब्दनिष्ठ।' इस प्रकार किया है। विश्वनाथ ने 'आरोपिता' शब्द के स्थान में 'अर्पिता' शब्द का प्रयोग करते हुए 'स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा" इस प्रकार उसका अर्थ किया है। इससे अभिधा और लक्षणा में भेद विस्पष्ट हो जाता है। अभिधा शब्द की स्वाभाविक शक्ति है; लक्षणा स्वाभाविक शक्ति नही है। यदि यह माना कि अभिधा ईश्वरनिर्मित है तो लक्षणा अपनी इच्छा से निर्मित है। अभिधा निरन्तरार्थ-निष्ठ क्रिया है तो लक्षणा सान्तरार्थनिष्ठ क्रिया है। शब्द का अभिधा से साक्षात् संबध है। तो लक्षणा का शब्द से परपरा के द्वारा सबध बताया गया है। अभिधा की पृष्ठभूमि में प्रयोजन नही है, प्रत्युत प्रयोजन के बिना लक्षणा का प्रयोग नही हो सकता (रूढ लक्षणा में भी आरभ में प्रयोजन था ही)। इन सब वातो की ओर ध्यान देने से विस्पष्ट होता है कि लक्षणा मूलतः प्रयोजनवती है।

---

५. गंगादिशब्दाना नीरादिकमुपस्थाय विरामे, नीराद्यर्थेनैव संबंधेन तीराद्यर्थप्रतिपादनात् इत्याह–आरोपिता क्रिया इति। शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयत्वात् शब्दे आरोपित एव स व्यापारः। वस्तुतः अर्थनिष्ठ एव इत्यर्थः।

प्रयोग करता है और इससे पाठक विरसता का अनुभव करता है। उदाहरण के लिए माघ कवि का निम्न पद्य देखिये—

मध्येसमुद्रं ककुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा।
तुरगकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्वा जलमुल्ललास॥ (माघ ३।३३)

"सुवर्ण के परकोटे की आभा चारो दिशाओ मे स्फुरित होने से द्वारका नगरी ऐसी लगती थी कि जैसे समुद्र के जल से ऊपर लिपटी हुई वडवानल की ज्वाला हो।" इसमें कोई सदेह नही कि माघ की यह उत्प्रेक्षा बहुत ही सुदर है। किन्तु 'वडवानल की ज्वाला' का अर्थ कवि 'तुरगकान्तामुखहव्यवाहज्वाला' इस शब्द से बता रहा है (८)। लक्षणा का इस प्रकार का प्रयोग लोकव्यवहार के विरुद्ध है। इससे कल्पना अच्छी होने पर भी विरसता का अनुभव होता है। लक्षणा का इस प्रकार प्रयोग करना एक महान् दोष है।

लक्षणा के भेद

आलकारिको ने लक्षणा के भेद बता कर उनमें से प्रत्येक का प्रयोजन बताया है। मुकुल, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि पडितो ने अपने अपने विचार के अनुसार लक्षणा के भेद बताए हैं। यहाँ उनका विवेचन तो नही किया जा सकता। किन्तु उनके प्रयोजन का सबन्ध व्यजनाविचार में आता है इस लिए उनका स्वरूप देखना आवश्यक है। 'काव्यप्रकाश' से स्पष्ट होने वाले लक्षणा भेद इस प्रकार बताये जा सकते हैं—

८. तुरंग = वडव – की कांता – वडवा; हव्यवाह = अग्नि अतएव अर्थ – वडवाग्नि।
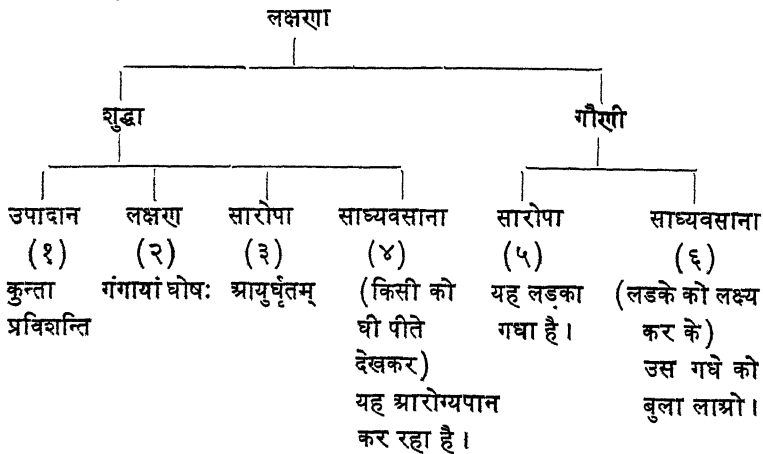
अभिधेयसबन्ध, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियायोग इस प्रकार तद्योग के पाँच भेद पूर्व बताये गये है उनके हम दो भाग करे (१) सादृश्य सबन्ध पर आधारित लक्षणा-यह गौणी लक्षणा है; (२) अन्य चार सवन्धो पर आधारित लक्षणा—यह शुद्धा लक्षणा है। मम्मट का कहना है कि गौणी लक्षणा उपचारमिश्र होती है। उपचार शब्द से यहाँ दो भिन्न पदार्थो में अभिन्नता अपेक्षित है जो सादृश्यसबन्धपर आधारित है (९)। उपचार शब्द का यह सीमित अर्थ है। व्यापक अर्थ में उपचार शब्द लक्षणा का ही वाचक है (१०)। सादृश्योपचार के दो भेद देखे जाते है–आरोप और अध्यवसान। इन भेदो के अनुसार लक्षणा के दो भेद होते है—'सारोपा गौणी लक्षणा' और 'साध्यवसाना गौणी लक्षणा'। रूपक में मूलत गौणी सारोपा लक्षणा होती है और अतिशयोक्ति का मूल गौणी साध्यवसाना लक्षणा है। सादृश्य के अतिरिक्त, उपचार के अन्य भेदो में भी आरोप और अध्यवसान देखे जाते है। उदाहरणस्वरूप—

अविरलकमलविकास· सकलालिमदश्च कोकिलानन्द ।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकर· काल ।

"यह रमणीय समय (वसन्त) जो कि कमल का मानो विकास है, भ्रमरो का मद है तथा कोकिल का आनद है सारे जगत् को उत्कण्ठित करता हुआ आ रहा है।" वसत कमल-विकास का हेतु है, कमल-विकास वसत का कार्य है, किन्तु यहाँ हेतुपर ही कार्य का उपचार किया गया है एव वसत को ही कमलविकास कहा है। यह शुद्धा साध्यवसानमूला लक्षणा है। यह लक्षणा 'हेतु' अलकार का मूल है। 'आयुर्घृतम्' आदि में, या भगवान् श्रीकृष्ण के वर्णन के सबन्ध में 'मल्लानामशनिर्नृणा नृपवर: स्त्रीणा स्मरो मूर्तिमान्' आदि भागवतवचन में भी सादृश्येतर सबन्ध पर आधारित उपचार ही है। यह शुद्ध सारोपा लक्षणा है। यह लक्षणा कार्यकारणमूला अतिशयोक्ति का मूल है। उपादान लक्षणा में शब्द का लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ से अपेक्षाकृत अधिक समावेशक होता है। "कुन्ता (कुन्त–भाला) प्रविशन्ति" कुन्त का भाला यह मुख्यार्थ व्यापक हुआ है और उससे कुन्तधारी पुरुष का बोध होता है। इसीको मम्मट 'स्वसिद्धये पराक्षेप.' कहते है। लक्षणलक्षणा में मुख्यार्थ का त्याग होता है एव अन्य अर्थ उससे मिल जाता है। उदाहरण के लिए—

रविसक्रान्तसौभाग्य: तुषारावृतमण्डल.।
निश्वासान्ध इवादर्श· चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

९. उपचारो नाम अत्यन्त विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्।
—विश्वनाथ

१० उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा – अभिनवगुप्त, अतच्छब्दस्य तच्छब्देनाभिधानमुपचारः।
—न्यायवार्तिक

रामायण के इस पद्य में आदर्श = दर्पण को ' निश्वासान्ध—निश्वास से अन्ध हुआ ' कहा है। अन्ध शब्द का मुख्यार्थ 'नष्टदृष्टि' है। परन्तु इस अर्थ का त्याग करके यहाँ 'पदार्थों को स्पष्ट रूप से प्रतिबिबित न करने वाला' इस प्रकार अर्थ लेना पडता है। इसीको मम्मट 'परार्थे स्वसमर्पणम्' कहते है। उपादानलक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा, ध्वनि के क्रमश. 'अर्थान्तरसक्रमित' तथा 'अत्यन्ततिरस्कृत' भेदों के मूल है। पूर्व कथित पाँच भेदों से युक्त तद्योगसबन्ध के मुख्यार्थ पर क्या प्रभाव होते है यह मुकुलभट्ट ने समुच्चय से इस प्रकार बताया है—

सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्यातितिरस्क्रिया।
विवक्षा चाविवक्षा च सबधसमवाययो ॥
उपादाने विविक्षाथ लक्षणे त्ववविक्षणम्।
तिरस्क्रिया क्रियायोगे क्वचित् तद्विपरीतता॥

सादृश्य तथा वैंपरीत्यपर आधारित लक्षणा में वाच्यार्थ तिरस्कृत होता है। सबन्ध तथा समवाय में वाच्यार्थ की विवक्षा या अविवक्षा भी हो सकती है। उपादान लक्षणा में उसकी विवक्षा और लक्षणलक्षणा में उसकी अविवक्षा होती है। क्रियायोग में वाच्यार्थ तिरस्कृत तो होता ही है, और कभी कभी विपरीतार्थ भी लेना आवश्यक हो जाता है।

वाक्यार्थवाद और लक्षणा

नवें अध्याय में वाक्यार्थवादो का कुछ परिचय दिया गया है। वाक्यार्थवादो की दृष्टि से लक्षणा का स्थान कहाँ और किस प्रकार है यह अब देखें। अभिहितान्वय-वाद के अनुसार लक्षणा का क्षेत्र वाच्यार्थ के बाद आरभ होता है। पदों का अर्थ ज्ञात होने के बाद जब देखा जाता है कि आकांक्षा योग्यता आदि के द्वारा उन पदो में ठीक अन्वय सिद्ध नही होता तब हम लक्षणा का आश्रय करते है। परन्तु अन्विताभिधान-वादियो के मन्तव्य के अनुसार वाक्यार्थ के पहले ही लक्षणा आती है। उनकी दृष्टि से अन्वित शब्दो में ही वाच्यत्व होने के कारण वाक्य में शब्दो का प्रयोग लक्ष्यार्थ के सहित ही किया जाता है। समुच्चय पक्ष के अनुसार पदों की अपेक्षा से वाक्योत्तर एव वाक्य की अपेक्षा से वाच्यपूर्व लक्षणा प्रवृत्त होती है। अखण्डार्थवादियो के मत के अनुसार वास्तव में लक्षणा नाम की कोई चीज ही नही है। किन्तु जब वे पदपदार्थ विभाग की कल्पना करते है तब उनको लक्षणा की भी कल्पना करना आवश्यक हो जाता है (११)। प्रयोजनवती लक्षणा का क्षेत्र अभिहितान्वयवादियों के कथन

११. अन्वयेऽभिहितानां सा वाच्यत्वादूर्ध्वमिष्यते।
अन्विताना तु वाच्यत्वे वाच्यत्वस्य पुरः स्थिता॥
द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थपरमार्थतः।
नास्तसौ कल्पितेऽर्थे तु पूर्ववत् प्रविभज्यते॥— अभिधावृत्तिमातृका

से कुछ मिलता है। अन्विताभिधानवादियो के अनुसार केवल निरूढ लक्षणा की सत्ता हो सकती है, प्रयोजनवती लक्षणा का होना असभव है। विवेचक तथा समन्वय-मूलक इस प्रकार दोनो दृष्टियो से, उभयवादी लक्षणा,का विचार करते है। अखण्डार्थ-वादी लक्षणा को अपोद्धारबुद्धि के समय ही मानते है। वाक्यार्थवादियो के इन भिन्न मतो को देखने से तात्पर्य माननेवाले अन्विताभिधानवादियो के कितने निकट आलकारिक आ पहुँचते है यह स्पष्ट होगा। तात्पर्यवादियो की लक्षणा प्रयोजनवती है, प्रत्युत अन्विताभिधानवादियो की लक्षणा निरूढ है। आलकारिको का लक्षण विवेचन प्रयोजनवती लक्षणा का विवेचन है, निरूढ लक्षणा का नही। इस बात पर ध्यान देने से आलकारिक अभिहितान्वयवादियो के सम्बन्ध में आदर रखते है यह स्पष्ट होगा। इसका अर्थ यह नही कि अभिहितान्वयवादियो का सभी कथन उन्हे स्वीकार है। किन्तु मीमासकों में से अभिहितान्वयवादी उन्हे अवश्यही निकटवर्ती है। साहित्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनिवादियो के विरोध में तात्पर्यवाद पर बल देने वाले आलकारिको का भी एक वर्ग था इसका भी यहाँ अनुसन्धान रखना आवश्यक है।

वेदान्ती तथा स्फोटवादी वैयाकरण दोनो अखडार्थवादी है। लक्षणा को न मानते हुए भी वे काव्यगत शब्दव्यापार की उपपत्ति बताते है। नागेशभट्ट ने यह उपपत्ति इस प्रकार बतायी है—"महाभाष्य में वचन है— 'सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका.।' इस वचन की दृष्टि से देखा जायँ तो लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नही होती। इसके अतिरिक्त लक्षणा का स्वीकार करने में और भी कई दोष उत्पन्न होते है। यदि दो वृत्तियों को मान लिया तो उनमें भेद दर्शाने वाले दो अवच्छेदक भी मानना पड़ता ही है। इसमें गौरव दोष आ जाता है। और, दोनो वृत्तियो से जब इष्टार्थबोध हो रहा है तब एक वृत्ति को प्रधान मान कर दूसरी वृत्ति गौण बताना न्यायसगत नही है। अतएव लक्षणा का स्वीकार करने की कोई आवश्यकता ही नही। इस पर प्रश्न उठता है कि फिर 'गगाया घोष:' आदि वाक्य में 'गगा' पद से 'तीर' का अर्थ कैसे प्रतीत होता है? इस प्रश्न पर भाष्य का उत्तर है — "सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थ-वाचका:।" वास्तव में शब्द की अर्थबोधक शक्ति के दो भेद दिखायी देते है। एक है प्रसिद्ध शक्ति और दूसरी है अप्रसिद्ध शक्ति। जिसके द्वारा शब्द से बाल और मूढ को लेकर सभी को अर्थबोध होता है, वह है शब्द की प्रसिद्ध शक्ति, और जिसके द्वारा शब्द से केवल सहृदय को ही अर्थ का बोध होता है वह है शब्द की अप्रसिद्ध शक्ति। गगा शब्द से प्रवाह का बोध तो सभी को होता है। यहाँ गगा शब्द की प्रसिद्ध शक्ति कार्य करती है और गंगा शब्द से, विशिष्ट प्रसग में सहृदयों को 'तीर' का बोध

होता है तब गंगा शब्द की अप्रसिद्ध शक्ति प्रवृत्त होती है, ऐसा मानने से किसी प्रकार की अनुपपत्ति नही होती (१२)।"

नागेशभट्ट की इस विवेचना से एक बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी प्रसिद्ध शक्ति है अभिधा और अप्रसिद्धशक्ति है व्यजना। लक्षणाभेदो में से निरूढ लक्षणा में प्रसिद्ध शक्ति ही है, इस लिए वह तो अभिधा के ही अन्तर्गत हो जाती है। प्रयोजनवती लक्षणा मे प्रयोजन व्यग्य होता है और वह केवल सहृदयहृदयग्राह्य होता है। अत एव प्रयोजनवती लक्षणा व्यजना में अन्तर्भूत होती है। इससे लक्षणा का स्वतन्त्र एव निरपेक्ष स्थान ही नही रहता।

किन्तु इससे यह मानना उचित नही होगा कि लक्षणा विवेचन को शब्दबोध मे या साहित्यशास्त्र में कोई महत्त्व ही नही रहता। साहित्यचर्चा के विकास में लक्षणा का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लक्षणा वक्रोक्ति का मूल है इस बात को सर्वप्रथम उद्भट ने जाना और बताया कि काव्य में अमुख्य वृत्ति का ही प्रयोग होता है। समूचा अलकार वर्ग लक्षणा या विलास है। ध्वनिकार का मत प्रसृत होने से पहले सम्पूर्ण काव्यतत्त्व का विवेचन लक्षणा कोटि मे ही होता था। इतना ही केवल नही, साहित्य के पडितो का एक वर्ग ऐसा भी था जो कि ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में करता था। यह तो ठीक है कि काव्य का पर्यवसान व्यग्य ही है, किन्तु व्यग्यरूप प्रयोजन स्पष्ट रूप से आकलन होने के लिए लक्षणास्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। इसके बिना काव्यगत अलकारों का रसोपकारित्व समझना असभव है। 'व्यग्य' लक्षणा का फल है, लक्षणा कतिपय व्यग्य भेदो का साधन है। काव्यगत शब्दबध की तुलना यदि सूक्ष्मदर्शक यत्र से की गयी तो यह कहना उचित होगा कि, उस यत्र में देखना ही व्यग्यार्थ को देखना है, और उस यत्र की रचना को देखना ही लक्ष्यार्थ का विवेचन है।

लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन व्यंग्य होता है

साहित्यशास्त्र में जो लक्षणाविवेचन पाया जाता है वह प्रयोजनवती लक्षणा का है, निरूढ लक्षणा का नही। लक्षणा का प्रयोजन किस प्रकार का होता है? मम्मट का कथन है कि लक्षणा का प्रयोजन व्यग्य अर्थात् ध्वनि है। लक्षणा की पृष्ठभूमि

१२. 'सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका.'—इति भाष्यात् लक्षणाया अभावात्। वृत्तिद्वयावच्छेदकद्वयकल्पने गौरवात्। जघन्यवृत्तिकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च। कथं तर्हि गंगादिपदात् तीरप्रत्ययः। भ्रान्तोऽसि। "सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका:" इति भाष्यमेव गृहाणो तथाहि—शक्तिर्द्विविधा प्रसिद्धा, अप्रसिद्धा च। आमढबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम्, सहृदयहृदयमात्रवेद्यात्वमप्रसिद्धात्वम्। तत्र गंगादिपदानां प्रवाहादौ प्रसिद्धा शक्तिः तीरादौ च अप्रसिद्धा इति किमनुपपन्नम्?— परमलघुमंजूषा पृ. १९

में व्यग्य न हो अर्थात् उसका आधारभूत प्रयोजन नष्ट हुआ हो, तो वह निरूढ लक्षणा होती है और अभिधा के क्षेत्र में जाती है। प्रयोजनवती लक्षणा व्यग्यसहित ही होती है (व्यग्येन रहिता रूढौ, सहिता तु प्रयोजने। का प्र)। लक्षणा का यह आधारभूत प्रयोजन गूढ अर्थात् सहृदयहृदयग्राह्य हो सकता है या अगूढ अर्थात् ऐसा भी हो सकता है कि वह किसीके भी ध्यान मे आसानी से आ सके (तच्च गूढमगूढ वा)। अतएव प्रयोजन कि दृष्टि से लक्षणा का विभाग इस प्रकार हो सकता है—

लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन का अर्थात् व्यग्य का गूढत्व और अगूढत्व मम्मट ने निम्न उदाहरणो से विशद किया है—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥

"सम्पत्ति का परिचय हो तो जडबुद्धि भी विदग्धचरित का अनुकरण कर सकते है। यौवन का मद ही तो कामिनी स्त्रियो को विलास की शिक्षा देता है।"—यहाँ 'उपदिशति' (शिक्षा देता है)— शब्द का लक्ष्यार्थ में प्रयोग है। यौवन के उदय होते ही कामिनी स्त्रियो में विलास आप ही आप जाते है, उनके लिए किसी खास परिश्रम की आवश्यकता नही होती, यह है इस लक्षणा में आधारभूत व्यग्य। वाच्यार्थ पाठक के लिए जितना स्पष्ट होता है उतना ही यह व्यग्य ही स्पष्ट है। यह अगूढ व्यग्य है। गूढ व्यग्य का उदाहरण इस प्रकार है—

मुख विकसितस्मित वशितवक्रिमं प्रेक्षित
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसस्था मति.।
उरो मुकुलितस्तन जघनमसबन्धोद्धुर
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥

"मुख पर स्मित विकसित हुआ है, दृष्टि ने वक्रता पर प्रभुत्व पाया है, गति में विलास छलक रहे है, चित्त ने स्थिरता का त्याग किया है; वक्ष:स्थल पर स्तन मुकुलित हो रहे है; अवयवो की पुष्टि से जघन रतियोग्य हुआ है। आ.! इस चन्द्र-

मुखी के शरीर में यौवन की तो आनन्दक्रीडा ही चल रही है।" इस पद्य में विकसित, वशित, समुच्छलित, अपास्त, मुकुलित, उद्धुर, उद्गम तथा मोदते यह शब्द लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त है एवम् उनका आधारभूत प्रयोजन व्यग्य है और केवल सहृदयहृदयग्राह्य है अतएव वह गूढ व्यग्य है (१३)। यदि सहृदय की बुद्धि काव्यवासना से परिपक्व

१३. इस पद्य में लक्षक शब्दों का आधारभूत प्रयोजन (व्यंग्य) इस प्रकार बताया जा सकता है:

लाक्षणिक शब्द	मुख्यार्थ बाध	लक्ष्यार्थ	मुख्यार्थ योग	व्यग्य प्रयोजन
१. विकसित	यह पुष्पधर्म होने से स्मित के विषय में बाध	प्रसृत	कार्यकारणभाव, विकास प्रसरण का कारण है।	सौरभ,सुगन्ध। हास्य के कारण सुगध फैलती है।
२. वशित	वशीकरण चेतनधर्म है इस लिए दृष्टि के संबन्ध में बाध	स्वाधीन	कार्यकारणभाव, वशीकरण स्वाधीनता का कारण है।	युक्तानुराग;
३. समुच्छलित	'ऊर्ध्वगमन' मूर्तधर्म है, अत एव अमूर्त विभ्रम में बाध	प्रादुर्भूत	कार्यकारणभाव। समुच्चलन प्रादुर्भाव का कारण है।	बाहुल्य तथा सहजता विभ्रम अगभूत हैं।
४. अपास्त	अपासन = त्याग, इस चेतन धर्म का माति के सबन्ध में बाध	दूरीभवन	हेतुहेतुमद्भाव। अपासन दूरीभवन का हेतु है।	अधीरता; अनुराग-मूलक उत्सुकता।
५. मुकुलित	पुष्पधर्म है अत एव स्तनों के संबन्ध में बाध	उन्नत, कठिन	साधर्म्यसंबन्ध. कली और स्तन में उन्नतता तथा कठिन्य का साम्य	आलिंगनयोग्यता।
६. उद्धुर	धुरा उठाने के चेतनधर्म का जघन के सम्बन्ध में बाध	सिद्ध	साधर्म्यसंबन्ध। दोनों में भारवाहकता की समानता	रतियोग्यता।
७. उद्गम	यह मूर्तधर्म है, अत एव अमूर्त यौवन के संबन्ध में बाध	प्रादुर्भाव	कार्यकारणभाव। उद्गम प्रादुर्भाव का हेतु।	आकर्षकता, सहज सौंदर्य; कृत्रिम नहीं।
८. मोदते	'आनन्द' इस चेतनधर्म का यौयनोद्गम के संबन्ध में बाध	परमोत्कर्ष	जन्यजनकसंबन्ध। आनन्द और उत्कर्ष में जन्यजनक भाव है।	स्पृहणीयत्व वाक्य में अभिलाषा का सूचन।

(शेष अगले पृष्ठपर)

हुई है तो यह व्यग्य प्रयोजन ध्यान में आ सकता है । पूर्वपद्यगत 'उपदिशति' के समान वह स्पष्ट नही है ।

लक्षणा के प्रयोजन का उपर्युक्त गूढव्यग्य तथा अगूढव्यग्य में विभाग देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है। दोनों पद्यो में व्यग्य है। किन्तु जिस पद्य में गूढव्यग्य है वहाँ पद्य का सौदर्य अर्थात् चमत्कार प्रधानतया व्यंग्य में है। इस पद्य में सौदर्य की दृष्टि से वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्य का ही प्राधान्य होने के कारण यह ध्वनि काव्य का उदाहरण है। अगूढव्यग्य के उदाहरण में व्यग्य भी वाच्यार्थ के समान स्पष्ट होने के कारण काव्य का सौदर्य प्रधान तथा व्यग्यार्थ में नही है। अतएव यह गुणीभूत व्यंग्य काव्य का उदाहरण है। काव्य का उत्तम भेद गूढव्यंग्य है। क्योकि उसमें चमत्कार व्यंग्यगत है। अगूढव्यग्य मध्यम काव्य है। मम्मट 'काव्य प्रकाश' में कहते हैं—"कामिनीकुचकलशवत् गूढ चमत्करोति, अगूढ तु स्फुटतया वाच्यायमानम् इति गुणीभूतम् एव।" यहाँ एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। काव्य में गूढता तो चाहिये किन्तु अतिमात्र गूढता नही होनी चाहिये । गूढता से सहृदय का आकर्षण तो बना रहना चाहिये । आकर्षण ही यदि नष्ट हो गया तो चमत्कृति भी नष्ट हो जायगी। इस सबन्ध में निम्न पद्य प्रसिद्ध है—

नान्ध्रीपयोधर इवातितरा प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तन इवातितरा निगूढः ।।
अर्थो गिरामपिहित पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ।।

लक्ष्यार्थ एव लक्षणा का स्वरूप इस प्रकार का है। लक्ष्यार्थ एवं लक्षणाव्यापार काव्य में जिस शब्द के आश्रय से रहते है वह है लाक्षणिक शब्द। काव्य में लक्षणा की पृष्ठभूमि में प्रयोजन रहता ही है। यह प्रयोजन जिस व्यापार के द्वारा ज्ञात होता है वह है व्यजनाव्यापार। प्रयोजनवती लक्षणा का आधारभूत यह व्यंजनाव्यापार भी उस लाक्षणिक शब्द में ही स्थित रहता है (तद्भूर्लाक्षणिकः, तत्र व्यापारो व्यजनात्मक.। काव्यप्रकाश)। वह किस प्रकार स्थित होता है तथा उसका स्वरूप क्या है यह हम अगले अध्याय में देखेंगे।

(गत पृष्ठ से)

प्रदीपकार ने भी गुढ व्यंग्य का सुदर उदाहरण दिया है—
चकोरीपाण्डित्यं मलिनयति दृग्भङ्गिमहिमा
हिमाशोरद्वैतं कवलयति वक्त्र मृगदृशः ।
तमोवैदग्ध्यानि स्थगयति कच., किं च वदन
कुहूकण्ठीकण्ठध्वनिमधुरिमाणं तिरयति ।
यहाँ मलिनयति, कवलयति, स्थगयति तथा तिरयति शब्द लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त हैं।

अध्याय बारहवाँ
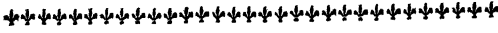
शब्दबोध : व्यंजनाव्यापार

लक्षणामूल ध्वनि

पूर्व बताया जा चुका है कि लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन व्यजनाव्यापार से ज्ञात होता है। इसकी सिद्धि के लिए मम्मट कहते है—

यस्य प्रतीतिमाधातु लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यजनान्नापरा क्रिया ।।

लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन की प्रतीति लाक्षणिक शब्द से ही होती है। अभिधा के द्वारा मुख्यार्थ की प्रतीति होती है; लक्षणा से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है; फिर इस प्रयोजन की प्रतीति किस व्यापार के द्वारा होती है ? मम्मट का कथन है कि यह प्रयोजनप्रतीति व्यजनाव्यापार से होती है। व्यजना के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यापार से यह प्रतीति नही होती। इस बात को स्पष्ट करने के लिए आलकारिक नित्यपरिचित 'गगायां घोषः' यही उदाहरण लेते है। गगा शब्द का गगाप्रवाह मुख्य अर्थ है। प्रवाह में 'घोष' का होना असभव है। इस लिए इस वाक्य में मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। अतएव यहाँ गगा शब्द का, सामीप्यसबन्ध से 'गगातट' अर्थ लेना पडता है। यह है गगा शब्द का लक्ष्यार्थ। अब प्रश्न यह उठता है कि 'गगातटे घोष' इस प्रकार सरलता से व्यवहार न करते हुए वक्ता 'गगायां घोष' ऐसा क्यों कहता है ? इसमे उसका कुछ प्रयोजन अवश्य होगा; और है भी। यहाँ वक्ता का प्रयोजन यह है कि मेरे भाषण से वह घोष शीतल है, वहाँ का वायुमण्डल पवित्र है आदि प्रतीति श्रोता को हो। इस प्रयोजन को व्यक्त करने के लिए ही वक्ता गगा शब्द का तट के अर्थ में प्रयोग करता है। वक्ता की अपेक्षा के अनुकूल श्रोता को वह प्रतीति होती भी है। यह प्रतीति 'गगातटे घोष' कहने से नही होती। यह गगा = गगा प्रवाह का अर्थ

अभिधा से ज्ञात हुआ है; गगा = गगातट का अर्थ लक्षणा से ज्ञात हुआ है तथा शीतत्व, पावनत्व आदि धर्मो का प्रत्यय गगा शब्द से ही व्यजनाव्यापार के द्वारा हुआ है । यह है लक्षणामूल व्यजना ।

किन्तु प्रश्न उठता है कि यहाँ व्यजना का एक अतिरिक्त व्यापार क्यो मानना पडता है? इस पर मम्मट का उत्तर है कि इससे दूसरी कोई गति ही नही है। पावनत्वादि धर्मो की प्रतीति अभिधा से या लक्षणा से नही हो सकती। और यह तो सत्य है कि वह प्रतीति होती है । अतएव इस प्रतीति की उपपत्ति के लिए एक अन्य व्यापार मानना पडता है । मम्मट कहते है—

> नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा
> लक्ष्य न मुख्य, नाप्यत्र बाधो, योग फलेन नो ।।
> न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्द स्खलद्गति.
> एवमप्यनवस्था स्यात्, या मूलक्षयकारिणी ।।

'गगाया घोष.' इस वाक्य से होनेवाली पावनत्वादि धर्मो की प्रतीति अभिधा के द्वारा नही हो सकती; क्योकि 'गगा' शब्द का सकेत 'प्रवाह' से है; न कि पावनत्वादि धर्मो से। यह प्रतीति लक्षणा से भी नहीं होती, क्योकि लक्षणा के लिए आवश्यक निमित्त में से एक भी निमित्त यहाँ उपस्थित नही है । इस वाक्य में (१) गंगा प्रवाह, (२) गगातट, तथा (३) पावनत्वादि इन तीनो अर्थों से गगा शब्द का सबन्ध है। इनमें से 'गगा प्रवाह' का मुख्यार्थ यहाँ उपपन्न नही होता, इस लिए 'गगातट' का लक्ष्यार्थ हम लेते है। इस लक्ष्यार्थ को लेने के लिए आवश्यक तीन निमित्त भी यहाँ है । 'गगाप्रवाह' का मुख्यार्थ यहाँ बाधित हो गया है, मुख्यार्थ 'प्रवाह' एवं लक्ष्यार्थ 'तट' इन दोनों में सामीप्य संबन्ध है; एव 'पावनत्व की प्रतीति देना' यह प्रयोजन भी है । अतएव गगा = गंगातट का लक्ष्यार्थ यहाँ उपपन्न होता है ।

प्रयोजन द्वितीय लक्षणा से ज्ञात नहीं होता

किन्तु यह कहना ठीक नही कि गगा शब्द से प्रतीत होनेवाला पावनत्वादि धर्म भी लक्षणा से ही प्रतीत होता है, क्योकि इस लक्षणा के लिए निमित्त नही है । 'गगा' शब्द का 'गगातट' अर्थ प्रतीत होने पर ही पावनत्व आदि की प्रतीति होगी । यदि ऐसा मानना हो कि पावनत्व धर्म लक्षणा से प्रतीत होता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि गगा—गगातट यह मुख्यार्थ है । किन्तु वह तो लक्ष्यार्थ है; और लक्ष्यार्थ को मुख्यार्थ नही माना जा सकता । (लक्ष्य न मुख्यम्) । अच्छा, यह मान भी लिया कि वह मुख्यार्थ है, तो उसीसे वाक्यार्थ उपपन्न होने से, उस (माने हुए) मुख्यार्थ का बाध नही होता; तब लक्षणा का सहारा लेने का कोई कारण ही नही रहता । इस प्रकार लक्षणा

भा. सा. १३

का पहला निमित्त—मुख्यार्थबाध—यहाँ नही है (नाप्यत्र बाध.) । गगातट यह (माना हुआ) मुख्यार्थ तथा पावनत्व इन दोनों में सबन्ध नही है । पावनत्व धर्म गगा से सबद्ध है, तट से सबद्ध नही है । अतएव लक्षणा का दूसरा निमित्त 'तद्योग' भी यहाँ नही है (योग फलेन नो)। इसके अतिरिक्त, पावनत्व धर्म को लक्ष्यार्थ मानने के लिए प्रयोजन भी नही है, क्योकि पावनत्वादि प्रतीति स्वय प्रयोजन रूप है (न प्रयोजनमेतस्मिन्) । यदि ऐसा कहना हो कि यह प्रयोजन भी लक्षित ही है, तो इसके लिए दूसरे प्रयोजन की कल्पना करनी होगी, और इस प्रकार यदि परम्परा निकली तो एक प्रयोजन के लिए दूसरा, दूसरे के लिए तीसरा, तीसरे के लिए चौथा इस प्रकार प्रयोजनो की कल्पना करते रहेंगे और अनवस्था होकर मूल उद्दिष्ट नष्ट हो जायगा । (एवमत्त्यनवस्था स्यात् या मूलक्षयकारिणी) । अतएव, लक्षणा के लिए आवश्यक तीसरा निमित्त—प्रयोजन—यहाँ न होने से पावनत्व धर्म लक्षणा से प्रतीत होता है ऐसा नही माना जा सकता ।

अच्छा, यह भी नही कि गगा शब्द से पावनत्वधर्म की प्रतीति नही होती (न च शब्द स्खलद्गति) । यह प्रतीति होती है और गगा शब्द से ही होती है । यदि यह प्रतीति है और यदि यह अभिधाव्यापार या लक्षणाव्यापार का विषय नही होती तो इस प्रतीति की उपपत्ति के लिए, विवश होकर एक भिन्न और स्वतन्त्र व्यापार मानना पड़ेगा। यह स्वतत्र व्यापार ही व्यजनाव्यापार है। अतएव, लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन की प्रतीति व्यजनाव्यापार से होती है तथा यह प्रतीति 'गगा' इस लाक्षणिक शब्द से ही होती है इस लिए यह व्यजनाव्यापार लाक्षणिक शब्द में ही स्थित है यह तो मानना ही पडेगा; अन्य कोई गति ही नही है ।

जो लोग कहते हैं कि लक्षणा का प्रयोजन भी लक्षित ही होता है उन्हे दो लक्षणाओ का स्वीकार करना पडता है। गगा = गगातट का अर्थ बताने वाली पहली लक्षणा एव प्रयोजन का बोध करानेवाली दूसरी लक्षणा । इनमें से पहली लक्षणा उपपन्न होती है, किन्तु दूसरी लक्षणा उपपन्न नही होती । मम्मटकृत उपर्युक्त खडन द्वितीयलक्षणावादियो का खडन है ।

विशिष्ट लक्षणा भी संभव नहीं है

परन्तु लक्षणावादियो का दूसरा भी एक पक्ष है। उन्हे विशिष्ट लक्षणावादी कहा जाता है। उनकी मान्यता है कि लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन की प्रतीति विशिष्ट लक्षणा ही के द्वारा आ जाती है। इससे स्वतन्त्र व्यजनाव्यापार मानने की कोई आवश्यकता नही रहती। अर्थात् 'गगाया घोष' इस वाक्य में 'गगा' शब्द का अर्थ केवल 'गगातट' न करते हुए, 'पावनत्वादिविशिष्ट तट' इस प्रकार करने से

प्रयोजनेन सहित लक्षणीयं न युज्यते।

विशिष्ट लक्षणावादियो का कहना है कि 'गगा' शब्द का लाक्षणिक अर्थ 'पावनत्वादिविशिष्ट तट' इस प्रकार लेना चाहिये। यहाँ लक्षणीय है तट और प्रयोजन है पावनत्व आदि। लक्षणा का कार्य है प्रयोजन (पावनत्वादि) विशिष्ट लक्षणीय (तट) का बोध। अर्थात् यहाँ पावनत्व तथा तट ये दोनो अर्थ एक ही लक्षणाव्यापार के लक्षणीय हुए। यहाँ प्रश्न उठता है कि इस विशिष्ट लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन क्या है? प्रथम पक्ष के लक्षणावादियो की दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'तट' लक्ष्यार्थ है और पावनत्वादिप्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है। किन्तु विशिष्ट लक्षणावादी तो प्रयोजन का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ ही में करता है। तब विशिष्ट लक्षणा का प्रयोजन पावनत्वादि है ऐसा वह नही कह सकता। उसको चाहिये कि वह एक अलग प्रयोजन बतावें। विशिष्टलक्षणावादी का इस पर कहना है कि 'गगाया घोष' इस वाक्य के द्वारा, 'गगायास्तटे घोष' इस वाक्य से अधिक अर्थ की प्रतीति होना यही इस लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन है। मम्मट इस पर इस प्रकार आपत्ति उठाते है—"आपका यह कहना ज्ञान की प्रक्रिया के विरोध में है। 'प्रयोजनसहित लक्षणीय' यह लक्षणा का विषय नही हो सकता, क्योंकि यह ज्ञान की प्रक्रिया के अनुकूल नही होता। ज्ञान का विषय तथा ज्ञान का फल भिन्न भिन्न होते है।"

मीमांसकों की ज्ञानप्रक्रिया

मम्मट का मत ठीक तरह से समझने के लिए हमें मीमासको के मत में ज्ञान की प्रक्रिया क्या है यह समझ लेना आवश्यक है। मान लीजिये हम एक नीलकमल देख रहे है। यह नीलकमल हमारे ज्ञान का विषय है। हमें नीलकमल का जो प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है इस ज्ञान का फल क्या है? अर्थात् हमारे इस प्रकार देखने से उस नीलकमल पर या हम पर क्या प्रभाव हुआ है? इस पर मीमासको का उत्तर द्विविध है। एक उत्तर इस प्रकार है—नीलकमल को जब हम देखते है तब हमें जो प्रत्यय आता है वह 'मया ज्ञातम् इदम् नीलकमलम्' इस प्रकार का होता है। हमारे इस प्रत्यय के कारण हमने देखे हुए नीलकमल में तथा अन्य (न देखे हुए) नीलकमलो में निम्न भेद होता है। यह नीलकमल ज्ञात अथवा प्रकट है, अन्य नीलकमल इस प्रकार ज्ञात अथवा प्रकट नही है। अर्थात्, हमने देखे हुए नीलकमल में 'ज्ञातता' अथवा 'प्रकटता' का विषयनिष्ठ धर्म हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ यह होता है कि 'ज्ञातता' अथवा 'प्रकटता' उस ज्ञान का फल है। यह भाट्ट मीमासको का मत है।

किन्तु हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा प्रत्यय 'अह नीलकमल जानामि' इस प्रकार का भी हो सकता है। स्पष्ट होगा कि यह प्रत्यय आत्मनिष्ठ है और ज्ञान का ही फल है। इस प्रकार के प्रत्यय को 'सविति' या 'अनुव्यवसाय' कहते है। सविति अथवा अनुव्यवसाय आत्मधर्म है। प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण ज्ञाता में वह उत्पन्न हुआ। इस लिए 'सविति' अथवा 'अनुव्यवसाय' ज्ञान का फल है। यह मत प्राभाकर मीमासक तथा नैयायिको का है।

इनमे से किसी भी मत को लीजिये, ज्ञान की प्रक्रिया में तीन बाते स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वे ये है—(१) नीलकमल—ज्ञान का विषय; (२) हमें होनेवाला प्रत्यय—ज्ञान, तथा (३) प्रकटता अथवा सविति—उस ज्ञान का फल, इन तीनो के सबन्ध मे मीमासको के मत का मम्मट इस प्रकार अनुवाद करते है—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य फलमन्यदुदाहृतम्।

इसमें बताया गया है कि प्रत्यक्षादि ज्ञान का विषय तथा उस ज्ञान का फल इनमें भिन्नता होती है। ज्ञान का विषय नीलकमल आदि है, किन्तु उसका फल प्रकटता अथवा सविति है (प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषय, फल तु प्रकटता, सवित्तिर्वा—का प्र)। किसी भी ज्ञान के सबन्ध में (चाहे वह प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि किसी भी प्रमाण से हुआ हो) इस नियम का भग नही होना चाहिये।

मम्मट के कथन के अनुसार विशिष्ट लक्षणावादियों के मत में ज्ञान के उपर्युक्त नियम का भग होता है। विशिष्ट लक्षणावादियो के मत के अनुसार 'गगा' शब्द का लक्षणावृत्ति से 'पावनत्वादिविशिष्ट तट' इस प्रकार अर्थ करना चाहिये। अर्थ यह है कि लक्षणा से होने वाले ज्ञान का विषय 'पावनत्वादिविशिष्ट तट' है। 'गगातटे घोष' इस वाक्य से होनेवाले प्रत्यय से कुछ अधिक प्रत्यय अर्थात् पावनत्वादि धर्म यही इस लक्षणा का प्रयोजन है। इस प्रकार यहाँ फल का विषय ही में अन्तर्भाव होने से, ज्ञानविषयक उपर्युक्त नियम का भग हो रहा है। इस लिए प्रयोजनप्रतीति की उपपत्ति के लिए लक्षणा का आधार लेना असभव होता है (विशिष्टे लक्षणा नैवम्)।

अब लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की उपपत्ति भले ही न होती हो, लक्षित अर्थ में प्रयोजनरूप विशेषो का प्रत्यय तो होता ही है। (विशेषाः स्युस्तु लक्षिते)। इस प्रत्यय की उपपत्ति बताना तो आवश्यक है ही; और इस लिए स्वतन्त्र व्यापार भी मानना आवश्यक है। यह स्वतत्र व्यापार ही व्यंजन, ध्वनन, द्योतन आदि सज्ञाओ से पहचाना जाता है।

लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन के बोध की उपपत्ति सिद्ध करने के लिए व्यजनाव्यापार मानना किस प्रकार आवश्यक है यह 'काव्यप्रकाश' के आधार से देखा। मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' ग्रन्थ में भी इस प्रश्न का विचार किया है और बताया है कि लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन अन्य प्रमाणो का विषय भी नही होता। उस विचार को देखने से व्यजनाव्यापार की आवश्यकता और भी स्पष्ट हो जाती है। शब्दव्यापारविचार में मम्मट कहते है—"सप्रयोजन लक्षणा के सबन्ध मे लक्षणा के अतिरिक्त एक भिन्न व्यापार मानना ही पडता है। देखिये कि प्रयोजन हो तो ही लक्षणा हो सकती है। लक्षणा के निमित्तो में से मुख्यार्थबाध तथा तद्योग अन्य प्रमाणो के द्वारा ज्ञात हो सकते है। किन्तु 'प्रयोजन' रूप निमित्त लाक्षणिक शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से ज्ञात नही हो सकता। और वास्तव में यह प्रयोजन ज्ञात हो इसी एक उद्देश्य से उस (लाक्षणिक) शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिस अर्थ का ज्ञान मात्र शब्द से ही होता है, उस अर्थ को जानने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की कोई सहायता नही होती। प्रत्यक्ष पर आधारित अनुमान भी यहाँ किसी काम का नहीं। और उस अनुमान पर आधारित अनुमान से भी कोई काम नही निकलता। यदि वैसा माना भी गया तो अनवस्था हो जायगी। प्रयोजन स्मरण का भी विषय नही हो सकता। क्योंकि स्मरण के लिए पूर्व अनुभव की आवश्यकता होती है; और लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन का पूर्व अनुभव तो नही रहता। इसके अतिरिक्त, यह घडीभर के लिए मान भी लिया कि यहाँ स्मृति है, तो भी यह नही कहा जा सकता कि प्रयोजन का स्मरण निश्चय से होगा ही। इस प्रकार, प्रयोजन की प्रतीति प्रत्यक्ष, अनुमान तथा स्मृति का विषय नही होती, अतएव उसका ज्ञान केवल शब्द से ही हो सकता है। अब शब्द से प्रयोजन का बोध होने के लिए शब्द में प्रयोजनबोधकव्यापार की सत्ता माननी ही पड़ती है। यह व्यापार अभिधा तो नही हो सकती। क्योंकि इस शब्द का उस प्रयोजन से सकेत नही होता। वह लक्षणा भी नही है। क्योंकि प्रयोजन हो तो ही लक्षणा प्रवृत्त होती है, तब प्रयोजन ही लक्षणा का विषय कैसे हो सकता है? (इसके बाद मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में कारण दिये है)। अच्छा, (यह भी नही कि प्रयोजन की प्रतीति नही होती) वह प्रतीति तो होती ही है। तब उस प्रतीति के बोधक किसी पृथक् व्यापार की सत्ता शब्द मे मानना अपरिहार्य होता है। इसी पृथक् व्यापार का ध्वनन, अवगमन, प्रकाशन, द्योतन आदि सज्ञाओं मे निर्देश किया जाता है।" (शब्दव्यापारविचार, पृष्ठ ५–६)

साराश, काव्य में लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन व्यंजनाव्यापार से ही ज्ञात होता है। अतएव वह प्रयोजन व्यंग्य है। लाक्षणिक शब्द में अवस्थित व्यजना-व्यापार ही लक्षणामूलव्यजना है।

अभिधामूल व्यंजना

व्यजनाव्यापार जिस प्रकार लक्षरणा को लेकर होता है उसी प्रकार वह अभिधा को लेकर भी हो सकता है। भाषा में कतिपय शब्दो के अनेक अर्थ होते है। ऐसे शब्दो का प्रत्येक अर्थ, अपनी अपनी सीमातक वाच्यार्थ होता है। उदाहरण के लिए –'कर' शब्द के हाथ, सूँड, सरकार को दिया जानेवाला धन (टैक्स) आदि अनेक अर्थ होते है, इनमे से प्रत्येक अर्थ अपनी सीमा में उस शब्द का वाच्यार्थ ही है। सैंधव=नमक, घोडा, दान=धर्मार्थ त्याग, हाथी का मद आदि शब्द भी ऐसे ही है। किन्तु जब हम इन शब्दो का प्रयोग करते है तब उनके किसी एक अर्थ से हमारा अभिप्राय होता है। किस समय किस अर्थ से अभिप्राय है यह समझदार श्रोता सनिधि, प्रकरण आदि से समझ लेता है। उदाहरण के लिए 'राम' शब्द 'दशरथ का पुत्र' तथा 'जमदग्नि का पुत्र' इन दोनो का वाचक है। 'अर्जुन' शब्द 'पार्थ' तथा 'सहस्रार्जुन' इन दोनो का वाचक है। यह होते हुए भी, 'रामलक्ष्मण' में दाशरथि राम से अभिप्राय है एव 'रामार्जुनौ' में परशुराम से अभिप्राय है यह हम समझ लेते है। इसी प्रकार, 'रामार्जुनौ' में अर्जुन का अर्थ है सहस्रार्जुन एवं 'कृष्णार्जुनौ' मे अभिप्राय है पार्थ अर्जुन से, यह भी हम सरलता से समझ सकते है। इस प्रकार, हम देखते है कि 'राम' तथा 'अर्जुन' इन शब्दो की अभिधा, सनिध अवस्थित शब्दो के योग से एक ही अर्थ के संबन्ध में सीमित हो गयी है। कभी कभी प्रकरण से भी अभिधा नियत्रित होती है। सैंधव के दो अर्थ हैं— नमक और घोड़ा। भोजन के समय किसी ने 'सैन्धवम् आनय' कहा तो वहाँ अर्थ होगा —'नमक लाओ'। किन्तु रणवेष पहन कर 'सैन्धवमानय' कहा तो वहाँ 'घोड़ा लाओ' इस प्रकार अर्थ करना होगा। इन दोनो स्थानो में सैन्धव शब्द की अभिधा, प्रकारण के कारण एक ही अर्थ में सीमित हो गयी है। अन्य भी अनेक निमित्त इसी प्रकार अभिधा का नियत्रण करते है (१); और उनके द्वारा, अनेक अर्थो में से किसी एक अर्थ से अभिप्राय है इसका पाठक अथवा श्रोता निश्चय कर सकता है। जिस प्रसग में जिस अर्थ से अभिप्राय है उस प्रसंग में वही अर्थ प्रकृत होता है, अतएव उस समय उस शब्द का वही वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ होता है।

---

१. अभिधा के नियंत्रक निमित्तों का भर्तृहरी ने 'वाक्यपदीय' में समुच्चय से निर्देश किया है। वह इस प्रकार है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

पर कभी कभी यह भी होता है कि शब्द की अभिधा इस प्रकार किसी विशेष अर्थ में ही सीमित होती है तभी उस वाच्यार्थ के साथ ही उस शब्द का दूसरा एक अप्रकृत अर्थ भी पाठक को प्रतीत होता है। यह दूसरा अर्थ भी स्वतंत्र रूप में, उस शब्द का मुख्यार्थ होते हुए भी, उस प्रसग में प्रकृत या अभिप्रेत न होने से मुख्यार्थ नही होता। अतएव उस प्रसग में वह अभिधाशक्ति से ज्ञात हुआ ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि विशिष्ट सदर्भ में (context) शब्द की 'अभिधा' प्रकृत अर्थ तक अर्थात् मुख्यार्थ तक ही सीमित रहती है। फिर यह दूसरा अर्थ जो हमें ज्ञात होता है उसे किस व्यापार से ज्ञात हुआ समझें? अभिधा वाच्यार्थ से सीमित हुई है इस लिए इस दूसरे अर्थ के सबन्ध में उसका स्वीकार नही हो सकता, मुख्यार्थबाध आदि निमित्त यहाँ नही है, अतएव यह दूसरा अप्रकृत अर्थ लक्षणा से ज्ञात हुआ ऐसा भी नही कहा जा सकता। तब इन दोनो से पृथक् व्यापार की सत्ता यहाँ मानना आवश्यक हो जाता है। यह स्वतन्त्र व्यापार ही व्यजनाव्यापार है। यह व्यजना अभिधा पर आधारित होने से इसे अभिधामूलव्यजना कहते हैं। मम्मट का वचन है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियत्रिते।
सयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृत् व्यापृतिरञ्जनम्॥

अनेकार्थ शब्द का वाचकत्व जब सयोग आदि से नियन्त्रित हो जाता है, और (इस प्रसग में) जब ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जो कि वाच्य नही है, तब वह प्रतीति देनेवाला व्यापार (व्यापृति) व्यजना (अजनम्) व्यापार ही होता है।

अभिधा के सभी भेदो में अभिधामूलव्यजना रूढ़ हो सकती है। एक ही शब्द के यदि दो रूढ अर्थ हैं और उनमें से एक अर्थ यदि प्रकरण से नियन्त्रित है तो ऐसे प्रसग में जिस दूसरे रूढ़ अर्थ का आभास होता है वह व्यग्यार्थ होता है। उदाहरण के लिए—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-
वशोन्नते कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभग. सतत करोऽभूत्॥

शिवस्वामी के 'कप्फिणाभ्युदय' में से यह पद्य है। राजा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—उस राजा के (यस्य) चित्त में नित्य कल्याणकर विचार रहते थे (भद्रात्मन.), विशाल शरीर होने से वह अजिक्य हो गया था (दुरधिरोहतनु), अपने विशाल वश की उसने उन्नति की थी (वशोन्नतेः); उसने धनुर्विद्या का गंभीर अध्ययन किया था (कृतशिलीमुखसग्रह), उसके ज्ञान की गति अविच्छिन्न थी (अनुपप्लुतगते.); उसने शत्रुओ का निवारण किया था (परवारण) तथा उसका

हाथ (कर) दान के जल से नित्य शोभित होता था (दानाम्बुसेकसुभग·) । यहाँ भद्र = कल्याण, वश = कुल, शिलीमुख = बाण, सग्रह = गंभीर अध्ययन, गति = ज्ञान, पर = शत्रु, वारण = निवारण करनेवाला, दान = द्रव्यत्याग, कर = हाथ ये अर्थ कवि को प्रकरण की दृष्टि से अभिप्रेत अर्थात् प्रकृत है। अतएव वे उन शब्दो के मुख्यार्थ है । यह अर्थ यहाँ हमे तत्तत् शब्द के अभिधाव्यापार से ज्ञात हुए है । किन्तु इस पद्य को पढते समय उपर्युक्त मुख्यार्थ जब हमारे ध्यान में आता है तभी निम्न अर्थ का भी आभास हमारे मन में सहज ही होता है।

"जिस पर आरोहण करना कठिन है (दुरधिरोहतनो) , जो लबे बॉस के के समान ऊँचा है (वंशोन्नते·), जिसके आसपास भ्रमरो का समूह है (कृतशिली-मुखसग्रहस्य), जिसकी गति गभीर है (अनुद्धतगति·), ऐसे भद्रजातीय (भद्रात्मन) श्रेप्ठ हाथी का (परवारणस्य), शुडादण्ड (कर) निरन्तर मदस्रावसे (दानाम्बुसेक-सुभग·) शोभित हो रहा है।" यहाँ भद्र = भद्रजाति (हाथियों की एक जाति), वश = बॉम, शिलीमुख = भ्रमर, सग्रह = समूह, गति = चाल, पर = श्रेष्ठ, वारण = हाथी, दान = मद, कर = शुडादण्ड आदि अर्थ स्वतत्र रूप में प्रत्येक शब्द के मुख्यार्थ ही है । परन्तु प्रस्तुत राजवर्णन के प्रसग में वे अभिप्रेत न होने से इस पद्य में मुख्यार्थ के रूप में उनका स्वीकार असभव है । अतएव प्रस्तुत पद्य को पढते समय गजविषयक यह द्वितीय अर्थ अभिधा का विषय नही होता। अभिधा के द्वारा इस पद्य से हमें राजा का वर्णन ही ज्ञात होता है । किन्तु तत्समकाल ही जो गजवर्णन भी हमें प्रतीत होता है, उसके लिए शब्दो का व्यजनाव्यापार ही कारण है।

इस प्रकार इस पद्य में राजवर्णन वाच्य है और गजवर्णन व्यग्य है। राज वर्णन प्रकृत है और गजवर्णन अप्रकृत । यह दोनो वर्णन हमारे समक्ष उपस्थित होते है तो सहज ही प्रश्न उठता है कि इन दोनो अर्थों में परस्परसबन्ध क्या हो सकता है ? तत्क्षण हमारे ध्यान में आता है कि राजा और गज दोनो में यहाँ उपमानोप-मेय भाव है। यह उपमानोपमेय भाव भी यहाँ सूचित ही हुआ है, वाच्य उपमा के समान यथा, इव आदि शब्दो से वह कथित नही है। इस लिए यहाँ ध्वनित होने वाली उपमा भी व्यजनाव्यापार का ही कार्य है। व्यजनाव्यापार का आश्रय दान, कर, भद्र आदि शब्दो का रूढार्थ ही है, इसलिए यह अभिधामूलव्यजना है।

रूढ शब्द के समान योगरूढ शब्द के आश्रय से भी व्यजना हो सकती है। उदाहरण के लिए—

> अबलानां श्रिय हृत्वा वारिवाहै· सहानिशम् ।
> तिष्ठन्ति चपला यत्र स काल· समुपस्थित ॥

यहाँ वर्षाकाल का वर्णन अभिप्रेत है। वर्षावर्णन के सबन्ध में इस पद्य का अर्थ इस

प्रकार होता है — "यह ऐसा काल आया है जब कि नायिकाओ की शोभा धारण करनेवाली विद्युल्लताएँ (चपला) मेघो के साथ (वारिवाहै) नित्य रहती है।" यह इस पद्य का वाच्यार्थ (प्रकृत अर्थ) है। अबला = स्त्री (नायिका), वारिवाह = मेघ, चपला = विद्युत् ये अर्थ योगरूढ अभिधा से प्राप्त हैं। अर्थात्, व्युत्पत्ति की दृष्टि से वे सुसगत होने पर भी रूढि से उपर्युक्त अर्थो में ही सीमित है। इस प्रकार यहाँ अभिधा रूढि से ही सीमित है। किन्तु ऐसा होते हुए भी योगशक्ति से एक सर्वथा भिन्न अर्थ यहाँ सूचित होता है। वह इस प्रकार है—"ऐसा समय प्राप्त हुआ है कि वारस्त्रियाँ (चपला) दुर्बलो का (अवलानाम्) धन हरण करती है, किन्तु रममाण होती है पनहरो (वारिवाह) के साथ।" वह अप्रकृत अर्थ रूढि से नही ज्ञात होता, अपितु केवल योग से ज्ञात होता है। इस अर्थ के सबन्ध में अभिधाव्यापार नही माना जा सकता, क्योकि अभिधा रूढि से ही सीमित है। अतएव कहना पड़ता है कि यह अर्थ व्यजना से ही ज्ञात हुआ। जगन्नाथ पडित 'रसगगाधर' मे कहते है—

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धिय योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यजनैव सा॥

योगरूढ शब्दो के सबन्धमे, जब रूढि के द्वारा योग को नियंत्रित हो जाने पर कभी कभी योगस्पृष्ट अर्थ का जो ज्ञान होता है, वह व्यजनाव्यापार के कारण ही होता है (२)।

अभिधामूल व्यंजना एवं लक्षणामूल व्यंजना मे तुलना

व्यजना के दो भेदों का – लक्षणामूलव्यजना तथा अभिधामूलव्यजना का– स्वरूप यहाँ तक कथन किया है। तुलना करते हुए इन दोनो के विशेष ध्यान में लेने से व्यंजनावृत्ति का स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा।

लक्षणामूल-व्यजना प्रयोजनवती लक्षणा में ही रह सकती है। लक्षणा यदि **प्रयोजनवती** न हो तो व्यजना का होना असभव है। 'लक्षणामूलत्व' इस सज्ञा का अर्थ नागेश ने 'लक्षणा-अन्वयव्यतिरेक-अनुविधायित्व' इस प्रकार दिया है। अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा और व्यजना में अन्वयव्यतिरेक सबन्ध है। जहाँ लक्षणा प्रयोजनवती हो वही व्यजना होती है। और जिस लक्षणा की पृष्ठभूमि में व्यग्य नही है वह लक्षणा कभी प्रयोजनवती नही हो सकती। अभिधामूल-व्यजना में यह नही पाया जाता। अभिधा और व्यजना में अन्वयव्यतिरेक सबन्ध नही है। प्रत्येक वाचक शब्द में अभिधा होती है। किन्तु जहाँ कही अभिधा होगी वहाँ अवश्य

---

२ अभिधा के यौगिकरूढ भेद पर भी व्यंजना आधारित हो सकती है। उसके स्वरूप का विवेचन 'रसगगाधर' में देखें।

ही व्यजना होगी ऐसा नियम नही है। अभिधामूलव्यजना के लिए पहले तो शब्द के दो अर्थ होने चाहिये। किन्तु शब्द के दो अर्थ होते है इसीसे वहाँ व्यजना है ही यह भी नही कहा जा सकता। अनेकार्थ शब्द की अभिधा सयोग आदि निमित्तो से एक ही अर्थ में नियत्रित होनी चाहिये। इस प्रकार शब्द अनेकार्थ है, उसकी अभिधा एक अर्थ में नियत्रित हुई है और उसी समय दूसरा अर्थ भी सूचित हुआ है, ऐसी स्थिति मे ही वहाँ अभिधामूलव्यजना होती है। यदि अभिधा इस प्रकार नियत्रित न हुई, और दोनो अर्थ प्रतीत हुए, तो वे दोनो अर्थ वाच्य होते है, और वहाँ श्लेषालकार होता है, व्यजना नही होती। दूसरी बात यह है कि अभिधामूलव्यजना से प्रांप्त होनेवाला व्यग्यार्थ, स्वतत्ररूप से देखा जायँ तो, उस शब्द का वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ ही होता है। किन्तु विशिष्ट प्रसग में वह अप्रकृत होता है इस लिए उसे वाच्यार्थ नही कहा जा सकता और इसी लिए यह भी नही कहा जा सकता कि वह अभिधा से प्राप्त हुआ है।

अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना में संबन्ध

अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना इन तीनो शब्दवृत्तियो म से अभिधा स्वतत्र तथा स्वयपूर्ण है। दूसरी किसी वृत्ति का आश्रय करने की उसे आवश्यकता नही होती। प्रत्येक शब्द वाचक तो होता ही है। वाचक होने के लिए उसे लक्षक या व्यजक होने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु लक्षणा तथा व्यजना की बात कुछ दूसरी है। लक्षणा के लिए मुख्यार्थबाध आदि निमित्तों का उपस्थित होना आवश्यक है। ये निमित्त न हो तो लक्षणा का होना असभव होता है। इसके अतिरिक्त, अभिधा का कार्य हो जाने के बाद, तात्पर्य की दृष्टि से जबतक मुख्यार्थ अनुपपन्न सिद्ध नही होता तबतक लक्षणा को अवसर ही नही मिलता। जिस प्रकार केवल वाचक शब्द हो सकता है उस प्रकार केवल लाक्षणिक शब्द नही हो सकता। लाक्षणिक शब्द होने के लिए, पहले तो वह शब्द वाचक होना चाहिये तथा उसका वाच्यार्थ तात्पर्य की दृष्टि से बाधित होना चाहिये। वह उस प्रकार बाधित हुआ हो तभी शब्द लाक्षणिक हो सकता है, अन्यथा नही। अतएव कोई भी शब्द एकही समय वाचक और लाक्षणिक नही हो सकता। वाच्यार्थ तात्पर्य की दृष्टि से अनुपपन्न सिद्ध होते ही वाच्यार्थ को हटाकर लक्ष्यार्थ स्वय उसके स्थानपर आ जाता है। अतएव लक्षणा को 'अभिधा-पुच्छभूत' अर्थात् अभिधा का पुच्छ कहते है।

अभिधा और लक्षणा दोनो पर व्यजना अवलबित रहती है। व्यजना तब-तक प्रवृत्त ही नही होती जबतक कि अपना अपना कार्य कर के अभिधा और लक्षणा निवृत्त नही होती। शब्द का केवल व्यजक होना असभव है। व्यजक होने से पहले

शब्द या तो वाचक होना चाहिये या लाक्षणिक होना चाहिये। वास्तव में कोई शब्द केवल लाक्षणिक भी नही हो सकता। किन्तु व्यग्यार्थ और लक्ष्यार्थ में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ के साथ कभी नही आता। वह वाच्यार्थ को हटाकर उसके स्थान में आता है। इसमें विपरीत व्यग्यार्थ नित्य वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ के साथ आता है। अर्थात् शब्द या तो वाचक हो सकता है या लाक्षणिक हो सकता है, किन्तु एक ही शब्द वाचक और व्यजक या लाक्षणिक और व्यजक इस प्रकार उभयविध हो सकता है।

व्यंजना का सामान्य लक्षण

अब हम लक्षणा का सामान्य लक्षण कर सकेगे। हमने देखा कि अभिधा तथा व्यजना, अथवा लक्षणा तथा व्यंजना की वृत्तियाँ साथ साथ रहती है। हमने यह भी देखा कि अभिधा तथा लक्षणा की अर्थबोधक शक्ति उपक्षीण होने पर अवशिष्ट अधिक अर्थ उपपन्न होने के लिए एक स्वतत्र व्यापार मानना आवश्यक हो जाता है। इन दोनो बातो को एकत्रित करने पर, विश्वनाथकृत व्यजनाव्यापार का लक्षण तत्काल उपस्थित होता है।

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते पर·।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।

अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा की शक्तियाँ अपना अपना कार्य करके जब उपक्षीण हो जाती है तब जिसके द्वारा अधिक अर्थ प्रतीत होता है वह वृत्ति व्यजना है। यह व्यजनावृत्ति शब्द में दिखायी देती है, उसी प्रकार अर्थ में भी पायी जाती है।

अर्थबोध के सबन्ध में एक नियम है — ‘शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाव। शब्द, प्रतीति तथा क्रिया के द्वारा एक प्रयत्न में जितना कार्य हो सकता है उतना ही उनका क्षेत्र होता है। उस क्षेत्र से आगे उनकी शक्ति नही होती। इस नियम के अनुसार अभिधा का क्षेत्र वाच्यार्थतक, लक्षणा का क्षेत्र लक्ष्यार्थतक, एवं तात्पर्य का क्षेत्र अन्वयतक सीमित है। इस सीमा के बाहर भी रसिक को अर्थ की जो प्रतीति होती है वह इन तीनो वृत्तियो की कक्षा में नही आती। अधिक अर्थ की प्रतीति व्यजना-व्यापार का विषय है। उदाहरण के लिए—

कल्ल किर खर हिअओ पविसिइहि पिओ त्ति सुण्णइ जनम्मि।
तह वढ्ढ भअवइ निसे जह से कल्ल विअ ण होइ।।

नायिका ने सुना है कि दूसरे दिन प्रात काल यात्रा के लिए जाने का पति ने अचानक तय किया है। वह जानती है कि न जाने के लिए कितना भी मनाया तो वह एक नही मानने वाला। रात को पति के साथ जब वह शयनागार में थी, तो प्रातःकाल विरह होनेवाला है इस बात की उसे बार बार याद आने लगी। ऐसे ही किसी समय वह

सहसा बोल उठी — "पुरुषों का हृदय ही बडा कठोर होता है! सुनते है कि कल प्रियतम यात्रा जा रहे हैं। भगवति निशे, ऐसी बढ जाओ कि प्रात काल कभी होवे ही ना।" यह है इस पद्य का वाच्यार्थ। किन्तु रसिक को इस पद्य में इस वाच्यार्थ से अधिक प्रतीति होती है। उसे नायिका की व्याकुलता प्रतीत होती है। पति से स्पष्ट रूप में विरोध करने का धीरज वह नही बाँध सकती, इससे उसकी असहायता रसिक को प्रतीत होती है। इस दशा में वह सोचती है कि निशा का तो सहाय ले। नारी के मन की दशा पुरुष तो समझ ही नही सकते, किन्तु निशा तो एक नारी है, वह तो समझ सकती है। और मेरे लिये उसके मन में अनुकम्पा भी हो सकती है, इस विचार से नायिका निशा से जो विनय करती है उसके द्वारा नायिका की आर्तता रसिक समझ लेता है। इस प्रकार अर्थ के अनेकानेक वलय इन्ही शब्दो से रसिक को प्रतीत होते हैं। रसिक को आनेवाली यह अधिक अर्थ की प्रतीति अभिधा की कक्षा में नही रखी जा सकती। यह अधिकार्थ पद्यगत शब्दो का सकेतितार्थ नही है। वह तात्पर्यवृत्ति के द्वारा भी नही ज्ञात होता। क्योकि पद्यगत शब्दों का एवम् अर्थों का अन्वय सिद्ध होने पर तात्पर्यवृत्ति का कार्य समाप्त हो जाता है। यहाँ वाच्यार्थ अनुपपन्न नही होता, अतएव लक्षणा की प्रवृत्ति ही नही होती। इस प्रकार अभिधा एव तात्पर्य ने अपना अपना (वाच्यार्थ तथा अन्वय का बोध कराने का) कार्य करने पर उपक्षीण हो जाते हैं। इसके पश्चात् भी रसिक को एक अर्थप्रतीति होती है जो अभिधा तथा तात्पर्य की कक्षा में नही रहती। यह प्रतीति व्यजनाव्यापार से होती है।

व्यंजना अर्थवृत्ति भी है (आर्थी व्यंजना)

व्यजना मात्र शब्द ही की वृत्ति नही है, वह अर्थवृत्ति भी है। पूर्ववर्णित अभिधा-मूलव्यजना और लक्षणामूलव्यजना. शब्दव्यजनाएँ हैं। किन्तु इतना ही व्यजना का क्षेत्र नही है। अर्थ भी व्यजक हो सकता है। निम्न उदाहरण देखिये—

किमिति कृशासि कृशोदरि, कि तव परकीयवृत्तान्त.।
कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति याहि पान्थ तव जाया।।

कोई पथिक किसी गाँव में ठहरा। वहाँ उसने किसी युवती को देखा—जो सुदर थी किन्तु कृश थी। उन दोनो में इस प्रकार भाषण हुआ—

पथिक: हे कृशोदरि, आप इतनी कृश क्यो हुई है?
युवती: आप को दुसरो की चर्चा से मतलब?
पथिक: ऐसे ही पूछा, नही बताना है तो मत बताइये। बताया तो हमें आनद होगा।
युवती: तो पथिक, आप अपने घर जाइये। आपको अपनी पत्नी बताएगी कि मैं इतनी कृश क्यो हुई हूँ।

'मै पति के विरह से कृश हुई हूँ' यह अर्थ इस भाषरण से सूचित होता है। यह सूचित अर्थ इस पद्य का वाच्यार्थ नही है। इस पद्य के एक भी शब्द से वह सूचित नही हुआ है। इस पद्य के वाच्यार्थ से पृथक् यह अर्थ सूचित होता है। इस अर्थ को ध्वनित करनेवाला व्यजनाव्यापार वाच्यार्थाश्रित है, अतएव यहाँ की व्यजना आर्थी है।

तथा भूता दृष्ट्वा नृपसदसि पाचालतनया
वने व्याधै सार्ध सुचिरमुषित वल्कलधरै.।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारभनिभृत
गुरु. खेद खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

वेरणीसहार नाटक में भीम की यह उक्ति है। भीम कहते है— 'भरी राजसभा में की गई द्रौपदी की विटम्बना, बल्कल धारण कर के व्याधो के साथ व्यतीत किया हुआ वह बारह वर्षो का दीर्घ काल, और विराट के घर मे अपमानो को सहते हुए भी किया हुआ अज्ञातवास'— इनके कारण मै खिन्न होता हूँ तो हमारे पूज्य युधिष्ठिर मुझ पर क्रोध करते है , किन्तु कौरवो पर अब भी क्रोध नही करते।" इस पद्य के शब्दो का विशिष्ट स्वर (काकु) में उच्चारण करने से "युधिष्ठिर को चाहिये कि कौरवो पर क्रोध करें, मुझ पर क्रोध करना उचित नही है।" यह अर्थ निप्पन्न होता है। यह अर्थ उपर्युक्त पद्य का वाच्यार्थ नही है, विशिष्ट स्वर में किये गये उच्चारण (काकु) द्वारा वह प्रकाशित होता है। अतएव वह व्यजनाव्यापार का विषय है।

इस प्रकार अर्थ भी अभिव्यजक हो सकता है। अर्थ को व्यजकता अनेक प्रकारो से प्रतीत होती है। वक्ता या श्रोता का वैशिष्टच, विशिष्ट स्वर में किया गया वाक्य का उच्चारण, प्रकरण, देश, काल आदि का वैशिष्टच आदि अनेक कारणो से वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतिभायुक्त (प्रतिभाजुष्) रसिक को प्रतीत होता है। ऐसे प्रसग में, एक अर्थ से होने वाली दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यजनाव्यापार के द्वारा होती है (३) यही अर्थ की व्यजकता है। इस व्यजना को अर्थमूलव्यजना कहते है।

---

३. अर्थ की व्यंजकता के निमित्त मम्मट ने इस प्रकार दिये हैं—
वक्तृबोद्धव्यकाकूना वाच्यवाक्यान्यसंनिधे ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुः व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ (का प्र. तृतीयोल्लास)

व्यंजना के भेद

अतएव व्यजना के कुल भेद इस प्रकार हैं—
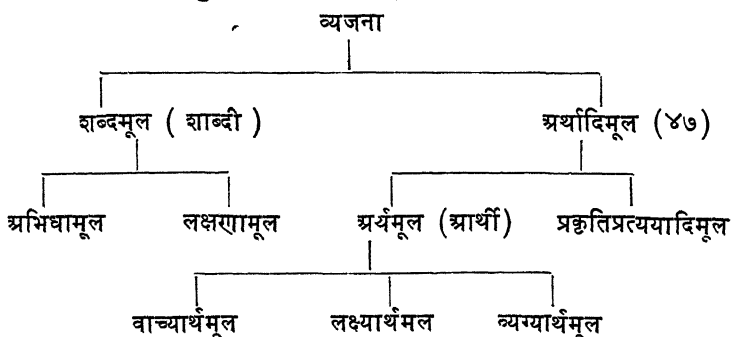
व्यजना के इन सारे भेदो का एकत्रित विचार करने पर क्या दिखायी देता है ? व्यग्यार्थ कभी किसी एक शब्द से या शब्द-समुच्चय से ज्ञात होगा। कवि ने ऐसा शब्द वाच्यार्थ में या व्यग्यार्थ में भी प्रयुक्त किया होगा। वाच्यार्थ में प्रयुक्त शब्द से यदि व्यग्यार्थ सूचित हुआ हो तब वह व्यग्यार्थ, मूलत उस (अनेकार्थ) शब्द का वाच्यार्थ ही होता है। किन्तु उस शब्द की अभिधाशक्ति एक ही अर्थ में सीमित होने से, दूसरा अर्थ—जो सूचित होता है—व्यजना का विषय होता है। यही है अभिधामूल व्यजना। शब्द यदि लक्षणा से प्रयुक्त हो तब वह लक्षणा प्रयोजनवती होती है तथा उसका प्रयोजन व्यग्य होता है। यह है लक्षणामूलव्यजना। इनमें से कुछ भी न होते हुए वाच्यार्थ से पृथक् अर्थ यदि सूचित होता हो तब वह लक्षणा आर्थी अर्थात् अर्थमूल होती है। सारांश, शाब्दी व्यजना का क्षेत्र वर्जित किया, तो अन्य सभी व्यग्यार्थ आर्थी व्यजना से सूचित होता है। आर्थी व्यजना में अनेकार्थ शब्द या लाक्षणिक अर्थ की आवश्यकता नही होती। वाच्य अर्थ से, अन्य किसी कारणवश दूसरा अर्थ सूचित होता है। उदा०—

सकेतकालमनस विट ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूत लीलापद्म निमीलितम्॥

प्रियतम को देखते ही उस चतुर युवति ने जान लिया कि यह मिलने का समय जानना चाहता है, और उसने हँस कर, हाथ में जो कमलपुष्प था उसका सकोच किया।

उस युवति ने यहाँ सूचित किया है कि—'सूर्य अस्त होने के पश्चात् हम

---

४. अर्थमूलव्यजना वाच्यार्थमूल, लक्ष्यार्थमूल या व्यग्यार्थमूल भी हो सकती है। वैसे ही प्रकृति, प्रत्यय आदि भी व्यंजक हो सकते हैं। इनके उदाहरण मूल में देखें।

मिले।' यह सूचित अर्थ यहाँ सीधे वाच्यार्थ ही से अभिव्यक्त हुआ है। कोई भी शब्द यहाँ अनेकार्थ नही है अथवा लाक्षणिक भी नही है।

व्यजनाविभाग पर आशंका तथा समाधान

शाब्दी व्यजना तथा आर्थी व्यजना इस प्रकार किये हुए उपर्युक्त व्यजना-विभाग पर एक आशका यह हो सकती है कि इस प्रकार का व्यजनाविभाग तो उपपन्न ही नही होता। शब्द और अर्थ काव्य में नित्य सहित होते है। काव्य का स्वरूप ही 'शब्दार्थौ काव्यम्' है। तब यह शाब्दी व्यजना है और यह आर्थी-व्यजना है इस प्रकार निश्चय किस आधार पर किया जायँ? आपका कथन है कि 'अबलाना श्रिय हत्वा' आदि उदाहरण में अभिधाभूल व्यजना है। किन्तु वहाँ भी 'वारिवाह', 'चपला' आदि शब्द केवल शब्द होने से व्यजक नही है, अपि तु अर्थ को लेकर ही व्यजक होते है। तब तो उनका अर्थ भी व्यजक होता है न? इसी प्रकार 'गगाया घोष' में लक्ष्यार्थ भी व्यजक है न? और ये अर्थ भी यदि व्यजक है तो फिर शाब्दी और आर्थी इस प्रकार व्यजनाविभाग करने से क्या लाभ?

इस आशका का समाधान यह है—शब्द जब अर्थान्तर से युक्त होता है तभी व्यजक होता है। अभिधामूल व्यजना का आधारभूत शब्द अनेकार्थ तो होता है ही, किन्तु लाक्षणिक शब्द भी वाच्यार्थ तथा आरोपित अर्थ इस प्रकार दो अर्थो से युक्त होता है। यह तो ठीक ही है कि इस अर्थ की सहाय्यता से ही प्रत्येक शब्द व्यजक सिद्ध होता है, किन्तु ऐसे प्रसग में शब्द का ही प्राधान्य होने से, प्रधानव्यपदेशन्याय के आधार पर 'शाब्दी व्यजना' की सज्ञा दी जाती है। मम्मट कहते है—

> तद्युक्तो व्यजक शब्द यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
> अर्थोऽपि व्यजकस्तत्र सहकारितया मत॰।।

व्यजनाव्यापार से युक्त शब्द व्यजक शब्द है। ऐसा शब्द जब अर्थान्तर से युक्त होता है तभी व्यजक होता है एव यदि उसका अर्थान्तर से युक्त होना आवश्यक है तब वहाँ अर्थ भी सहकारिता से अर्थात् गौण रूप में व्यजक होता है। सप्रदायप्रकाशिनीकार उक्त कारिका की टीका में कहते है—"सहकारितया मत' इन शब्दो से मम्मट सूचित करते है कि शब्द अथवा अर्थ में से, जिससे प्रामुख्य से व्यजनाव्यापार की प्रतीति होती हो—ध्वनि को तन्मूलक समझना चाहिये। व्यपदेश नित्य प्रधानता के आधार से ही किये जाते है। किसी एक का इस प्रकार प्राधान्य होने पर अन्य उसका सहकारी हो जाता है। अतएव यह विभाग उपपन्न होता है" (५)। शब्दशक्तिमूल व्यजना

५. यतः शब्दात् अर्थात् वा प्रामुख्येन व्यजनाव्यापारप्रतीतिः, ध्वनि॰ तन्मूल इति व्यपदिश्यते। प्राधान्येन व्यपदेशा. भवन्ति। तदितरत् तु तत्र सहकारि इति उपपन्नैव व्यवस्था इति भावः।

में शब्द प्रधान एवम् अर्थ सहकारी होता है, और अर्थशक्तिमूल व्यजना में अर्थ प्रधान एव शब्द सहकारी होता है। मम्मट कहते है—

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तर यत ।
अर्थस्य व्यजकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता ।।

शब्द से जो अर्थ ज्ञात हुआ है वही यदि अर्थान्तर की प्रतीति कराता है तो अवश्य ही अर्थ की व्यजकता में शब्द की सहकारिता है।

अभिधा और लक्षणा दोनो शब्दवृत्तियाँ है। अतएव उनपर आधारित व्यजना शाब्दी व्यजना कहलाती है। उसे शाब्दी व्यजना कहने का एक महत्त्वपूर्ण कारण नागेशभट्ट ने 'उद्योत' में दिया है। नागेश कहते है—'शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वात् शब्दमूलकत्वेन व्यपदेश·।' व्यजना के अभिधामूल तथा लक्षणामूल भेदो में शब्दो की परिवृत्ति नही हो सकती। मूल में प्रयुक्त शब्दो को हटाकर उनके स्थान में पर्याय शब्दो का प्रयोग किया गया तो व्यग्यार्थ नष्ट हो जाता है। अभिधामूल व्यजना में शब्दो का अनेकार्थ होना आवश्यक होता है। उनके स्थान में पर्याय शब्दो का प्रयोग किया तो व्यग्यार्थ नष्ट होगा। उदाहरण के लिए, उपर्युक्त पद्य में 'अबला', 'वारिवाह' तथा 'चपला' इन शब्दो के स्थान में 'स्त्री', 'मेघ', 'विद्युत्' आदि पर्याय शब्दो का प्रयोग करने पर, वहाँ का प्रकृत अर्थ तो बना रहेगा किन्तु व्यग्यार्थ नष्ट होगा। लक्षणामूल व्यजना में भी शब्दो में परिवृत्ति नही हो सकती। 'गगायाम्' शब्द के स्थान 'गगातटे' का प्रयोग करने पर लक्षणा का प्रयोजन ही नष्ट होने से व्यग्यार्थ भी शेष नही रहेगा। साराश, अभिधामूल तथा लक्षणाभूल व्यजना में शब्दपरिवृत्ति की सभावना ही न होने से इन भेदो में व्यजना शब्दाश्रित ही होती है—अत एव वह शाब्दी व्यजना है। आर्थी व्यजना में शब्दपरिवृत्ति हो सकती है। मूल शब्द को हटाकर, पर्याय शब्दो का प्रयोग करने पर भी वहाँ व्यजना नष्ट नही होती। उदा 'सकेतकालमनसम्' आदि पद्य में मूल शब्द के स्थान पर पर्याय शब्द का प्रयोग करने पर भी व्यजना बनी रहती है। साराश, यहाँ व्यजना शब्दाश्रित न हो कर अर्थाश्रित होती है अत एव यह आर्थी व्यजना है। इस प्रकार यह व्यजनाविभाग उपपन्न होता है। नागेश का दिया हुआ यह कारण बडा महत्त्वपूर्ण है क्योकि यहाँ उन्होने अन्वय-व्यतिरेक की कसौटी रखी है। दोष, गुण तथा अलकारो के सबन्ध में भी साहित्य-शास्त्र का यही निकष होने से साहित्यशास्त्र के सभी क्षेत्रो में वह सुसगत है।

व्यंग्यार्थ समझने के लिए प्रतिभा आवश्यक है

व्यजना के सबन्ध में और भी एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। यह नहीं कि हर कोई व्यक्ति व्यग्यार्थ समझ सकेगा। व्यग्यार्थ समझने के लिए योग्यता

आवश्यक है.। प्रतिभावान् व्यक्ति ही व्यग्यार्थ को समझ सकते है। इस बात को मम्मट ने, 'प्रतिभाजुष्' शब्द का प्रयोग कर के स्पष्ट किया है। 'प्रतिभाजुष्' का अर्थ है 'सहृदय'। वाच्यार्थ को तो सभी समझ लेते है; किन्तु व्यग्यार्थ को समझने के लिए श्रोता या पाठक में प्रतिभा का होना आवश्यक है। और तो क्या, श्रोता से प्रतिभा का सहकारित्व होना व्यजना का प्राण है। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही कहा है—"प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वम् अस्माभिः द्योतनस्य प्राणत्वेन उक्तम्।" केवल शब्दज्ञान के बल पर काव्यार्थ को समझना असभव है। इस सबन्ध में प्रदीपकार का कथन ध्यान में रखने योग्य है। वे कहते है— "प्रतिभाजुष् शब्द का प्रयोग करके मम्मटाचार्य ने दर्शाया है कि, यदि प्रतिभा हो तभी व्यग्यार्थ प्रतीति होती है। प्रतिभा का अर्थ है नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा। प्रतिभा ही को वासना की भी सज्ञा है। यदि यह प्रतिभा न हो तो काव्य में व्यंजना का निमित्त होने पर भी पाठक को व्यग्यार्थ की प्रतीति नही होती। यही कारण है कि वैयाकरण को सहृदय के समान रसप्रतीति नही होती।" इसका समर्थक वचन भी है — "जो सवासन अर्थात् प्रतिभावान् है उन्हीको नाटच आदि में रसप्रतीति हो सकती है। नाटचगृह में उपस्थित अन्य निर्वासन अर्थात् प्रतिभाहीन दर्शक नाटचगृह के पाषाण और दीवारों के समान है" (६)। 'साहित्य-चूडामणि' में भी ऐसा ही कहा है— "वाच्यार्थ को पामर भी बिना कष्ट के समझ ले सकते है, किन्तु व्यग्य समझने की विदग्धता परिमित अधिकारी पुरुषों की ही होती है" (७)। इसके अतिरिक्त, स्वयं मम्मट ही 'शब्दव्यापारविचार' में कहते है—

> प्रज्ञावैमल्यवैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुज.।
> अभिधालक्षणायोगी व्यग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः॥

यथा सकेतेन मुख्यार्थबाधादित्रितयेन च सहायेन अभिधायको लक्षकश्च, यथा वा

---

६. प्रतिभाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा या वासना इत्युच्यते तस्यां सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यादिसत्त्वेऽपि व्यंग्यप्रतीतिः इति प्रतिपादितम्। अत एव वैयाकरणानां न तथा रसप्रतीतिः। तथा चोक्तम्–"सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत्। निर्वासनास्तु रंगान्तः वेश्मकुड्याश्मसन्निभाः"– साहित्यशास्त्र में 'प्रतिभा' तथा 'वासना' पर्याय शब्द हैं। सवासन का अर्थ है प्रतिभावान्। आधुनिक ग्रन्थकारों ने सवासन का अर्थ मनोविकारयुक्त कर के रसचर्चा में बडी गड़बड़ उत्पन्न की है। यह कहाँ तक ठीक है इसका मनीषी पाठक स्वयं निर्णय करें। शास्त्रों में संज्ञाओं के अर्थ निर्धारित किये होते हैं। एवं प्रत्येक शास्त्र की संज्ञा का उसीके अर्थ में प्रयोग करना आवश्यक होता है। उन संज्ञाओं का इस प्रकार प्रयोग न करने से क्या होता है इसका उपर्युक्त उदाहरण सूचक है।

७. पामरप्रभृतयोऽपि वाच्यमर्थमनायासादवबुध्यन्ते; व्यंग्यसंवेदनवैदग्ध्ये तु कतिचिदेवाधिकारिणः।

पक्षधर्मान्वियव्यतिरेकिसहगत विवक्षाया अनुमापकः, तथा प्रतिभाविदग्धपरिचय प्रकरणादिज्ञानसापेक्षो वाचको लक्षकश्च व्यग्यमर्थ ध्वनिशब्दो व्यनक्ति ।

सकेत की सहायता से शब्द वाचक होता है, मुख्यार्थबाध आदि निमित्तो से वह लक्षक होता है, पक्षधर्म-अन्वय-व्यतिरेक-आदि की सहायता से वह अनुमापक होता है, इसी प्रकार प्रतिभा की विमलता, विदग्धता का परिचय, प्रकरण आदि का ज्ञान आदि की सापेक्षता से वाचक एव लक्षक शब्द व्यग्यार्थ -प्रतिपादक अर्थात् व्यजक होता है। यही व्यापार 'ध्वनि' शब्द से प्रसिद्ध है। सारांश, प्रज्ञा-वैमल्य अर्थात् प्रतिभा की विशदता, तथा वैदग्ध्य के बिना व्यग्यार्थसवेदन की योग्यता ही प्राप्त नही होती ।

पूर्व लक्षरणा के विवेचन में बताया गया है कि नागेश ने शक्ति का प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध इस प्रकार विभाग किया है। अप्रसिद्ध अर्थ तो सहृदयो को ही ज्ञात होता है, तथा सहृदय विमलप्रतिभा से युक्त होते है। वक्ता, प्रकरण आदि की विशेषताएँ समझ लेने के पश्चात् प्रतिभावान् सहृदय की बुद्धि मे शब्द से अथवा अर्थ से जो एक सस्कारविशेष प्रतिभा की सहायता से उदित होता है या उसे ज्ञात होता है वह सस्कार-विशेष ही व्यजना है (८)। और अनुभव है कि इस प्रकार की यह सस्काररूप व्यजना सहृदय को शब्द, अर्थ, पद, पदविभाग, वर्ण, रचना, चेष्टा आदि सब में प्रतीत होती है। हम जब कहते है–'अनया मृगाक्ष्या कटाक्षेण अभिप्रायो व्यजित ।' तब हम चेष्टा का व्यजकत्व निर्देशित करते है। उस समय स्पष्ट होता है कि केवल शब्द ही नही, अपितु अर्थ भी व्यजक होता है। काव्य के अध्ययन से अथवा अभिनय के दर्शन से सहृदय की बुद्धि में प्रकाशित होने वाला सस्कार ही व्यजना का अथवा ध्वनि का स्वरूप है। इस सस्कारविशेष की पूर्णता रसप्रतीति में ज्ञात होती है ।

यह व्यजनाव्यापार अर्थात् सस्कारविशेष ही काव्यगत शब्दार्थो की विशेपता है। व्यग्यार्थ अथवा ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। इस व्यग्यार्थ का स्वरूप हम अगले अध्याय में देखेंगे ।

---

८. "ननु व्यञ्जना क· पदार्थः उच्यते। मुख्यार्थबाधनिरपेक्ष बोधजनकः, मुख्यार्थसंबन्धासंबंधसाधारणः, प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयकः वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रातिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यंजना।" –परमलघुमंजूषा ।

अध्याय तेरहवाँ

व्यंग्यार्थ (ध्वनि)

व्यंग्यार्थ — प्रतीयमान — ध्वनि

प्रतिभावान् रसिक को काव्य मे एक ऐसा अर्थ प्रतीत होता है जो कि मुख्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से पूर्णरूपेण भिन्न होता है। यह अर्थ है **व्यग्यार्थ**। इस व्यग्यार्थ ही को पूर्वाचार्यो ने **ध्वनि** की सज्ञा दी है। यह अर्थ प्रतीतिगम्य होता है इस लिये इसे **प्रतीयमान** भी कहते है। उपमा आदि अलकार वाच्यार्थ के विलास है। किन्तु इस अलकृत वाच्यार्थ से भिन्न एक रमणीय अर्थ रसिक को महाकवियो के काव्य में प्रतीत होता है। यह रमणीय प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है। ध्वनिकार कहते है —

> योऽर्थ सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मेति व्यवस्थित.।
> वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।
> तत्र वाच्य प्रसिद्धो य प्रकारैरुपमादिभि.।
> बहुधा व्याकृत सोऽन्यैस्ततो नेह प्रतन्यते ।।
> प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीपु महाकवीनाम्।
> यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।
> काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे. पुरा।
> क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ. शोक श्लोकत्वमागत· ।।

सहृदयो को आकृष्ट करता है इस लिए काव्य के जिस अर्थ को प्राचीन आचार्यो ने काव्य का सारभूत निर्धारित किया है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद कहे गये हैं। उन दोनो में वाच्यार्थ प्रसिद्ध है एव उपमा आदि प्रकारों से अनेक आचार्यों ने उसका व्याख्यान किया है (इस लिये उसका यहाँ हम विवेचन नहीं करेंगे) किन्तु

जिस प्रकार कामिनी के अवयवसस्थान से अत्यंत भिन्न लावण्य होता है उसी प्रकार महाकवियो के काव्य में वाच्यार्थ से विलक्षण एक प्रतीयमान वस्तु (अर्थ) रसिकजन को प्रतीत होती है। यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है। (काव्य में यद्यपि वाच्य और वाच्यार्थ का वैचित्र्यपूर्ण रचनाप्रपच पाया जाता है तथापि यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का सारभूत अर्थ है।) उदाहरण के लिए, आदिकवि वाल्मीकि के काव्य में, क्रौचनामक पक्षियो के जोड़े के वियोग से उत्थित शोक ही (यह मुनि का शोक नही है) श्लोक रूप में परिणत हो गया है। रामायण में जो करुणरस प्रतीत होता है उसका यह शोक ही स्थायीभाव है। यह तो ठीक है कि करुण की यह प्रतीति वाच्यार्थ के द्वारा ही होती है, परन्तु वह वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न तथा स्वतन्त्र है।

महाकवियो के काव्य में प्रतीयमान अर्थ होता है तथा रसिकजनो को वह प्रतीत भी होता है। यह अर्थ स्वसंवित्सिद्ध अर्थात् अनुभवसिद्ध है। इस लिए उसका अस्तित्व कोई भी अस्वीकार नही कर सकता। दूसरी बात यह है कि महाकवियो की वाणी में जब यह अर्थ स्यदित होता है तभी उन कवियो की अलोकसामान्य प्रतिभा भी उसमें प्रकट होती है। महाकवि के काव्य में प्रतीयमान अर्थ का तथा कविप्रतिभा का रसिक को समकाल ही प्रत्यय होता है। ध्वनिकार कहते है —

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम्॥

इस प्रतिभाविशेष ही से महाकवि और क्षुद्रकवियो में रसिक भेद कर सकते है। वैसे तो ससार में कवि असख्यात पाये जाते है किन्तु कालिदास के समान महाकवि दो तीन या अधिक से अधिक पाँच छः ही मिलेंगे।

इतना ही नहीं कि प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से विलक्षण तथा स्वतन्त्र होता है। उसकी प्रतीति होने के लिये रसिक में भी कुछ विशेष योग्यता होना आवश्यक है। अन्यथा केवल शब्दज्ञान ही से वह अर्थ ज्ञात हो जाता। किन्तु ऐसा नही होता। केवल वाच्यवाचक के ज्ञान से प्रतीयमान अर्थ प्रतीत नही होता; उसे समझने के लिए पाठक का काव्यार्थतत्त्वज्ञ होना आवश्यक है।

यह प्रतीयमान अर्थ तथा उसके अभिव्यजक शब्द अथवा शब्दसमूह की विशिष्टता होना ही महाकवित्व का गमक है। कवि को महाकवित्व की पदप्राप्ति वाच्य और वाचक के वैचित्र्य से नही होती अपितु व्यग्य और व्यजक के उचित प्रयोग ही से होती है। महाकवियो के काव्य में इस प्रकार व्यग्यार्थ एव व्यंजक शब्द ही का प्राधान्य होने से, व्यग्यव्यजकभाव अर्थात् व्यंजनाव्यापार को आप ही प्राधान्य प्राप्त हो जाता है।

हाँ, इतना अवश्य है कि इसके लिये वाच्य और वाचक का कवि को आश्रय

लेना पडता है । महाकवि के काव्य में व्यंग्य और व्यंजक का प्राधान्य रहता है अवश्य, किन्तु फिर भी उनका आश्रय वाच्यवाचकभाव ही होता है । इस बात को आनन्दवर्धन दीपक के दृष्टान्त से विशद करते हैं । हम प्रकाश चाहते है । उसके साधन के रूप में हम दीपक का आश्रय करते है। दीपक के बिना यदि हमें प्रकाश मिल गया तो दीपक के लिए हम प्रयास नही करेंगे। इसी तरह प्रतीयमान अर्थात् व्यंग्य अर्थ के साधन के रूप में महाकवि वाच्य और वाचक का एवं तद्गत सौदर्यसाधनो का (अलकारो का) आश्रय करता है । वाच्यवाचक के बिना व्यग्य की प्रतीति नही हो सकती इसी लिये उसे वाच्य और वाचक का अवलबन करना आवश्यक हो जाता है । व्यग्य और वाच्य में साध्यसाधनभाव है । किन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि वहाँ वाच्य और वाचक का प्राधान्य होता है । व्यग्य और वाच्य का सबन्ध पदार्थ और वाक्यार्थ के सबन्ध के समान होता है । वाक्यार्थज्ञान पदार्थों के द्वारा ही होता है, किन्तु वाक्यार्थ की दृष्टि से पदार्थो का प्राधान्य नही होता । इसी तरह, वाच्यार्थ के द्वारा व्यग्यार्थ प्रतीत होता है किन्तु व्यग्यार्थ की दृष्टि से वाच्यार्थ का प्राधान्य नही होता । इतना ही नही तो आकांक्षा, योग्यता, तथा सनिधि से अन्वित होकर पदार्थ जब वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते है, तब वाक्यार्थ की प्रतीति होने के समय पदार्थो का स्वतन्त्र रूप में पृथक् ज्ञान नही होता, वैसे ही वाच्यार्थ के द्वारा जब व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है तब वाच्यार्थ का स्वतत्र एव पृथक् ज्ञान नही होता । पाठक यदि सहृदय हो तो, उसका चित्त व्यंग्यार्थ पर ही एकाग्र होने से वाच्यार्थ का उसे अलग रूप में भान ही नही होता एव उसकी प्रज्ञा (तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि) में व्यग्यार्थ सहसा अवभासित होता है (१) । महाकवियो के काव्य में वाच्य और वाचक का प्रयोग केवल व्यंग्यार्थ के साधन के रूप में किया जाता है । अतएव व्यग्यार्थ की दृष्टि से वाच्यवाचक एव तद्गत् अलकारो का गौणत्व होता है । इस प्रकार, जिस काव्य में वाचक शब्द एव वाच्य अर्थ गौण रहते हुए साधन के रूप में, प्रतीयमान अर्थात् व्यग्य अर्थ को प्रधानता से अभिव्यक्त करते

१. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जन· ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये स आदृतः ॥
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः संप्रतीयते ।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥
स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन् ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥
तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ।

है उस काव्यविशेष को '**ध्वनि**' अथवा '**ध्वनिकाव्य**' की सज्ञा दी जाती है। ध्वनिकार कहते है—

यत्रार्थ· शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त , काव्यविशेष· स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥

ध्वनि का अर्थात् प्रतीयमान अर्थ का विस्तरश विवेचन आनन्दवर्धन के '**ध्वन्यालोक**' नामक ग्रन्थ मे किया गया है। इस ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त की '**लोचन**'-नामक टीका है। इस ग्रन्थ का तथा टीका का अध्ययन किये बिना साहित्यशास्त्र का अध्ययन पूरा नही होता। इस ग्रन्थ का सार भी यहाँ देना असभव है। म म पा. वा काणे महोदय ने अपने साहित्यशास्त्र के इतिहास में इस ग्रन्थ का परिचय दिया है, उसे जिज्ञासु देखे। जो साहित्यशास्त्र में कुछ गति चाहते है उनके लिये मूल 'ध्वन्यालोक' तथा 'लोचन' टीका का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

लौकिक तथा अलौकिक ध्वनि

थोडा ध्यान देने से प्रतीयमान अर्थ की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हो जायँगी। पद्य के द्वारा सूचित होनेवाले व्यग्य अर्थ का कभी कभी ऐसा रूप होता है कि यदि हम चाहे तो उसे वाच्य अर्थ के रूप में भी प्रकाशित कर सकते है। उदाहरण के लिए —

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ॥

यहाँ नायिका पति से कहती है — 'आप यात्रा जाएँ या न जाएँ।' यह वाच्यार्थ विधिरूप भी नही है और प्रतिषेधरूप भी नही है। किन्तु इसमें अभिप्राय अर्थात् सूचित अर्थ है – "आप यात्रा न जाए।" और यह अर्थ निषेधरूप ही है। नायिका यदि चाहती तो इस अर्थ को शब्दो द्वारा स्पष्ट रूप मे कह सकती थी। इसी प्रकार—

गुजन्ति मंजु परित. गत्वा धावन्ति सम्मुखम् ।
आवर्तन्ते निवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रता. ॥

यहाँ वाच्यार्थ है — भ्रमर गुजारव करते हुए सरोवर की ओर जा रहे है और वहाँ से लौट रहे है। किन्तु इससे सूचित किया है कि कमलो कि उत्पत्ति का समय समीप आया है तथा इसके द्वारा सूचित किया है शरद् ऋतु का आगमन। इस अभिप्राय को कवि स्पष्ट रूप में शब्दो द्वारा भी बता सकता था।

इस प्रकार अनेकश व्यग्य अर्थ का अभिधान वाच्य अर्थ के रूप में किया जा सकता है। इस प्रकार के व्यग्य को '**लौकिक व्यंग्य**' की सज्ञा है। यहाँ 'लौकिक' पद का अर्थ है 'शब्दो के द्वारा जो वाच्य हो सकता है'। किन्तु व्यग्य अर्थ का और भी एक भेद है जो इससे विलक्षण है। वह व्यग्यार्थ कभी शब्दों द्वारा वाच्य नही हो सकता। उदाहरण के लिये —

उत्कपिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिश विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ।।

वासवदत्ता के जल जाने का समाचार जब वत्सराज ने सुना तब शोक के आवेश में वे कहने लगे — "भय से तुम कम्पित हो गयी होगी; उस दशा में अञ्चल के छोर के गिरने का भी तुम्हे ध्यान न रहा होगा, **और वे तुम्हारी आँखें** ! कातर होकर चारो ओर ताकती होगी ! इस अवस्था मे भी अग्नि ने तुम्हे जला दिया । पर धूम से अन्ध अग्नि तुम्हारी इस अवस्था को कैसे देखें ?" इस छन्द में "**ते लोचने** — वे तुम्हारी आँखे" ये शब्द रसिक के समक्ष कितना ही विशाल अर्थ खडा कर देते है ! वासवदत्ता की उन आँखो ने उदयन को कितने ही बार गूढ सदेश दिये होगे, मन के विविध अभिप्राय उन आँखो ने अनन्त प्रकारो से सूचित किये होगे । इन्ही आँखो ने उज्जयिनी में उदयन को विद्ध किया था । सिप्रातट के स्नानगृह से वत्स देश की ओर प्रस्थान करते समय मातापिता के वियोग का दु ख, पति के सगति का आनद, और 'मेरी यह भूल तो नही हो रही है ?' इस प्रकार का सभ्रम एव भय इन्ही आँखो में तरलित होता हुआ उदयन ने देखा होगा। वे आँखें आज स्मृतिशेप हो गयी ! जीवन का वह आनन्द नष्ट हो गया । वासवदत्ता का वह गाढ स्नेह, वह क्रीडाप्रिय स्वभाव, वह साहसिकता, उसके सहवास का सुख आदि अनत अर्थ 'ते' इस एक छोटे से शब्द में भर दिये गये है । और वासवदत्ता की मृत्यु के उपरान्त उदयन के मन में हल्ला करती हुई अचानक उठने वाली ये स्मृतियाँ उदयन के शोक की तीव्रता रसिक को प्रतीत कराती है । 'उदयन को बहुत शोक हुआ, पूर्वकाल के सुखो की स्मृति से उनका शोक उमड आया' आदि प्रकारो से इस अर्थ को कथन करने का प्रयास करने पर भी 'ते लोचने' इन दो शब्दो के द्वारा जो प्रतीति होती है उसका स्वरूप उनमें स्पप्ट नही होगा । इस पद्य में अभिप्राय केवल प्रतीतिगम्य है, शब्दवाच्य नही । दूसरा उदाहरण—

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी
निहता नीरजकोरकेण मन्दम् ।
दरकुण्डलताण्डव नतभ्रू-
लतिक मामवलोक्य घूर्णितासीत् ।

"दोपहरी के समय, सास, ननद आदि गुरुजनो के मध्य मेरी प्रियतमा बैठी थी । मैंने चुपके चुपके उसकी ओर कमल की कली फेंकी । चौक कर उसने मेरी ओर देखा, और भृकुटी भग करते हुए इस प्रकार सिर डुलाया कि उस समय का भृकुटी और कुडलो का नर्तन अब भी मेरी आँखो के सामने है ।' इस पद्य में 'घूर्णिता'

इस एक ही पद में कितना अर्थ भर दिया है। 'यह कैसा पागलपन! कुछ तो समय का ध्यान रखना चाहिये।' इस रूप में कोप (अमर्ष) एवं उस कोप में भी नायिका की सुदरता निखर उठती है इस लिए नायक को होनेवाला आनन्द एवं इन दोनो भावों के सयोग के द्वारा प्रतीत होनेवाली उन दपती की प्रीति रसिक के आस्वाद का विषय होती है। इस आस्वाद प्रत्यय का वर्णन, 'उसने क्रोध से मेरी ओर वक्र-दृष्टि से देखा।' आदि शब्दों से सर्वथा असभव है। सारांश, उपर्युक्त दो पद्यो में जो व्यग्यार्थ है वह स्वशब्द से वाच्य नही हो सकता, वह तो आस्वाद-प्रतीति का ही विषय है। इस प्रकार के व्यग्यार्थ को '**अलौकिक व्यंग्य**' कहते है।

व्यग्यार्थ के लौकिक और अलौकिक इस प्रकार दो भेद ऊपर बताये जा चुके है। इन दोनो में भेद यह है कि लौकिक व्यग्य स्वशब्दवाच्य होता है, और अलौकिक व्यग्य के स्वशब्दवाच्य होने की स्वप्न में भी कल्पना नही की जा सकती। लौकिक अर्थात् स्वशब्दवाच्य व्यंग्य के भी दो भेद होते है। उपर्युक्त 'जीविताशा बलवती' या 'गुजन्ति मजु परितः।' आदि दोनो उदाहरणो में व्यग्य केवल वस्तुस्वरूप है। इसके अतिरिक्त कई बार व्यग्यार्थ वैचित्र्यपूर्ण भी हो सकता है। उदाहरण के लिए—

सहि विरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम्।
पिअदसण विहलखलखणम्मि सहसति तेण ओसरिअम्॥

"सखि, उस समय तुमने मेरा धीरज बधाया। उस धीरज के बल पर मै प्रियतम से रूठ गयी। सोचा कि रूठन निभाने में तुम्हारी बात सहाय्यक होगी। किन्तु प्रियतम के दर्शन से मन में जब उतावली होने लगी तो तुम्हारा बन्धाया धीरज पता नही कहाँ भाग खडा हुआ।" 'प्रियतम के मनाने के पूर्व ही वह प्रसन्न हो गयी' इस प्रकार की विभावना यहाँ सूचित हो रही है। अथवा —

दयिते वदनत्विषां मिषात्, अयि तेऽमी विलसन्ति केसरा।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलय.॥

"प्रिये, तुम्हारी दन्तप्रभा के व्याज से यह केसर ही शोभायमान हो रहे है। और कृष्णवर्ण अलको का वेष धारण किये ये भ्रमर ही मधुपान के लिये उत्कण्ठित हुए है।" इस पद्य के वाच्यार्थ में अपह्नुति अलंकार है। तथा इस पर से 'तुम युवती न हो कर कमलिनी हो' इस प्रकार का और एक अपह्नुति अलकार सूचित हुआ है। इस प्रकार व्यग्यार्थ वैचित्र्यपूर्ण भी हो सकता है। यह भी व्यंग्यार्थ का 'लौकिक' भेद है। क्योकि, चाहे तो इसे वाच्यरूप में रख सकते है। उपर्युक्त सपूर्ण विवेचन पर ध्यान देने से प्रतीयमान अर्थात् व्यग्यार्थ के कुल भेद निम्न रूप में दर्शाये जा सकते है —
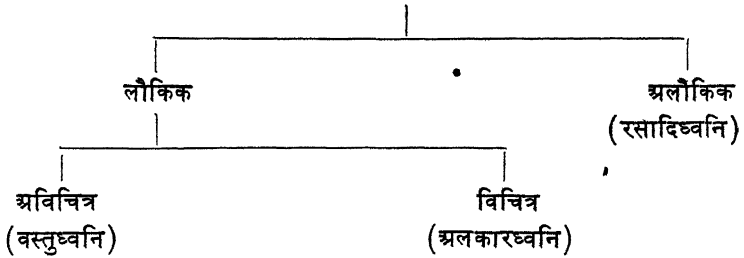
प्रतीयमान के अविचित्र, विचित्र तथा अलौकिक इन भेदो को ही ध्वन्यालोक एवम् अन्य साहित्य ग्रथो में क्रमशः वस्तुध्वनि, अलकारध्वनि तथा रसादिध्वनि की सज्ञाओं से निर्देशित किया गया है। ध्वनि के ये तीनो भेद क्या हैं यह अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में इस प्रकार विशद रूप में समझाया है—

"प्रतीयमान के दो भेद होते हैं। एक भेद है लौकिक और दूसरा भेद है मात्र काव्यव्यापारही के (व्यजनाव्यापार ही के) द्वारा गोचर होने वाला। प्रतीयमान का लौकिक भेद कई बार स्वशब्द से भी वाच्य हो सकता है। उसके विधि, निषेध आदि अनेक भेद होते हैं एव 'वस्तु' शब्द से वह बताया जाता है। एक भेद यह है कि यदि व्यग्यार्थ को वाच्यार्थ का रूप दिया गया अर्थात् सूचित अर्थ को शब्दो से स्पष्ट रूप मे कथन किया तो उसे अलंकार का रूप प्राप्त होता है। दूसरा भेद यह, है कि उस व्यग्यार्थ को वाच्यार्थ के रूप में लाया भी तो उसे अलंकार का रूप प्राप्त नहीं होता, वह केवल वस्तुरूप ही रहता है। इनमें से पहले को 'अलंकारध्वनि' कहते हैं एव दूसरे को 'वस्तुमात्र' अर्थात् 'वस्तुध्वनि' कहते है। प्रतीयमान का वह भेद जो कि काव्यव्यापारगोचर बताया गया है वह स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नही होता। वह वाच्यार्थ की अवस्था में आ ही नही सकता। उसका स्वरूप लौकिक व्यवहार की मर्यादा में भी नहीं आता (लौकिक सुखदुखों का वह विषय नही होता)। प्रत्युत, काव्यगत गुणालंकार संस्कृत शब्दों द्वारा रसिक में हृदयसंवाद उत्पन्न होता है, उसमें रसिक को विभाव, अनुभाव आदि का सौदर्य प्रतीत होता हैं; उस प्रत्यय के साथ ही उन विभावानुभावों के लिए उचित तथा रसिक के मन में पूर्वनिविष्ट रति आदि वासनाओं का जो धीरे से उद्बोध होता है उस उद्बोध का सौदर्य भी उसे प्रतीत होता है; एवं रसिक की सवित् सुकुमार अर्थात् चर्वणायोग्य होकर रसिक के आनन्दमय चर्वणाव्यापार ही के कारण वह अर्थ आस्वादनीय अर्थात् रसनीय होता है। इस प्रकार यह काव्यार्थ, मात्र काव्यव्यापार ही से अर्थात् व्यंजनाव्यापार ही से गोचर होता है; शब्दों से वह गोचर नहीं होता। इस प्रकार

का, काव्यव्यापार ही से गोचर होने वाला यह अर्थ ही रसध्वनि (रसादिध्वनि) है। यह अर्थ ध्वनित ही होता है; वाच्य नही होता। अत एव यह व्यजनाव्यापार ही का – जोकि केवल काव्य ही में पाया जाता है – विषय होता है। अन्य किसी भी व्यापार का यह विषय नही होता। अतएव रसादिध्वनि ही मुख्यतया काव्यात्मा है।" (२)

संलक्ष्यक्रम तथा असलक्ष्यक्रम

एक ओर रसादिध्वनि (अलौकिक) और दूसरी ओर वस्तु तथा अलकारध्वनि इन दोनो में एक और भेद है। वह यह कि रसादिध्वनि की सहसा प्रतीति होती है। अर्थात् जिन विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा रसादि प्रतीति होती है उन विभाव, अनुभाव आदि का क्रम रसिक के ध्यान में नही आता। अतएव रसादिध्वनि को **असंलक्ष्यक्रमध्वनि** कहा जाता है। इसके विपरीत, जब वस्तु अथवा अलकार ध्वनित होते है तब जिस क्रम से वे ध्वनित होते है वह क्रम हमारे ध्यान मे आ जाता है। अतएव साहित्यशास्त्र मे उन्हे **संलक्ष्यक्रमध्वनि** की सज्ञा दी गयी है। रसादिध्वनि में भी विभाव आदि का क्रम तो होता ही है, यह बात नही कि नही होता, केवल यही है कि रसिक को वह प्रतीत नही होता।

---

२. प्रतीयमानस्य तावत् द्वौ भेदौ – लौकिक, काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिक, य. स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविध·—य· पूर्वं क्वापि वाक्यार्थे अलकारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत्, इदानी तु अनलंकाररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वं प्रत्यभिज्ञानबलात् अलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षित वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्य·, न लौकिकव्यवहारपतित., किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसवादसुन्दरविभानुभाव-समुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूप: रस, स काव्यव्यापारैकगोचर. रसध्वनि. इति। स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतया आत्मा इति।

ब्राह्मणश्रमणन्याय — कोई ब्राह्मण यदि बौद्धसंन्यासी (श्रमण) हो गया तब वह शिखा-सूत्र त्याग करता है। किन्तु यह शिखासूत्रत्याग विधिपूर्वक न होने से उसके श्रमणत्व को भी ब्राह्मणत्व लगा रहता है। एवं वह ब्राह्मणश्रमण के नाम से पहचाना जाता है। अलकारध्वनि का भी ऐसा ही है। अलंकारत्व वास्तव में वाच्यार्थ का धर्म है, ध्वन्यर्थ का नही। जिसे हम अलकारध्वनि कहते हैं वह ध्वन्यर्थ ध्वन्यर्थ स्वरूप में वस्तुमात्र ही होता है। किन्तु वाच्यार्थ-स्वरूप में उसे अलंकारत्व प्राप्त होने से, वह अलकारत्व ध्वन्यर्थरूप में भी उसे पूर्वप्रत्यभिज्ञा के कारण प्राप्त होता है। यह ठीक उस बौद्धश्रमण के समान है जिसका कि पहला ब्राह्मणत्व अब भी माना जाता है। इस लिए, व्यंग्यार्थावस्था में जो अर्थ वस्तुस्वरूप होता है उसे, उसका वाच्यार्था-वस्था में जो अलंकारत्व था वह प्राप्त होता है और उस व्यंग्यार्थ को 'अलंकारध्वनि' की संज्ञा दी जाती है।

ध्वनिकार ने इस बात को पदार्थ की तथा वाक्यार्थ की प्रतीति के दृष्टान्त से दर्शाया है। जिस प्रकार पदार्थद्वारा ही वाक्यार्थप्रतीति होती है उसी प्रकार व्यग्यार्थप्रतीति भी वाच्यार्थपूर्विका ही होती है; किन्तु जिसका शब्दो का ज्ञान अच्छा है ऐसे व्यक्ति को जब वाक्यार्थप्रतीति होती है तब, यह प्रतीति यद्यपि पदार्थो के द्वारा होती है तथापि उन पदार्थो की स्वतन्त्र प्रतीति एव वाक्यार्थनिष्पत्ति का क्रम उस व्यक्ति के ध्यान मे नही आता। नौसिखिया शब्दज्ञानी एवं कुशल शब्द-ज्ञानी—दोनो की प्रतीति में क्रम तो एक ही रहता है—पहले शब्द, फिर शब्दार्थ, उसके बाद उनमे परस्पर संबन्ध और अन्त में वाक्यार्थ। किन्तु नौसिखिया क्रमश वाक्यार्थ तक पहुँचता है, और कुशल व्यक्ति को शब्द सुनते ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है—शब्द और वाक्यार्थ के बीच जो क्रम है उसका उसे स्वतन्त्र रूप मे भान नही होता। सहृदय रसिक का भी ऐसा ही अनुभव होता है। उसको भी रसप्रतीति विभावानुभावो द्वारा ही होती है, किन्तु यह विभाव है, ये अनुभाव है, ये सचारी है और यह रस है इस प्रकार क्रम का उसे भान नही होता (३)। काव्य पढने के समकाल ही उसे रसप्रतीति होती है। यही '**झटितिप्रत्यय**' है। "सातिशयानुशीलनाभ्यासात् तत्र सभाव्यमानोऽपि क्रम. सजातीयतद्विकल्पपरपरानुदयात् अभ्यस्तविषयव्याप्तिसमस्मृतिक्रमवत् न सवेद्यते।" ऐसा अभिनवगुप्त ने इस सवन्ध में कहा है। अतएव इसकी असलक्ष्यक्रमता का विवेचन करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है—"रसादिरर्थो हि **सहेव** वाच्येन अवभासते।" रस आदि का प्रत्यय, विभावादि वाच्यो के मानो समकाल ही हो इस प्रकार आता है। और 'इव' शब्द के प्रयोग से दर्शाया है कि रसादि प्रतीति में क्रम यद्यपि विद्यमान है तथापि ध्यान में नही आता। (४)

इसके विपरीत, वस्तुध्वनि अथवा अलकारध्वनि में वाच्यार्थ एव ध्वन्यर्थ के बीच जो क्रम है उसकी ओर ध्यान जाता है। अतएव उन्हे 'सलक्ष्यक्रमध्वनि' कहा जाता है। उदाहरण के लिये—

> निरूपादानसभारमभित्तावेव तन्वते।
> जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

"उन चन्द्रकलाभूषित महादेव को नमस्कार—जो विना किसी साधन-सामग्री के-शून्य मे से इस वैचित्र्यपूर्ण जगत् को निर्माण करते है।" इस पद्य में शिवजी

३ यथा अत्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः। काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रम अभ्यस्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवत् असंवेद्यः—अभिनवगुप्त लोचन

४. इव शब्देन असंलक्ष्यक्रमता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता।—लोचन

की स्तुति है अत एव उपर्युक्त अर्थ इस पद्य का वाच्यार्थ है। किन्तु इस पद्य को पढ़ते पढ़ते, रसिक के मन में दूसरा भी एक अर्थ तरगित होता है — " किसी प्रकार की (तूलिका, रंग आदि) उपकरण-सामग्री न लेते हुए, विना किसी आधार के ही (अभित्ति) जो जगत् का चित्र अंकित करते हैं उन-कलाकारों के लिये भी श्लाध्य भगवान् शिवजी को नमस्कार है।" यह व्यंग्यार्थ है क्योकि इस पद्य में शब्दों की अभिधाशक्ति पहले ही वाच्य अर्थ में सीमित होने से यह दूसरा अर्थ व्यंजनाव्यापार से ही प्रतीत होगा। यह व्यग्यार्थ ध्यान में आते ही अन्य सामान्य चित्रकारो की अपेक्षा यह चित्रकार (शिवजी) श्रेष्ठ है इस प्रकार व्यतिरेक ध्वनित होता है। इस प्रकार इस पद्य में वाच्यार्थ अन्ततोगत्वा व्यतिरेक ध्वनि में विश्रान्त हुआ है। जिस क्रम से वह विश्रान्त हुआ है वह क्रम भी रसिक को प्रतीत होता है इस लिये यह '**संलक्ष्यक्रमध्वनि**' है। सलक्ष्यक्रमध्वनि में वाच्यार्थ से जब व्यग्यार्थ प्रतीत होता है तो एक के पीछे एक अर्थवलय — व्यंग्यार्थ के — उत्पन्न होते रहते हैं। घटानाद के समय पहले आघात के साथ एक ध्वनि होता है और तत्पश्चात् देर तक उसीके अनुनाद सुनायी देते हैं। ऐसा ही सलक्ष्यक्रम ध्वन्यर्थ का भी होता है। अतएव उसे '**अनुस्वान**' अथवा '**अनुरणन**' ध्वनि भी कहा गया है। यह अनुस्वानरूप व्यग्यार्थ प्रतीति शब्दशक्ति तथा अर्थशक्ति के कारण अनेक प्रकारों की पायी जाती है, अत एव साहित्यशास्त्र में इस ध्वनिप्रकार के अनेक उपप्रकार बताये गये है।

रसादि ध्वनि क्वचित् सलक्ष्यक्रम भी हो सकता है

रसादिध्वनि की प्रतीति में इस प्रकार का क्रम ध्यान में नही आता। वहाँ भी क्रम तो होता ही है; यह बात नही कि नही होता किन्तु इतना ही है कि रस-प्रतीति के समय उस क्रम की प्रतीति नही होती। यहाँ एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये, रसप्रतीति एक अलग बात है और रसप्रतीति किस प्रकार हुई इसकी विवेचना एक अलग बात है। हम किसी काव्य को पढते हैं तो पठन के सम-काल ही जिसका अनुभव होता है वह आनन्दप्रतीति ही रसप्रतीति है। किन्तु यह रसप्रतीति किस प्रकार हुई इस बात का जब हम विचार करते हैं अथवा व्याख्यान करते हैं तब वह रसप्रतीति का विवेचन होता है। साक्षात् रसास्वाद के समय जिसकी ओर हमारा ध्यान नही था किन्तु जो वास्तव में वहाँ विद्यमान था उस क्रम को हम ऐसे विवेचन में विशद करते हैं। यह विवेचन ध्वनि नहीं है। अनुभूत ध्वनि का वह विवेचन है। रसादि ध्वनि असलक्ष्यक्रम है, किन्तु कभी प्रसगवश वह संलक्ष्यक्रम भी हो सकता है। उदाहरण के लिये पार्वतीजी की मँगनी के लिये शिवजी की ओर से सप्तर्षि हिमालय के निकट पहुँचे और यथाविधि उन्होंने विवाह

ही होता है!' किन्तु जगन्नाथ ने उपर्युक्त प्रकार से रसादि का सलक्ष्यक्रमत्व भी दर्शाया है। आनन्दवर्धन ने इस प्रकार के ध्वनि को अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का प्रकार बताया है, और कहा है कि जहाँ विभावादि की साक्षात् शब्दप्रतीति द्वारा रसादि प्रतीति होती है वहाँ असलक्ष्यक्रम होता है। इसका अर्थ यह होता है कि रसभावादि अर्थ नित्य ध्वनित ही होते है, वे कभी वाच्य नहीं होते, किन्तु ऐसा भी नही है कि वे सब अलक्ष्यक्रम ही होते हैं। जहाँ विभावादि से झटिति प्रत्यय होता है वहाँ रसादि अलक्ष्यक्रम होता है; किन्तु जहाँ प्रकरण आदि के अनुस्मरण से रसादि प्रतीति होती है वहाँ तो क्रमव्यग्यता ही होती है ऐसा अभिनवगुप्त ने इस पर कहा है। जिज्ञासु 'ध्वन्यालोक' २।२२ पर मूल लोचन देखें।

ध्वनि के भेद

व्यंजनाव्यापार तथा ध्वनि का यहाँ तक भिन्नभिन्न दृष्टियो से किया हुआ विवेचन अब एकत्रित करे। सर्वप्रथम ध्वनि का विभाग हमने लक्षणामूल ध्वनि तथा व्यजनामूल ध्वनि इस प्रकार किया। यह विचार वाच्यदृष्टि से किया गया है। लक्षणामूल मे वाच्यार्थ विवक्षित ही नही होता। इस लिये उसे '**अविवक्षितवाच्य**' भी कहते है। अभिधामूल ध्वनि मे वाच्य विवक्षित होता है। परन्तु उसका पर्यवसान व्यग्यप्रतीति मे होता है। अतएव उसे '**विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि**' भी कहा जाता है। ध्वनि का दूसरा विभाग अभिव्यक्ति के भेद से किया गया है। व्यग्यार्थ जब अभिव्यक्त होता है तब उस अभिव्यक्तिव्यापार में जो क्रम है वह या तो ध्यान में आयेगा या नही आयेगा। इस दृष्टि से ध्वनि के दो भेद होते हैं— '**सलक्ष्यक्रमध्वनि**' तथा '**असंलक्ष्यक्रमध्वनि**'। ध्वनि का तीसरा विभाग व्यजक मुख से होता है। ध्वनि या तो '**शब्दशक्तिमूल**' होगा (उदा भद्रात्मनो इ) या '**अर्थशक्तिमूल**' होगा (उदा सकेतकालमनसम् इ) या '**उभयशक्तिमूल (शब्दार्थ-शक्तिमूल)**' होगा (५) ध्वनि का अन्तिम विभाग व्यग्यमुख से होता है। इस दृष्टि

---

५. उभयशक्तिमूल या शब्दार्थशक्तिमूल ध्वनिका उदाहरण—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्॥

यहाँ रात्रिवर्णन से अभिप्राय है। इस लिये इस पद्य का वाच्यार्थ है—"स्वच्छ चन्द्रमा जिसका आभूषण है, जो कामवृत्ति को उद्दीपित करता है एवं जो विरल तारिकाओं से युक्त है ऐसी यह चाँदनी की रात्रि (श्यामा) किसे हर्षित नहीं कर देगी?" इस वाच्यार्थ के साथ ही निम्न व्यंग्यार्थ भी रसिक के मन में तरंगित होता है—"विलास के लिये तत्पर चन्द्रभूषण से (चन्द्रहार से) अलंकृत, आनन्द से युक्त (समुद्), कामवृत्ति को जगा देने वाली (दीपितमन्मथा), एवं चंचल दृष्टि से युक्त (तारकातरला) युवती (श्यामा) किसे हर्षित नहीं कर देगी?"

(शेष अगले पृष्ठ पर)

(अ) हेमचन्द्र ने 'उभयशक्तिमूल' का 'शब्दशक्तिमूल' में ही अन्तर्भाव किया है। उनकी मान्यता के अनुसार ९ ही भेद होगे।

(आ) अर्थ लोकसिद्ध हो सकता है, या कविप्रौढोक्ति से उत्पन्न हो सकता है। अर्थ के इन दो प्रकारो के अनुकूल, उपर्युक्त अर्थशक्तिमूल चार भेदो के एकैकश और दो दो भेद होगे तथा कुल ध्वनिप्रकार १४ होगे। जगन्नाथ ने इस प्रकार १४ भेद किये है।

(इ) आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए मम्मट और विश्वनाथ अर्थ के तीन भेद मानते है। वे इस प्रकार— [१] लोकसिद्ध (स्वत संभवी), [२] कवि प्रौढोक्ति–निर्मित, तथा [३] कविनिर्मितपात्र प्रौढोक्तिनिर्मित। इस दृष्टि से अर्थशक्तिमूलध्वनि के बारह भेद होते हैं एव ध्वनि के कुल भेद अठारह होते है। हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ ने 'कविनिर्मित पात्र प्रौढोक्ति' का अन्तर्भाव 'कविप्रतिभाव-निर्मित' (कविप्रौढोक्ति) उक्ति में ही किया है।

से ध्वनि के तीन भेद होते है –'**वस्तुध्वनि**', '**अलंकारध्वनि**' और '**रसादिध्वनि**'। इस प्रकार वाच्यमुख से, व्यजनाव्यापारमुख से, व्यजकमुख से तथा व्यग्यमुख से ध्वनि के विभाग कैसे किये जाते है यह हमने देखा। इन सब विभागो का एकत्र करने से ध्वनि के कुल प्रकार पृ. २२३ पर दी हुई सूचि के अनुसार होगे।

गत अध्याय में व्यजना के प्रकारो की सूचि दी गई है। उस सूचि के अनुसार उपर्युक्त ध्वनिभेद निम्न रूप में दर्शाये जा सकते है।
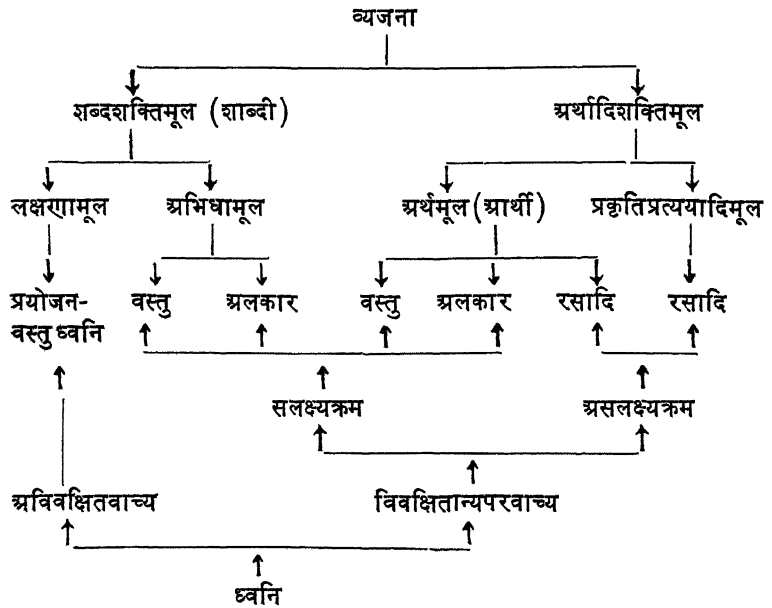
ध्वनि के तीन भेद है — वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसादिध्वनि। शब्द तथा अर्थ व्यग्यार्थ को अभिव्यक्त करते है अतएव वे व्यंजक है। शब्द तथा अर्थ में जो व्यंजनाव्यापार होता है उसके द्वारा ये ध्वन्यर्थ अभिव्यक्त होते हैं, अत एव

(पृष्ठ २२० से)

यहाँ चन्द्र, समुद्दीपित, तारका, तथा श्यामा इन शब्दों की परिवृत्ति नहीं हो सकती अत एव शाब्दी व्यंजना है; तथा अन्य शब्दों की परिवृत्ति हो सकती है अत एव आर्थी व्यंजना है। इस लिये यह उभयशक्तिमूलव्यंजना का उदाहरण है। यहाँ वस्तुवर्णन के द्वारा उपमालंकार ध्वनित हुआ है। हेमचन्द्र 'उभयशक्तिमूल' भेद स्वीकार नहीं करते। वे इस भेद का अन्तर्भाव 'शब्द-शक्तिमूल ध्वनि' में ही करते हैं।

ध्वन्यर्थ तथा शब्दार्थ में व्यग्यव्यजक संबन्ध होता है। वस्तुध्वनि अथवा अलकार-ध्वनि के दो ध्वनिभेद, शब्दशक्तिमूल अर्थात् शाब्दी व्यजना एव अर्थशक्तिमूल अर्थात् आर्थी व्यजना के दोनो व्यजनाप्रकारो से ध्वनित होते है। इन सभी ध्वनि-प्रकारो का वर्णन 'ध्वन्यालोक' के द्वितीय उद्योत मे तथा 'काव्यप्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में देखना चाहिये।

व्यजकता के भेद

यहाँतक हमने व्यग्यमुख से ध्वनिविवेचन किया। यह विवेचन व्यंजक-मुख से भी हो सकता है। शब्दार्थ ध्वन्यर्थ के व्यजक होते हैं। व्यग्यार्थ शब्दार्थो के द्वारा अनेक प्रकारों से ध्वनित हो सकता है। कभी पदार्थ से ध्वन्यर्थ सूचित होगा तो कभी वह सपूर्ण वाक्य मे से भी सूचित होगा। उदा.

> धृति. क्षमा दया शौचं कारुण्य वागनिष्ठुरा।
> मित्राणा चानभिद्रोह: सप्तैता. **समिधः** श्रिय.॥

भगवान् व्यास के इस पद्य में 'समिध:' पद 'उद्दीपक' के अर्थ में प्रयुक्त है तथा इस पद के द्वारा सूचित किया है कि निर्दिष्ट गुण अन्यनिरपेक्ष होकर उत्कर्ष के कारण होते हैं।

> किमिव हि **मधुराणां** मण्डनं नाकृतीनाम्।

कालिदास की इस प्रसिद्ध पक्ति में मधुर शब्द भी इसी प्रकार व्यजक है। वाच्यार्थ की दृष्टि से मधुर शब्द 'माधुर्य रस से युक्त' इस अर्थ का वाचक है। किन्तु यहाँ वह 'रमणीय' के अर्थ में आया है; एव इस गुण से युक्त व्यक्ति, किसी के भी लिये अभिलषणीय ही है इस बात को यहाँ ध्वनित करता है। उपर्युक्त दोनो उदा-हरणो में व्यग्यार्थ पद के द्वारा अभिव्यक्त हुए है।

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
> यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

'योगी रात में जागता है और दिन में सोता' इस वाच्यार्थ से यहाँ अभिप्राय नहीं है। प्रत्युत वह तत्त्वज्ञान के विषय में तत्पर एवं मिथ्याज्ञान के सबन्ध में पराङ्मुख होता है इस अर्थ से अभिप्राय है तथा उसके द्वारा योगी की लोकोत्तरता सूचित की गयी है। इस पद्य में कोई भी एक शब्द व्यजक नही है, अपितु सपूर्ण वाक्यार्थ व्यंजक है। इस प्रकार पद तथा वाक्य व्यंजक होते है।

व्यजक की दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि शब्दशक्तिमूल ध्वनि तथा अर्थशक्तिमूल ध्वनि के दोनो भेद पद तथा वाक्य दोनों के द्वारा प्रकाशित हो सकते हैं। प्रत्युत उभयशक्तिमूल ध्वनि वाक्यगत ही हो सकता है, पदगत नही। कारण यह है कि उभयशक्तिमूल ध्वनि में पदो के 'परिवृत्तिसहत्व' तथा 'परिवृत्त्यसहत्व' के दोनो धर्म होते हैं, एव वे दोनो धर्म परस्पर विरोधी होते हैं, इस लिये वे एक ही पद मे एक साथ नही रह सकते। अर्थशक्तिमूल ध्वनि पद और वाक्य के समान प्रवध के द्वारा भी अभिव्यक्त हो सकता है। प्रबन्ध का अर्थ है अनेक वाक्यो का प्रकरण रूप या ग्रन्थरूप समुदाय। अत एव सम्पूर्ण प्रकरण या ग्रन्थ भी अर्थशक्तिमूल ध्वनि का व्यजक हो सकता है। उदाहरण के लिये महाभारत से निम्न प्रसग देखिये —

किसी ब्राह्मण के बहुत काल बीतनें पर लडका उत्पन्न हुआ। माता-पिता का उस पुत्र से बहुत ही प्यार हो गया। किन्तु दुर्भाग्य वश उस बालक की अकस्मात मृत्यु हो गयी। उस ब्राह्मण के बन्धुबान्धव आये और बालक की मृत देह स्मशान में ले गये। ब्राह्मण भी उनके साथ गया। स्मशान में शव के समीप बैठ कर शोक करते हुए उन लोगो को देख कर स्मशानवासी गीध उनके पास आया और बोला —

"अल स्थित्वा स्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसकुले।
ककालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयकरे॥
न चेह जीवित कश्चित् कालधर्ममुपागत.।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो प्राणिनां गतिरीदृशी॥

"सज्जनों, यहाँ गीध, सियार आदि जन्तु नित्य रहते हैं। जिधर देखो हड्डियाँ ही हड्डियाँ फैली हुई हैं। ऐसे इस भयानक स्थान में आप लोगो के ठहरने से क्या लाभ? यह बालक कदाचित् जीवित होगा इस आशा से यदि आप लोग यहाँ ठहरे है तब यह व्यर्थ है। मृत जन्तु कभी जीवित भी हुआ है? क्या प्रियजन, क्या द्वेष्य, सब प्राणियो की अन्त में यही गति होनेवाली है।"

गीध की बात को मानकर वे लोग लौट जाने की सोच ही रहे थे कि एक सियार उनके पास आया और कहने लगा —

"आदित्योऽय स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साप्रतम्।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽय जीवेदपि कदाचन॥
अमु कनकवर्णाभ बालमप्राप्तयौवनम्।
गृध्रवाक्यात् कथ मूढाः त्यजध्वमविशंकिता॥

"मूर्खो, अभीतक सूर्य भी अस्तगत नहीं हुआ, और तुम लोग इतनी शीघ्रता के जाने की क्यो मोच रहे हो ? इस बालक के पास प्रेम से बैठो। सभव है कि यह बालक जीवित भी हो जायगा। इस बालक की सोने की सी काति अभी तो वैसी ही है (शायद इसकी मृत्यु ही नही हुई है)। इस भयानक समय में इस नन्हे से बालक को — जब कि वास्तव में मृत्यु हुई है या नही इसका मदेह है — केवल गीध के कहने मात्र से, मूर्खो, तुम छोड कर चले जा रहे हो ?"

गीध दिन में शव फाडकर खाता है और सियार रात्रि में खाता है, इस बात को ध्यान में रखकर इस सदर्भ की ओर देखने से गीध और सियार दोनो के भाषरण का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है एव आदमी को कितना ही शोक क्यो न हुआ हो स्वार्थपरायरण धूर्त उसकी उस दशा से अपना लाभ किम प्रकार कर लेने की सोचते है यह इस सदर्भ से ध्वनित होता है।

रसव्यंजकता के कुछ प्रकार

रसादि ध्वनि अनेक प्रकारो से अभिव्यक्त होता है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, भावशबलता, आदि आदि सब प्रकारो का रसादि की सज्ञा में अन्तर्भाव होता है। ये सब 'असलक्ष्यक्रमध्वनि' है (६)। यह ठीक है कि पद, प्रकृति, प्रत्यय आदि सब के द्वारा यह अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रबन्ध ही रसाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है; क्योंकि विभावानुभावो की स्फुटप्रतीति प्रबन्ध में ही हो सकती है। हॉ, सूक्ष्मवासना सस्कार से पद आदि के द्वारा भी रसिक को रसप्रतीति हो सकती है। नाटक तथा महाकाव्य प्रबन्धद्वारा रसाभिव्यक्ति करते है। रचना की व्यंजकता रीति अथवा सघटना में पायी जाती है। पदगत रसाभिव्यजकता 'हे हस्त, दक्षिरण' तथा 'उत्कपिनी भयपरिस्खलिताशुकान्ता' आदि पूर्व उदाहृत छन्दो में दिखायी देती है। इन दोनो छन्दो में क्रमश 'रामस्य' तथा 'लोचने' इन पदो का पर्यवसान अन्ततोगत्वा शोकाभिव्यक्ति में किस प्रकार होता है यह पूर्व बताया जा चुका है। निम्न उदाहरण पदव्यजकता की दृष्टि से अध्ययन योग्य है —

---

६. रसभावतदाभास भावशान्त्यादिरक्रम ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ (ध्वन्यालेक २।३)

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरय, तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुल, जीवत्यहो रावणः।
धिक् धिक् शक्रजित, प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥ (७)

इस पद्य मे पदो की व्यजकता की विविधता चरम सीमा पर है। 'पहले तो मेरे कोई शत्रु हो' यही अनुचित है। इस अनुचित सबन्ध से क्रोध का आविर्भाव व्यक्त होता है। तिसपर 'अरय.' इस बहुवचन से तो वह और अधिक व्यक्त होता है। रावण का वास्तव में तो कोई शत्रु ही नही होना चाहिये और यदि हो भी तो एक आध ही हो सकता है, किन्तु यहाँ तो अनेक शत्रु खड़े हो गये है। अच्छा, शत्रु हो तो कम से कम तुल्यबल तो हो, वह भी नही। यहाँ तो शत्रु केवल तापस है। 'तापस' शब्द से दर्शाया है कि उसके पास मात्र तप है, पराक्रम नही. 'इस पराक्रमहीन तापस ने राक्षसो का सहार करना यह भी अनुचित है। और इसमे भी अचभे की बात यह है कि मेरी अपनी नगरी मे आकर सारे राक्षस कुल का नाश करना। और यह सब मै रावण देखता रहूँ।' इस दूसरे चरण में तो क्रियापद और कारक शक्तियो की ही व्यजकता है। 'अहो' इस एक ही अव्यय के द्वारा, असभवनीय घटनाए कैसी हो रही है इस पर रावण का खेदसहित आश्चर्य व्यक्त हो रहा है। 'रावण' इस पद में तो अर्थान्तरसक्रमितध्वनि ही है। इसका यहाँ अर्थ है—'त्रिभुवन पर धाक जमाने वाला तानाशाह'। शक्रजित् का अर्थ है साक्षात् देवराज इन्द्र को जीतने वाला मेघनाद; किन्तु वह भी अब कुछ करने में समर्थ नहीं हो रहा; उसकी 'शक्रजित्' की उपाधि से क्या लाभ ?

इतना सारा अर्थ 'धिक्' इस एक शब्द में समाया है। और अन्तिम चरण से यह बात अभिव्यक्त हो रही है कि स्वर्ग पर विजय पाने से रावण को जो गर्व हुआ था वह भी व्यर्थ हो कर रावण की सारी बडाई अब मटियामेट हो गयी है। इस प्रकार इस छन्द को तिलशः खण्डित करने पर भी प्रत्येक खण्ड से सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ ध्वनित होता है, एव रावण का अमर्ष, अपने विषय मे तिरस्कार, इन्द्रजित के सम्बन्ध मे निराशा आदि अनेक भाव द्योतित होते है तथा इन सब के द्वारा

---

७. रावण कहता है— लज्जा तो इस बात पर है कि मेरे भी शत्रु हों; तिस पर भी वह तापस हों; वह तापस यहाँ— इस लंका में— राक्षस कुल का संहार आरंभ करें, और यह सब देखता हुआ मैं रावण जीवित रहूँ। धिक्कार है इन्द्रजित् को। कुंभकर्ण को जगाने से भी क्या लाभ है ? और स्वर्ग को एक क्षुद्र ग्राम मात्र समझ कर लूट लिया इस पर मेरी इन बीस भुजाओं को भी व्यर्थ का गर्व क्यों हो ?

• रावणगत क्रोध का क्रमशः बढती मात्रा में उद्दीपन होता दिखायी दे रहा है। आनन्दवर्धन का अभिप्राय है कि, "इस पद्य में अलौकिक '**बन्धच्छाया**' अर्थात् रचनासौंदर्य है तथा इस प्रकार की रचना केवल प्रतिभावान् कवि ही कर सकते हैं।"

अतिक्रान्तसुखा. काला प्रत्युपस्थितदारुणाः ।
श्व· श्व. पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ॥

महर्षि व्यास के इस छन्द मे भी एक एक पद में निर्वेद की अभिव्यक्ति की बहार है। कोई भी काल लें, उस काल में सुख तो नष्ट हुआ ही प्रतीत होगा (अतिक्रान्त), और दुःख तो नित्य ही उपस्थित पाया जायगा (प्रत्युपस्थित) भविष्य की कुछ आशा करें, तो 'कल' का अनुभव 'आज' से भी अधिक पापयुक्त प्रतीत होता है और लगता है कि गया दिन सो अच्छा गया, वह भी फिर नहीं आवेगा (गतयौवना) और फिर पुरुष का विरक्ति की ओर मन बढता है। यह सम्पूर्ण अर्थ इस पद्य मे केवल भूतकालवाचक पदों द्वारा आया है। 'पापीयस्' पद से प्रतिदिन दुःख बढ़ता ही रहा है यह सूचित किया गया है एवं 'गतयौवना' पद से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के द्वारा 'संसार मे किसी विषय मे अभिलाषा नहीं रही' यह सूचित करते हुए शान्तरस की ओर रसिक को अभिमुख किया गया है। प्रतिभाशाली कवि के एक एक शब्द से भाव कैसे अभिव्यक्त होते हैं यह इससे स्पष्ट होगा।

वाक्य की रसादिव्यंजकता

वाक्य की रसव्यंजकता तो हमारे नित्य परिचय की है। 'काव्यप्रकाश' आदि अलंकार ग्रन्थों मे रसादि के उदाहरण स्वरूप जो छन्द दिये जाते हैं वे वाक्य की रसव्यंजकता ही दर्शाते हैं। इन छन्दो के वाच्यार्थ से विभाव अनुभाव आदि का प्रत्यक्षवत् चित्र उपस्थित होता है, एवं तद्द्वारा रसभावाभिव्यक्ति होती है। इस के उदाहरण अनेक हैं। दिङ्मात्र उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

(१) भावध्वनि का उदाहरण—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तर ताम्यतो-
रन्योन्य हृदयस्थितेऽप्यनुनये सरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्यो. शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम् ॥

पति पत्नी दोनों एक शय्या पर पड़े हैं। आपस में कुछ हुआ, बात बढ गयी, एक दूसरे से मुँह मोड़ लिया है। मन मे तो चैन नही। एक दूसरे को मनाने का दोनो के मन में तो है, किन्तु 'मै ही पहले क्यो कर कुछ कहूँ' यह मान रोक रहा है। धीरे धीरे एक दूसरे को देखने लगे हैं। एक देखता है, दूसरा आराम से लेटा हुआ है, दृष्टि हटा लेता है। ऐसा ही क्रम चलता रहा। और अचानक दृष्टि का मिलन हुआ कि उनका मानकलि पूर्ण रूप से नष्ट हुआ और उसी क्षण हँसते हँसते दोनो ने एक दूसरे को गाढ आलिगन में कस लिया। — यहाँ शृगार तो है ही; किन्तु शृगार में भी प्रणयकोप का प्रशम अधिक चमत्कारी है। अत एव यह भावध्वनि है। यह भाव यहाँ अनुभव द्वारा प्रकट हुआ हे। जिनका परस्पर गाढ अनुराग होता है उनसे अल्प विरह भी नही सहा जाता। यहाँ कोप से उत्पन्न विरह तो कुछ क्षणो ही का था। किन्तु वह भी उनके लिये असहनीय हो गया (केवल शरीर के दूर होने ही से विरह नही होता, शरीर समीप हो कर यदि मन मे दूरीभाव हो तो वह भी विरह है।) विप्रलब तथा संभोग के दोनो प्रकार एकचित्र होने से काव्य की चारुता बढती है इसका यह छन्द एक अच्छा उदाहरण है। विप्रलब से सभोग की आसक्ति नही रहती है। अभिलषणीय वस्तु यदि सहजलभ्य हो तो उसके लिये कोई आसक्ति नही रहती। और यदि आसक्ति न रही, तो रस की क्या बात? ठीक ही कहा है कि 'कामो वाम:' होता है।

(२) भावसधि का उदाहरण

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किता·
शीलशौर्यबलकान्तिलोभिता: ।
सकुचन्ति विकसन्ति राघवे
जानकीनयननीरजश्रिय ।।

रामचन्द्र का लोकोत्तर यौवन देख सीता की दृष्टि शकित होती थी और शील, शौर्य, बल, तथा कान्ति देख उनकी दृष्टि लुब्ध होती थी। जानकी के नयन-कमलों की शोभा इस प्रकार एक साथ ही सकुचित तथा विकसित होती थी। यहाँ रामचन्द्र का यौवन, शील, शौर्य आदि का दर्शन यह विभाव है। तथा सीता के नेत्रों का सकोच तथा विकास अनुभाव हैं। इन के द्वारा क्रीडा तथा औत्सुक्य इन दोनो भावो की सधि बड़े ही मनोहर रूप में अभिव्यक्त हो रही है।

(३) शृंगारध्वनि का उदाहरण

उपर्युक्त उदाहरण में भावध्वनि है। शृगार की पूर्ण अभिव्यक्ति के उदाहरण के रूप मे निम्न पद्य दिया जा सकता है—

शून्य वासगृह विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै
निद्राव्याजमुपागतस्य सहसा निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्ध परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिर चुम्बिता ॥

उसने शयनगृह को अच्छी तरह से देख लिया कि वहाँ कोई नहीं है, धीरे से शय्यापर से तनिक सी उठी, सोये हुए पति के मुख को बहुत देर तक निहार कर देखा। फिर विश्वास से इच्छा भर उसका चुम्बन किया। किन्तु उसी क्षण उसके कपोलो पर उसने रोमाच देखा। लज्जा से वह चूर चूर हो गयी। वैसे ही प्रियतम ने हँस कर उस पर चुबनो की बौछार की। —यहाँ पति रतिभाव का आलबन है, शयनगृह का एकान्त उद्दीपन है, मुख को निहारना तथा चुम्बन अनुभाव है और लज्जा एवं तद्द्वारा प्रकाशित हर्ष सचारी भाव है। इसी तरह, नायिका भी रति का आलबन है, सोने का बहाना तथा पति ने किया हुआ चुम्बन अनुभव है, रोमाच सात्त्विक भाव है एवं प्रियतम का हास्य व्यभिचारी भाव है। इन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो के सयोग अर्थात् सम्यक् योग से अभिव्यक्त होनेवाली परस्पराश्रित आस्थाबन्धात्मक रति समूहालबन से रसिक की चर्वणा का विषय हुई है। अतएव यहाँ शृगार रस ध्वनित हुआ है। इस पद्य मे विभावानुभाव शब्दो के द्वारा इस प्रकार उचित रूप में समर्पित हुए हैं कि यह सारी घटना रसिक की अन्तश्चक्षुओ के सामने प्रत्यक्षवत् उपस्थित हो जाती है। नायिका की प्रत्येक क्रिया हम अपनी आँखो से देख रहे हैं, और वह प्रत्येक क्रिया उसकी अवस्था के अनुरूप है। वह 'बाला' है और उसका सकोच अभी दूर नही हुआ है। उसके प्रेमभाव पर वयस की उस अवस्था में रहनेवाला सकोच का दबाव है। वैसे तो शयनगृह में वे दोनो ही हैं। किन्तु फिर भी वह अच्छी तरह देख लेती है कि शयनगृह में और कोई नही है, और फिर तनिक सी उठती है, वह भी बहुत धीरे से। उसके उठते उठते कही 'खट' हो जाता या शयनगृह के बाहर किसी प्रकार की आवाज हो जाती तो उतनेभर से उसे धोखा हो जाता और तनिक सी उठी हुई वह फिर पड़ी रहती। उसने देखा कि पति सोया है। इस लिये वह उसके मुख को बिना किसी सँकोच के निहार सकी। यदि उसे लगता कि वह जाग्रत है तो फिर उसका सँकोच प्रबल हो जाता। पति भी बड़ा चतुर व्यक्ति है। उसने भी सोने का बहाना ऐसा किया है कि

देखते ही बनता है। इसी लिये तो नायिका उसको बड़े विश्वास (विस्रब्धम्) से चुम्बन कर सकी। किन्तु उसके होठों के स्पर्श के साथ ही इसके मुख पर रोमाञ्च उठे और फिर बहाना, बहाना ही रह गया। पति के रोमाञ्च जब उसने देखे तो उसका सँकोच फिर मुख पर प्रकट हुआ और पति ने भी 'कैसी मजाक उडायी' के भाव को हास्य द्वारा दर्शाते हुए उसको देरतक चुम्बन किया। मूल पद्य का एक एक शब्द इस प्रकार सजीव क्रिया का द्योतक है। कोई भी शब्द, शब्दो का क्रम, उनकी संघटना आदि में अल्प भी परिवर्तन हम नहीं कर सकते। पद्य के पठन के समकाल ही रसिक के हृदय में रस पूर्णरूप से अभिव्यक्त होता है। यह अमरुकवि का छन्द है। अमरू के छन्दो को आनन्दवर्धन 'रसस्यन्दि मुक्तको' की सज्ञा देते है, इसमे कुछ अभिप्राय है।

(४) करुण ध्वनि

> अयि जीवितनाथ जीवसी-
> त्यभिधायोत्थितया तया पुर.।
> ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ
> हरकोपानलभस्म केवलम्॥

मदन अपने तप का भंग करने की चेष्टा कर रहा है यह देखते ही भगवान शिवजी को क्रोध भर आया। उनके कपालनेत्र से सहसा अग्नि की ज्वाला निकली और मदन की ओर लपटी। उस तेज को देखते ही रति वही मूर्च्छित हो गयी। थोड़ी देर के बाद उसने आँखे खोली और आस-पास देखा। "नाथ, आप जीवित तो है।" कहती हुई वह उठी, और बडी आशा से क्या देखती है—शिवजी के क्रोधाग्नि का भस्म पुरुष के आकार में पडा है। प्रतिभावान् कवि परिमित शब्दो में कितना अर्थ रसिक के समक्ष खड़ा कर देते है इसका यह उदाहरण है। शिवजी के नेत्राग्नि की लपट कितनी भयानक थी, रति ने देखा था। इस अग्नि में मदन का जीवित रहना असभव था। मूर्च्छा से होश में आते ही उसकी आँखें मदन की ओर गयी। उसने सोचा कि मुझ जैसे, काम देव भी मूर्च्छित हुए है। बडी आशा से वह उसकी ओर बढी। 'अयि जीवितनाथ, जीवसि' रति के इस एक छोटे से वाक्य में प्रेम, औत्सुक्य, आशा, हर्ष आदि सब कुछ समाया है। इन सब भावो के आवेश में वह दौडी—और उसने क्या देखा? इन सभी भावों का एकमात्र आश्रय भस्मसात् हुआ है। यहाँ प्रतीत होनेवाला वियोग भी आत्यतिकता एव निरपेक्षता ही शोक का आलबन है एव कालिदास ने 'हरकोपानलभस्म' के केवल एक विभाव के द्वारा शोक को चर्वणा का विषय बनाया है।

(५) भक्तिध्वनि

सुरस्रोतस्विन्या पुलिनमधितिष्ठन्नयनयो-
विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान् ।
विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुरमधुराया चिति कदा
निमग्नः स्या कस्याचन नवनभस्याबुदरुचि ।।

" गगाजी के तीर पर बैठा हूँ, दृष्टि अन्तर्मुख हुई है, मन के सारे विषय गलित हो गये है एव हृदयाकाश में से अज्ञान का अन्धकार नष्ट हुआ है; कब ऐसा होगा कि इस अवस्था को प्राप्त हो कर वर्षाकालीन नवमेघ के समान श्यामलवर्ण उस अत्यत मधुर चैतन्य मे मै निमग्न हो जाऊँगा ! " जगन्नाथराय के इस छन्द में 'भक्ति' का प्रकर्ष प्रकट हो रहा है । आसन लगाकर, दृष्टि को अन्तर्मुख कर, मन को निर्विषय कर, हृदय से अज्ञान के अन्धकार को नष्ट कर के ज्ञानी शुद्ध चिद्ब्रह्म मे विलीन होते हैं, किन्तु ज्ञानी की भूमिका पर आरूढ हो कर भी कवि का मन उस श्यामल सगुण ब्रह्म की ओर आकर्षित हो रहा है। ज्ञानी की चित्तवृत्ति जिस निर्गुण रूप में विश्रान्त होती है वहाँ भक्ति विश्रान्त नही होती । ज्ञान की भूमिका पर आरूढ हो कर भी सगुण चैतन्य मे विश्रान्त होने की उसकी चाह है । यह भाव इस पद्य मे नितान्त रमणीय रूप में प्रकट हुआ है। ज्ञानी और भक्त दोनों चैतन्य मे ही विलीन होते है । किन्तु कवि का अभिप्रेत चैतन्य निर्गुण, निराकार न होकर, श्यामल वर्ण एव माधुर्य के गुणो से युक्त है । अत एव यहाँ शान्त रस के विभावानुभाव होने पर भी श्रीकृष्णविषयक आस्थाबन्धरूपरति आस्वाद्य हो रही है ।

(६) बीभत्स ध्वनि

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुख श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्न करिवरशिर स्पर्धि जघन-
महो निन्द्य रूप कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ।।

" स्तन तो केवल मांस के पिण्ड है किन्तु कवियो ने उन्हें सुवर्णकुम्भ बनाया है; मुख है लार, कफ आदि का मानों घर ही, किन्तु उसकी तुलना चन्द्रमा से गयी है; मूत्रस्राव से क्लिन्न होने वाले जघन की तुलना गजकुभ से की है; वास्तव में नारी का रूप इस प्रकार जुगुप्सा उत्पन्न करने वाला है, किन्तु इन कल्पनाचतुर कवियों ने उसे कैसा श्रेष्ठ बनाया है ! — युवको को कामिनी की ओर आकृष्ट करने वाले अगो का कवि ने यहाँ घृणा उत्पन्न करने वाला वर्णन किया है । मांस-ग्रंथि के

मर्दन में क्या आनन्द है ! लार और कफ से व्याप्त मुख को चुंबन करने की अभिलाषा किसे होगी ? मूत्रस्राव जैसे घृणित वस्तु का अपने शरीर से स्पर्श कौन होने देगा ? इस प्रकार कामिनी के अंगों को — जो कि सुंदर लगते हैं — इस रूप में प्रस्तुत किया है कि हमारे मन में जुगुप्सा हो । यहाँ विभाव के द्वारा जुगुप्सा अभिव्यक्त हो रही है ।

किंवा —

> एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा ।
> नाद्रियन्ते यथापूर्वं कीनाशा इव गोरजम् ॥
> तत्राप्यजातनिर्वेदो म्रियमाणः स्वयंभृतैः ।
> जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे ॥
> आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् ।
> आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥
> वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिकः ।
> कासश्वासकृतायासः कण्ठे घुरघुरायते ॥

वृद्धावस्था के इस वर्णन मे भी उक्त छन्द के अनुसार नरदेहविषयक जुगुप्सा प्रतीत हो रही है । लौकिक अथवा व्यावहारिक जीवन में यह जुगुप्सा कभी रमणीय प्रतीत नहीं होगी । किन्तु इन्हीं घटनाओं को कवि जब काव्य द्वारा सूचित करता है एवं उसमें जुगुप्सा अभिव्यक्त होती है तब वही आस्वाद्य होती है । उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में सूचित 'जुगुप्सा' निर्वेद की ओर ले जा रही है । किन्तु अनेक बार बीभत्स वर्णन भय की ओर भी ले जाता है । उदाहरणार्थ, दुःशासन के हृदय को भिन्न करते हुए भीम ने उसके रक्त का पान किया । महाभारत में इस प्रसंग का जो वर्णन है वह बीभत्स है । उस बीभत्स दृश्य को देखकर कौरव और पांडवों की सेनाओं में कैसी भगदौड़ मच गयी इसका भी वहाँ वर्णन है । निर्वेद की या भय की इस भूमिका पर से इस बीभत्स वर्णन को देखने से उसकी आस्वाद्यता प्रतीत होती है ।

इस प्रकार वाक्य में रसादि असंलक्ष्यक्रमध्वनि प्रतीत होते हैं । इसका अर्थ यह नहीं कि ऐसे छन्दों में विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि सब का नित्य वर्णन रहता ही है । इन से कोई ऐसे रहते हैं जिनका कि अनुसन्धान करना पडता है । अतएव वाक्य द्वारा रसप्रतीति मार्मिक पाठक ही को होती है । विभावादि रस-सामग्री का सम्पूर्ण विकास प्रबन्ध में होता है । इसी लिये, महाकाव्य या नाटक में होनेवाली रसप्रतीति मुक्तक की अपेक्षा अधिक स्फुटरूप में होती है । मुक्तक में विभाव आदि की कल्पना करना आवश्यक होता है, अतएव मार्मिक पाठक ही को

उसमे रसप्रतीति होती है ऐसा हेमचन्द्र ने कहा है। इस प्रकार, पद आदि से लेकर प्रबन्ध तक सभी के द्वारा रसादिध्वनि प्रतीत हो सकती है।

किस ध्वनिप्रकार का व्यजक क्या हो सकता है इसका सक्षेप मे निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) लक्षणामूल ध्वनि के दोनो भेद पद अथवा वाक्यद्वारा ध्वनित होते है,

(२) शब्दशक्तिमूल ध्वनि पद अथवा वाक्यद्वारा ध्वनित होता है;

(३) उभयशक्तिमूल ध्वनि मात्र वाक्यद्वारा ही ध्वनित हो सकता है,

(४) अर्थशक्तिमूल ध्वनि पद, वाक्य अथवा प्रबन्ध मे ध्वनित होता है,

तथा (५) रसादिध्वनि (असलक्ष्यक्रम) पद, पदैकदेश (प्रकृति, प्रत्यय इ.), विभक्ति, कारक, वाक्य, सघटना (रीति) एव प्रबन्ध इन सव के द्वारा प्रतीत हो सकता है।

रसादिध्वनि ही वास्तव में काव्यात्मा है

रसादिध्वनि के व्यजको का यह विस्तार देखने से एक वात सहज ही ध्यान मे आ जाती है; जिसे काव्य द्वारा रस की अभिव्यक्ति करना है उसे बहुत ही सतर्क रहना आवश्यक होता है। अपने काव्य में एक एक शब्द का किस प्रकार नापतोल से उसे प्रयोग करना पडता है यह इससे स्पष्ट होगा। उसे इस बातपर ध्यान देना पड़ता है कि काव्य के शब्द, अर्थ, वाक्य, रचना, प्रसग और तो क्या वर्ण भी रस की अभिव्यक्ति में बाधा नही करेंगे या अनुचित नही रहेगे। अपने साहित्य मे ध्वनित वस्तु या अलकार भी रस के बाधक न होगे इस लिये उसे सतर्क रहना पडता है। अनवधान से, अशक्ति से या केवल कल्पना के अधीन होने से कवि की ओर से रसप्रतीति में विघ्न आया तो उस सबन्ध में उसका वह काव्य दोषयुक्त हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि रसादि ही काव्य का परम अर्थ है। काव्यगत अन्य सभी बातो को रस की अपेक्षा से ही स्थान है, रसनिरपेक्षरूप मे स्थान नही है। काव्यगत शब्दो के वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ का पर्यवसान व्यग्यार्थ मे होता है। यह होने पर भी, व्यग्यार्थ में भी वस्तुध्वनि तथा वाच्यध्वनि दोनो का पर्यवसान अन्ततोगत्वा रसादिध्वनि में ही होता है। अतएव आनन्दवर्धन कहते है—"प्रतीयमानस्य अन्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैव उपलक्षण प्राधान्यात्", और अभिनवगुप्त "रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलकारध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते" कह कर रस का आत्मत्व स्पष्ट रूप मे बताते है। इतना ही नही तो वस्तु तथा अलकार के ध्वनि प्रकारो का काव्यत्मत्व केवल उपचार से माना गया है (वस्त्वलंकारध्वनेरपि

जीवितत्वमौचित्यादुक्तम्) ऐसा भी उन्होंने कहा है। काव्य में रसादिध्वनि के इस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही ध्वनिकार चतुर्थ उद्योत में कहते है —

> व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सभवत्यपि ।
> रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ।। (ध्व. ४।५.)

इस प्रकार व्यग्यव्यंजकभाव के विविध रूप हो सकते है, किन्तु फिर भी कवि के लिये चाहिये कि वह निरन्तर रसादिरूप व्यग्यव्यंजकभाव पर ही अवधान रखे (८)।

यह रसादिमय व्यंग्यव्यंजकभाव ही विभाव आदि के द्वारा रस की अभिव्यक्ति का भाव है। पद आदि से लेकर प्रबन्ध तक सभी मे रसव्यंजकता तो है किन्तु वह विभावादिमुख से ही हो सकती है; अन्य किसी रूप में नहीं। अतएव शब्दार्थो के द्वारा होनेवाली रसाभिव्यक्ति का निरूपण ही विभावादि के द्वारा किस प्रकार रसाभिव्यक्ति होती है इसका निरूपण है। यह हम अगले अध्याय मे करेंगे।

---

८. अनेक विद्वानों का विचार है कि, 'काव्यस्यात्मा ध्वनि ' कहते हुए ध्वनिकार को मात्र रसध्वनि का काव्यात्मत्व अभिप्रेत नहीं था, अपितु उनके मन्तव्य में तीनों प्रकार के ध्वनियों का काव्यात्मत्व था, अभिनवगुप्त ने 'रस एव वस्तुत आत्मा' कह कर केवल रसध्वनि को ही काव्यात्मत्व दिया एवं ऐसा करने में अभिनवगुप्त ने एक ऐसी कल्पना प्रस्तुत की जिसे मूल में आधार नहीं है। यह विचार कैसा निराधार है एवं ध्वनिकार को ही रसादिध्वनि का काव्यात्मत्व अभिप्रेत है यह 'ध्वन्यालोक' ४। ५ इस कारिका से स्पष्ट होगा। यह एक कारिका तो क्या, 'ध्वन्यालोक' में ऐसी अनेक कारिकाएँ हैं जिनसे कि स्पष्ट होता है कि ध्वनिकार को भी रस ही का आत्मत्व अभिप्रेत था।

अध्याय चौदहवाँ

रसादि ध्वनि

रस के समान भाव की भी काव्यात्मता है

रसादिध्वनि शब्दार्थो का पर्यवसान है। रसादि की सज्ञा मे रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसधि, भावशबलता आदि सब का अन्तर्भाव होता है। जब 'रस एव वस्तुत आत्मा' कहा जाता है तब 'रस' शब्द से भाव आदि का भी आत्मत्व गृहीत होता है। काव्यस्यात्मा स एवार्थः – इस ध्वनिकारिका के विवेचन मे आनन्दवर्धन कहते है — "प्रतियमान के वस्तु और अलकार रूप भेद भी किये जाते है, किन्तु रस, भाव आदि के द्वारा ही उनका जीवितत्त्व अपेक्षित है।" यहाँ आनन्दवर्धन ने रस के साथ भाव को भी काव्यात्मत्व दिया है। आनन्दवर्धन के 'रसभावमुखेन' इस पद के व्याख्यान मे अभिनवगुप्त कहते है — "इसमे तो कोई सदेह नही है कि रस ही काव्य की आत्मा है। किन्तु वृत्तिकार 'भावमुखेन' ऐसा भी कहते है। इसमे अभिप्राय क्या है?" इस पर उत्तर यह है कि व्यभिचारी भाव यदि स्वतन्त्ररूप मे आस्वाद्य हो, और काव्यगत शब्दार्थो की विश्रान्ति उस भाव के आस्वाद मे ही होती हो, तब उस काव्य मे भाव को भी आत्मत्व प्राप्त होता है। ऐसे प्रसग मे वह भाव स्थायिचर्वणा में विश्रान्त न होते हुए भी आस्वाद्य होता है (भावग्रहणेन व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्रविश्रान्तावपि, स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्व भवतीत्युक्तम्)। स्वतन्त्र रूप में भाव के आस्वाद्य होने का अभिनवगुप्त ने इस प्रकार उदाहरण दिया है

नख नखाग्रेण विघट्टयन्ती
विवर्तयन्ती वलय विलोलम् ।
आमन्द्रमाशिजितनूपुरेण
पद्मेन मन्द भुवमालिखन्ती ।।

जब उस (नायिका) के प्रियतम के विषय मे बात चली तो, "वह नखो को नखो से छेदने लगी, हाथ मे पहने विलोल कगनो को घुमाने लगी, तथा पायलो की मन्द्र मधुर झकार करती हुई पैर से भूमि कुरेदने लगी।" यहाँ प्रियतम के सबन्ध मे की गयी बात विभाव है तथा उपर्युक्त पद्य मे अनुभाव वर्णित है। इन विभावो तथा अनुभावो के द्वारा लज्जा रूप भाव अभिव्यक्त हुआ है। यह भाव शृगार की अवस्था तक तो नही पहुँचा है। किन्तु प्रस्तुत प्रसग मे स्वतन्त्ररूप मे आस्वाद्य हुआ है। इस सदर्भ मे शब्दार्थ इस भाव मे ही विश्रान्त हुआ है अत. उसीको यहाँ प्राणत्व प्राप्त हुआ है। इस प्रकार जहाँ भाव भी स्वतन्त्र रूप में आस्वाद्य होता है वहाँ उसीका काव्यात्मत्व होता है।

साराश, भाव का काव्यात्मत्व उसके स्वतन्त्र रूप मे आस्वाद्य होने पर अवलम्बित रहता है। कवि का काव्य पढ़ते हुए, यदि हमे भाव का स्वतन्त्र प्रत्यय आया, एवम् उस काव्य का पर्यवसान उस भाव के अभिव्यक्ति मे ही हुआ तब वहाँ भाव का आत्मत्व है। इसके विपरीत यदि कवि के काव्य मे प्रतीत हुआ कि उसमें भाव को प्राधान्य न होकर वह भाव ही अन्ततोगत्वा रस मे विश्रान्त हुआ है, तब वहाँ भाव का आत्मत्व न होकर रस का आत्मत्व है। उपर्युक्त उदाहरण मे लज्जा स्वतन्त्र रूप में आस्वाद्य है, किन्तु पूर्व उद्धृत 'शून्य वासगृहम्–' आदि पद्य मे लज्जा स्वतन्त्ररूप मे आस्वाद्य नही है अपि तु रति की सहकारिणी है। अत· यहाँ लज्जा इस भाव का ही आत्मत्व है, प्रत्युत 'शून्य वासगृहम्' आदि पद्य मे भाव का आत्मत्व न हो कर रस का आत्मत्व है। प्राचीन काव्य मीमासकों ने रस को ही श्रेष्ठ निर्धारित किया है, और भाव को गौण ही माना है; भाव की स्वतन्त्र रूप मे आस्वाद्यता उन्हे स्वीकार नही है ऐसी कई लोगो की धारणा है। इस धारणा की निर्मूलता उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होगी। कवि ने अपने काव्य में भाव को किस प्रकार अभिव्यक्त किया है, इस पर ही भाव की प्रधानता अथवा गौणता अवलबित है। कवि के शब्दार्थ यदि भाव ही में विश्रान्त होते हों तब वहाँ भाव प्रधान है एवम् उसीका आत्मत्व है। इसके विपरीत उसके शब्दार्थ यदि अन्ततः रस में विश्रान्त होते हो तब वहाँ भाव की स्वतन्त्र एवम् निरपेक्ष आस्वाद्यता न होने से गौणता है, आत्मत्व नही।

भावो की स्वतन्त्र ग्रास्वाद्यता के ग्रनेक प्रकार हो सकते है। उपर्युक्त उदाहरण में 'लज्जा' रूप भाव की स्थिति ग्रास्वाद है। पूर्वोक्त 'एकस्मिन् शयने–' ग्रादि पद्य में 'कोप' रूप भाव का प्रशम ग्रास्वाद्य है, तथा 'यौवनोद्गम नितान्त–' ग्रादि पद्य में लज्जा तथा ग्रौत्सुक्य इन दोनो भावो की सन्धि ग्रास्वाद्य है। कही भाव का उदय ही ग्रास्वाद्य होता है। उदाहरण के लिये—

> याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथ शय्यामनुप्राप्तया
> विध्याति परिवर्तन, पुनरपि प्रारब्धुमङ्गीकृतम् ।
> भूयस्तत्प्रकृत कृत च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया
> तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टु प्रियस्योरस ॥

पति के ग्रालिगन मे वह (नायिका) शय्या पर पडी हुई थी कि सहसा पति के मुँह से उसने सपत्नी का नाम सुना। सपत्नी का नाम सुनते ही उसने सोचा कि यहाँ से चलना चाहिये। बस वहाँ से चलने को वह तैयार हो गयी ग्रौर प्रियतम के कण्ठ मे दिये बाहुपाश को शिथिल कर एक हाथ को हटा भी लिया। किन्तु प्रियतम के हृदय से लगा हुग्रा स्तनभार वह दूर न कर सकी। यहाँ प्रणयकोप का उदय ग्रास्वाद्य है, उसका ग्रवस्थान ग्रास्वाद्य नही है। कोप उदित हुग्रा है किन्तु बना नही रहा। यदि कोप बना रहता तो ग्रास्वाद्य न होता। पूर्वोक्त 'एकस्मिन् शयने–' ग्रादि पद्य से इस पद्य की तुलना ग्रच्छी हो सकती है। उस पद्य मे प्रणयकोप है, किन्तु वहाँ प्रणयकोप का उदय या स्थिति आस्वाद्य नही है प्रत्युत उसका प्रशम सुदर है। कई बार ग्रनेक भावो की शबलता ग्रास्वाद्य होती है। उदाहरण के लिये—

> क्वाऽकार्य शशलक्ष्मणः क्व च कुल, भूयोऽपि दृश्येत सा
> दोषाणा प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्त मुखम् ।
> कि वक्ष्यत्यपकल्मषा कृतधिय', स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
> चेत स्वास्थ्यमुपेहि, क खलु युवा धन्योऽधर धास्यति ॥

"कहाँ तो उसका ग्रभिलाष ग्रौर कहाँ चन्द्र का वश? क्या फिर कभी मै उसे देख सकूँगा?— विकारों के शमन के लिये ही तो मैंने ज्ञान प्राप्त किया था न?— ग्राह! कोप मे भी वह कैसी सुदर लगती थी?— भले लोग मुझे क्या कहेगे? ग्रब स्वप्न में भी उसका सगम दुर्लभ है।— मेरे मन, शान्त हो जाग्रो, —कौन होगा वह भाग्यशाली युवक जो उसके ग्रधर रस का पान करेगा?" यहाँ वितर्क, ग्रौत्सुक्य, मति, स्मृति, शंका, दैन्य, धृति तथा चिता के भाव एक दूसरे मे मानो मिलघुल गये है। इस पद्य की ग्रास्वाद्यता इनमें से किसी एक ग्रथवा ग्रनेक भावो में नही है, ग्रपितु उन सब की शबलता में है।

इस प्रकार, भिन्न भिन्न अवस्थाओ में भाव भी रस के समान ही स्वतत्ररूप मे आस्वाद्य हो सकते है। वैसे देखा जाय तो रस और भाव एकरूप ही है क्योकि दोनो भी असलक्ष्यक्रम ही है और काव्य में जब असलक्ष्यक्रम ध्वनि प्रधानता से प्रतीत होती है तब उसे काव्य के आत्मत्व का महत्त्व प्राप्त होता है। ध्वनिकार ने तो स्पष्टरूप मे कहा है–

> रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रम ।
> ध्वनेरात्माङगिभावेन भासमानो व्यवस्थित. ।।

किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि रस, भाव आदि सब ही यदि असलक्ष्यक्रम ही है तो फिर रसध्वनि, भावध्वनि आदि विभाग कैसे हो सकते है ? अभिनवगुप्त का इस पर समाधान है कि — वास्तव मे भावध्वनि रसध्वनि के ही निष्यन्द है। किन्तु उनमे भी आस्वाद का प्रयोजक अश भिन्न भिन्न हो सकता है। कही उदय ही आस्वाद्य होता है और कही स्थिति आस्वाद्य होती है। आस्वाद के प्रयोजक के रूप मे जिस अश का प्राधान्य हो, उस अश को लेकर भावध्वनि, आभासध्वनि, भावोदयध्वनि आदि अवस्था की गयी है। (यद्यपि च रसेनैव सर्व जीवति काव्यम्। तथाऽपि तस्य रसस्य एकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदशात् प्रयोजकीभूतात् अधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। . एव रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दा· आस्वादे प्रधान प्रयोजकाश विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यन्ते)। किन्तु रसध्वनि तभी होता है जब कि विभाव, अनुभाव तथा सचारीभाव की त्रयी से अभिव्यक्त स्थायी की प्रतीति हो कर स्थायी अश के ही आस्वाद का प्रकर्ष होता है।

विभावध्वनि और अनुभावध्वनि नहीं है

यहाँ स्वभावतः एक प्रश्न यह उठता है कि चमत्कार के आधिक्य पर यदि रसध्वनि और भावध्वनि के भेद होते है तब जहाँ विभावो और अनुभावो द्वारा चमत्कार का आधिक्य प्रतीत होता है वहाँ विभावध्वनि और अनुभावध्वनि भी क्यो न माना जायँ ? विभाव और अनुभाव भी तो रस ही के अंश है और कई बार उनके प्राधान्य से ही तो रसभाव सूचित होते है। इस पर उत्तर यह है कि विभावध्वनि और अनुभावध्वनि की सत्ता स्वीकार नही की जा सकती। क्योकि एक ओर तो वे स्वशब्दवाच्य होते है। स्थायी तथा सचारी भाव स्वशब्दवाच्य नही होते। विभाव और अनुभाव वाच्य हो सकते है, इसके विपरीत स्थायी और संचारी कभी वाच्य नही हो सकते। रति, उत्साह, भय, लज्जा, कोप आदि क उन उन शब्दों से काव्य मे कथन करने से वे आस्वाद्य नही होते। आस्वाद्यता के लिये विभाव आदि के द्वारा उनकी प्रतीति होनी चाहिये। स्वशब्द से उनका मात्र

अनुवाद हो सकता है, उनकी प्रतीति नही हो सकती । (विशिष्टविभावादिमुखेनैव एषा प्रतीतिः । स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता) । यदि ऐसा न होता तो 'वह शृंगारी है' इतना कहने मात्र से शृंगार रस प्रतीत हुआ होता। विभावानुभावों की ऐसी बात नही है। वे वाच्य हो सकते है। दूसरी बात यह है कि विभावानुभावों की चर्वणा भी अन्ततः चित्तवृत्ति मे ही पर्यवसित होती है। इस लिये चर्वणा भी आखिर कर रसभावो की ही हो सकती है। विभावानुभावो का जहाँ प्राधान्य से वर्णन होता है वहाँ भी रस अथवा भाव ही आस्वाद्य होता है। अभिनवगुप्त का ही निम्न पद्य देखिए—

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्धुर्यं वपुस्ते दृशौ
भङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रम ।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासव.
सत्य सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेकाकृतिः ॥

तुम्हारी आँखे विलासक्रीडा को अकुरित करने वाले विभ्रमरूप वसत का शरीर है, तुम्हारी भ्रुकुटियो की विलासयुक्त क्रीडा मानो मदन का धनुष्य है जो वक्र होने पर भी सुदर दीखता है, और तुम्हारे मुख मे जो आसव है वह तो आस्वादन करते ही विकार उत्पन्न करता है। हे सुन्दरी, तुम तो विधाता की, तीनो लोको की सारभूत कलाकृति हो। इस पद्य मे रति को प्रवृत्त करनेवाले विभावों की ही प्रधानता है। वह सुदरी रति का आलबन है, और उसके वर्णन मे वसत, मदनबाण तथा मद्य रूप उद्दीपक एकत्र आये हैं। विभ्रम, नर्मवचन तथा विकार अनुभाव भी हैं, किन्तु इनकी अपेक्षा विभावो का ही प्राधान्य प्रतीत हो रहा है। और ये विभाव स्वतन्त्र रूप में आस्वाद्य भी नही है। रति के वे आलबन एव उद्दीपक हैं इसी लिये वे आस्वाद्य है। यह विभावों की प्रधानता का उदाहरण है।

भट्टेन्दुराज के निम्न पद्य मे अनुभाव प्राधान्य है—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निस्थेमनी लोचने
यद् गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिन लूनाब्जिनीनालवत् ।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत् पाण्डिमा गण्डयो
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ॥

बारम्बार दृष्टिक्षेप करने के लिये आँखें अत्यत उत्कण्ठित हो उठी हैं; कमल के खण्डित नाल के समान गात्र दिन प्रतिदिन सूखे जा रहे है; और गालों पर दूर्वाकाण्ड जैसा फीकापन दीख रहा हैं; ठीक ही है कि कृष्ण की युवावस्था देखकर युवतियो की ऐसी दशा हो ! यहाँ 'श्रीकृष्ण' विभाव है एव उनके दर्शन

से गोपियो के हृदय में उदित क्रीडा, औत्सुक्य, म्लानता आदि भाव इस पद्य में अनुभाव द्वारा अभिव्यक्त हुए है, अतएव यहाँ चमत्कार अनुभावकृत है। किन्तु फिर भी उनका पर्यवसान चित्तवृत्ति के आस्वाद मे ही होता है।

उपर्युक्त दो पद्यो में विभाव और अनुभाव वाच्य हैं; और उनके द्वारा यहाँ भावाभिव्यञ्जन हुआ है। अब निम्न पद्य देखिये —

आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितुम्
कातरा शफरशकिनी जहौ ।
अञ्जलौ धृतमधीरलोचना
लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम् ॥

यह जलक्रीडा का वर्णन है। जलक्रीडा के समय प्रेमी पर फेकने के लिये नायिका अञ्जलि मे पानी लेती है और अब नायक पर फेक ही रही है कि उसे लगता है कि इसमे मछलियाँ (आँखो का प्रतिबिम्ब) है और फिर वह पानी को वैसे ही छोड-देती है। यहाँ सुकुमार, मुग्ध युवती को भूषित करनेवाले वितर्क, त्रास, शका आदि व्यभिचारी भावों का अभिव्यजन प्राधान्य से हो रहा है। यहाँ ध्वनित व्यभिचारी भावो का स्वशब्द से कथन किया गया तो वे कभी आस्वाद्य न होगे।

साराश, विभाव तथा अनुभाव स्वशब्दवाच्य हो सकते है एव उनकी चर्वणा का पर्यवसान अन्तत. भावाभिव्यक्ति में ही होता है, अत एव विभावध्वनि और अनुभावध्वनि हो ही नही सकते। जहाँ विभावानुभाव व्यग्य होते है, वहाँ वस्तु-ध्वनि ही होता है; असलक्ष्यक्रम नही रह सकता, और वस्तुध्वनि ध्वनि होने पर भी स्वशब्दवाच्य हो सकता है। इस लिये उसका स्वरूप लौकिक ही रहता है। इससे विभाव तथा अनुभाव ध्वनित होने पर भी रस तथा भावो के समान असलक्ष्य-क्रम ध्वनि मे स्थान नही दिया जा सकता।

रससामग्री

रस और भावो की अभिव्यक्ति ही काव्य का परमार्थ है। इसकी अभिव्यक्ति के साधनो के रूप मे विभाव तथा अनुभावो को काव्य मे स्थान है। काव्य मे कवि विभावो और अनुभावो का वर्णन करता है तथा इनका उचित सयोग हुआ हो तो तद् द्वारा रस तथा भाव अभिव्यक्त होते है। रसभाव चित्तवृत्तिविशेष है। इस चित्तवृत्ति के लिये कारण होनेवाली काव्यगत (न कि लौकिक) परिस्थिति ही विभाव है एवं उदित हुई चित्तवृत्ति के काव्यगत कार्यरूप बाह्य परिणाम ही अनुभाव हैं। हमारे लौकिक जीवन में भी अनेक चित्तवृत्तियाँ उदित होती रहती है। उनके

उदित होने के कुछ कारण होते है एवम् उनके उदय के कुछ परिणाम भी हम देखते है। ऐसे ही कारण और परिणाम जब काव्य मे वर्णन किये जाते है अथवा नाट्य मे दर्शाये जाते है, तब उनका निर्देश 'विभाव-अनुभाव' की सज्ञाओं से किया जाता है। मम्मट कहते है —

> कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
> रत्यादे. स्थायिनो लोके **तानि चेन्नाटयकाव्ययोः**॥
> विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण.।
> व्यक्तः स तैर्विभावाद्यै. स्थायीभावो रस स्मृतः॥

लौकिक व्यवहार में जिसे कारण कहा जाता है उसे ही काव्य में विभाव कहते है इस प्रकार केवल नामान्तर यहाँ अपेक्षित नही है। उनमें स्वरूपभेद तथा प्रयोजनभेद भी है। कारण और कार्य लौकिक होते है, तो विभाव और अनुभाव अलौकिक होते है। लौकिक कारणों का प्रयोजन चित्तवृत्ति को उत्पन्न करना होता है तो विभाव और अनुभाव का प्रयोजन काव्यगत चित्तवृत्तिरूप अर्थ को रसिक के अनुभव की दशा तक पहुँचाना है। विभाव आदि का अलौकिक स्वरूप एव उनके 'विभावन अनुभावन' रूप कार्य का विस्तारपूर्वक विवेचन यथावकाश आगे किया जायगा ही। यहाँ केवल इतना ध्यान मे रखना आवश्यक है कि लौकिक व्यवहार मे जिन बातों का हम अनुभव करते है उन्ही का काव्य मे वर्णन किया जाता है, किन्तु तब भी उन्हे एक नही माना जा सकता। अतएव लौकिक व्यवहार मे हम रति आदि जिस चित्तवृति का अनुभव करते है वह रस नही है; अलौकिक विभावो के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला अलौकिक स्थायी ही रस है। अतएव काव्य, नाट्य आदि मे ही रस प्रतीत होता है, न कि लौकिक जीवन मे। अभिनव-गुप्त बल दे कर बार बार कहते है – 'नाट्ये एव रस, न तु लोके।' हमे ध्यान रखना चाहिये कि रसप्रतीति का क्षेत्र काव्यनाट्य है, लौकिक जीवन नही। लौकिक जीवन मे अनुभूत प्रेम, शोक, भय, जुगुप्सा आदि का स्वरूप एव काव्य के पठन के समय प्रतीत होने वाले शृगार, करुण, भयानक, बीभत्स आदि का स्वरूप एक ही नही है। लौकिक व्यवहार के ये अनुभव सुखदुःखात्मक होते है, काव्य मे प्रतीत होनेवाले शृगार, करुण आदि सभी आस्वाद्य अतएव सुखकर होते है। लौकिक जीवन तथा काव्य के इन दोनो क्षेत्रो मे यह जो लौकिक एवं अलौकिक अवस्था-भेद है इसे जो नही समझ सकते उनके लिये रस एक समस्या ही रह जाती है।

लौकिक जीवन मे रति आदि के जिन कारण और कार्यो का अनुभव होता है वे व्यक्तिसबद्ध होते है। मान लीजिये कि हम किसी उद्यान मे बैठे है, उस समय वहाँ एक ओर से एक युवक एव दूसरी ओर से एक युवती आती हुई हमने

देखी। उनका एक दूसरे की ओर देखना, हँसना आदि व्यापार हमने देखे। इन से हमने तर्क किया कि ये दोनो प्रेमी है। यहाँ की कारणकार्यपरम्परा तथा उस से पहचाना गया प्रेम यह सब लौकिक है। यह घटना व्यक्तिसबद्ध होने से आस्वाद्य नही है। हमने केवल तटस्थ की दृष्टि से इस घटना को देखा है। किन्तु इसी व्यवहार को जब हम नाटच मे देखते है या काव्य में पढते है, तब वह व्यवहार व्यक्तिसबद्ध नही रहता। इस लिये हमारा भी उसमे अनुप्रवेश होता है और हम अपने आपको उसमे खो जाते है। इस प्रकार यह घटना आस्वाद्य होती है। व्यवहार मे कार्यकारण व्यक्तिसबद्ध होते है, अतएव वे लौकिक होते है। काव्य मे जब उन्ही घटनाओं का वर्णन किया जाता है तब उनका स्वरूप व्यक्तिसबद्ध नही रहता, अतएव वे अलौकिक होते है। काव्यगत इन अलौकिक बातों को ही विभाव और अनुभाव कहा गया है। कार्यकारणो के लौकिक स्वरूप का तथा विभाव अनुभावों के अलौकिक स्वरूप का स्पष्ट निर्देश मम्मटाचार्य ने किया है। उन्होने कहा है, "लोके प्रमदादिभि स्थाय्यनुमाने पाटववता, काव्ये नाटचे च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वात् विभावादिशब्दव्यवहार्यैः...अभिव्यक्त।"

लौकिक में जिसे कारण कहते है उसका यदि काव्य मे वर्णन किया गया अथवा नाटच मे अभिनय हुआ तो उसका कारणत्व नष्ट हो जाता है और उसमे विभावन का व्यापार आता है। अतएव उसीको काव्य के क्षेत्र मे अलौकिक विभाव कहते है ऐसा मम्मट का कथन है। मम्मट का यह एक कथन मात्र है। लौकिक जीवन में अनुभूत कार्यकारणपरम्परा एवं काव्य मे वर्णित कार्यकारणपरम्परा इन दोनो मे सवादित्व होने पर भी, एक लौकिक और दूसरी अलौकिक क्यो? एवम् एक का कार्य निर्मिति और अनुमिति तथा दूसरी का कार्य विभावन ही क्यो? इसकी मीमांसा उन्होंने नही की है। इस मीमासा को देखने के लिये हमें पूर्व इतिहास का अनुसधान करना पड़ता है। यह इतिहास ही रसप्रक्रिया की विवेचना का ही इतिहास है। इस इतिहास का आरभ भरतमुनि से ही करना पडता है। उद्भट, लोल्लट श्रीशकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त का इस विवेचना मे बहुत बड़ा भाग है। इस सब इतिहास को सुस्पष्ट रूप मे देखना पडता है। यह कार्य हम अगले अध्याय में करेंगे।

● ● ●

अध्याय पन्द्रहवाँ

रसप्रक्रिया

नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध ग्रथो मे पहला ग्रंथ है, जिसमे रसप्रक्रिया का स्वरूप कथन किया गया है। किन्तु रसप्रक्रिया के विमर्शक आचार्यो मे भरतमुनि ही सर्व प्रथम नही है। भरतमुनि के नाटचशास्त्र में रसप्रक्रिया का जो स्वरूप पाया जाता है वह अत्यत विकसित है, इससे तर्क होता है कि इस रसप्रक्रिया की पृष्ठभूमि मे एक बहुत बड़ी परम्परा थी। इसी परम्परा को मुनि ने अपने ग्रंथ मे ग्रथित किया।

रस के सम्बन्ध मे दो परम्पराएँ पायी जाती है। एक है द्रुहिण अर्थात् ब्रह्मा की और दूसरी है वासुकि की। द्रुहिण आठ रस मानते थे एव वासुकि नवाँ शान्त रस भी मानते थे। 'अभिनवभारती' से पता चलता है कि आठ रसो के माननेवाले तथा शान्तसहित नौ रसो को माननेवाले इस तरह दो प्रकार के विवेचक अभिनवगुप्त को भी ज्ञात थे। "'शान्तवादियों का ऐसा कथन है', 'शान्तापलापी ऐसा कहते है'" इस प्रकार के निर्देश अभिनवगुप्त ने स्थान स्थान पर किये है। भरतमुनि ने नाटचशास्त्र मे द्रुहिण की परम्परा का जितना स्पष्ट निर्देश किया है उतना वासुकि की परम्परा का नही किया। किन्तु उन्होने अपने मत की पुष्टि में अनुवंश से प्राप्त श्लोकों के जो आधार दिये है उनमे सभवत. वासुकि की परम्परा के श्लोक भी है। उदाहरण के लिये, भावों से रससभव होता है इस मत की पुष्टि मे भरत ने श्लोक दिये है, उनमें एक श्लोक है —

> नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यंजनं भाव्यते यथा।
> एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥ (ना. शा ६।३६)

शारदातनय का कथन है कि यह मत मूलत. वासुकि का है (१) दूसरी बात यह है कि नाटयशास्त्र मे रस, भाव तथा अन्य नाटचाश्रित अर्थो की सज्ञाएँ परम्परा ही से प्राप्त है। भरत का कथन है कि ये सज्ञाएँ आचारोत्पन्न तथा आप्तोपदेशसिद्ध है (२)।

भरतकृत रसविवेचन

भरतकृत रसविवेचन नाटचरस का विवेचन है। इसमें तो कोई सदेह नहीं कि रस नाटच का पर्यवसान है। किन्तु प्रयोगसिद्धि के लिये नाटच में अन्य अनेक बातो की आवश्यकता होती है। ऐसी आवश्यक बातो का भरत ने एकत्र सग्रह किया है—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तय: ।
सिद्धि. स्वरास्तथातोद्य गान रगश्च सग्रह ॥ (ना शा. ६।१०)

इस कारिका में नाटचशास्त्र के सब विषय आये है। आठ रस, उनचास भाव, चतुर्विध अभिनय, द्विविध धर्मी, चार वृत्तियाँ और चार प्रवृत्तियाँ, द्विविध सिद्धि, स्वर, आतोद्य तथा गान मिलकर नाटच, सगीत तथा त्रिविध रग अर्थात् रगभूमि यह है नाटचसग्रह। इनका विस्तरश विचार ही नाटच का विवेचन है और रगविचार दूसरे अध्याय मे आया है इस एक बात को छोड़ दिया तो इस कारिका में बताये क्रम से नाटचशास्त्र मे उपर्युक्त अर्थो का विमर्श हुआ है।

नाटच = रस

नाटच मे आवश्यक इन अर्थो मे परस्पर सबन्ध क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अभिनव गुप्त ने इस प्रकार दिया है—

नाटच है सम्पूर्ण प्रयोग मे द्योतित होनेवाला एक ही अर्थ—जो नट के अभिनय के द्वारा प्रकट होता है एव दर्शक द्वारा निश्चल मन से अखड रूप में ग्रहण किया जाता है। नाटच में पृथक्श अनेकानेक बाते दिखायी देती है, किन्तु तब भी उन सब का पर्यवसान अन्ततः एक ही होता है, अतएव सम्पूर्ण नाटच का एक ही अर्थ

---

१. नानाद्रव्यौषधैः पाकै' व्यंजनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयै' सह॥
इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससंभवः।—(शारदातनयः भावप्रकाशन)

२. यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नानि आप्तोपदेशसिद्धानि पुंसा नामानि भवन्ति, तथैवेषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नानि आप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति।
(ना. शा. अ. ६)

होता है। नाटचगत विभाव आदि जड होते है, किन्तु इन जड़ विभावो का पर्यवसान सवेदना में होता है। ये सवेदनाएँ उस उस पात्र से भोग्यभोक्तृभाव से सबन्धित होती है। किन्तु नाटच अनन्त सवेदनाओ के अनेक भोक्ता होने पर भी उन सारे भोक्ताओ का अन्तिम पर्यवसान प्रधान भोक्ता में ही होता है। यह प्रधान भोक्ता ही नाटच का नेता है एव सम्पूर्ण नाटच में सूत्रवत् दीखनेवाली उसकी स्थायी चित्तवृत्ति ही उस नाटच का एकार्थ है।

लोकव्यवहार मे यह चित्तवृत्ति नित्य व्यक्तिसबद्ध होती है। अतएव उसे नित्य स्वकीयत्व तथा परकीयत्व की सीमाएँ रहती है। किन्तु वही चित्तवृत्ति जब नाटचप्रयोग के द्वारा द्योतित होती है तब लौकिक व्यक्तिबन्धन से मुक्त हो जाती है एव गायन, वादन, नर्तन, अलकार आदि से सुदर बने हुए प्रयोग का आश्रय करती है। लौकिक चित्तवृत्ति का आश्रय कोई विशिष्ट व्यक्ति होता है, तो नाटचद्वारा उदित होनेवाली चित्तवृत्ति का आश्रय वह प्रयोग ही होता है, व्यक्ति कभी नही होता। व्यक्तिबन्धन से मुक्त होने से ही वह चित्तवृत्ति साधारणीभूत होती है। दर्शक मे भी सस्कार रूप में वह विद्यमान् होती ही है। दर्शक जब नाटच प्रयोग देखता है तब प्रयोग के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली साधारणीभूत चित्तवत्ति, अपने साधारणीभूत रूप में दर्शक में भी व्याप्त हो जाती है एवं उसको भी प्रयोग मे सम्मोलित करती है। इस प्रयोग मे सम्मीलित हो जाने से, दर्शक का प्रयोग से तादात्म्य होता है।

इस तरह, दर्शक नाटच से बाहर नही रह सकता। वह भी नाटच का एक अपरिहार्य अश हो जाता है। अतएव नाटचसिद्धि की दृष्टि से दर्शक के संबन्ध में भी लिखना पडा (एव भावानुकरणे यो यस्मिन् प्रविशेन्नर। स तत्र प्रेक्षको ज्ञेयः गुणैरेनैरलकृत ॥ (ना. शा. २७।५९)। नाटचप्रयोग देखने के समय दर्शक का जो अनुप्रवेश होता है वही प्रमाणित करता है कि प्रयोग से अभिव्यक्त होनेवाली चित्तवृत्ति लौकिक व्यक्तिसबद्ध चित्तवृत्ति से भिन्न होती है। व्यवहार में भी अनुमान आदि प्रमाणो से परकीय चित्तवृत्ति का हमे ज्ञान होता है। किन्तु उसके साथ अनुमाता का तादात्म्य नही होता। और भी एक बात यह है कि, नाटच से अभिव्यक्त होनेवाली इस चित्तवृत्ति की प्रतीति (निर्भासन) दर्शक को भी परिमित अर्थात् व्यक्तिसबद्ध सीमा में नही होती। उसके प्रमातृत्व की व्यक्तिगत सीमा उस क्षण नष्ट हुई होती है। अतएव लौकिक कारणो से उत्पन्न होनेवाले लौकिक प्रेम, शोक आदि के समान इस चित्तवृत्ति में दर्शक की व्यक्तिगत आसक्ति अथवा तिरस्कार नही रहता। इस लिये दर्शक को इस चित्तवृत्ति की निर्विघ्न प्रतीति होती है एव उसका मन वहाँ विश्रान्त होता है। **वह दर्शकगत प्रयोगकालीन**

निर्विघ्नस्वसंवेदना ही — जिसका एकमात्र लक्षण मनोविश्रान्ति है— रसनाव्यापार (अथवा आस्वाद) कहलाती है। नाटच के प्रयोगकाल में दर्शक द्वारा इस रसना-व्यापार से ही इस साधारणीभूत चित्तवृत्ति का ग्रहण होता है। अतएव इसे भी रस कहा जाता है। अतएव रस ही नाटच है इस नाटय का फल है रसिक की प्रतिभा का विकास (३)।

यह रसनाव्यापार रूप अर्थात् आस्वादरूप रस एकही है। अभिनवगुप्त इसे '**महारस**' की सज्ञा देते है। इस महारस को विभावादि वैचित्र्य से जो वैचित्र्य प्राप्त होता है, उस वैचित्र्य पर ही शृगार आदि रसविभाग निर्भर है (४)

इस प्रकार रस ही नाटच है। यह रस विभाव आदि से ही सपन्न होता है, इस लिये रसविवेचना मे, भावो का स्वरूप बताना आवश्यक हो जाता है। नाटच प्रयोग मे कवि अथवा नट जिन विभाव, अनुभाव आदि को दर्शकों के समक्ष प्रकट करना चाहता है, उनमे औचित्य आवश्यक होता है। कवि अथवा नट यदि लौकिक चित्तवृत्ति को समझता नही है तब वह विभाव आदि का औचित्य नही रख सकता अतएव विभाव आदि का औचित्य सिद्ध करने के लिये लौकिक स्थायी भाव बताना आवश्यक हो जाता है। अभिनय तो नाटच का जीवित ही है। वह तो नाटचसश्रित ही होता है, लौकिक व्यवहार मे कभी नही होता। इस लिये सग्रहकारिका मे रस और भावो के अनन्तर अभिनय का निर्देश है। अभिनय वास्तव मे कृत्रिम होता है किन्तु वह लौकिक धर्म या लौकिक धर्मो पर आधारित सकेतो का अनुवर्तन करता है। अतएव अभिनय के बाद नाटचधर्मी और लोकधर्मी आते है। किन्तु लोकधर्म के अनुरूप अभिनय किस बात का किया जायँ? अभिनय के लिये किसी अभिनेय की तो आवश्यकता है ही। इस लिये वृत्तियाँ बतायी गयी है। वृत्ति का अर्थ है

३. तत एव निर्विघ्नस्वसवेदनात्मकविश्रांतिलक्षणेन रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वात् रसशब्देनाभिधीयते। तेन रस एव नाट्यम्। –(अ. भा.)

४. रसनाव्यापाररूप अर्थात् आस्वादरूप 'महारस' एव श्रृंगारादि विविध रसों में संबन्ध अभिनवगुप्त ने इस प्रकार बताया है — "ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटदृशीव असत्यानि वा, अन्विताभिधानदृशीव उपायात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयदृशीव तत्समुदायरूपाणि वा, रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्टानि रूप्यन्ते।" आस्वादरूप रस एक ही होने पर भी विभावादिभेद के कारण ही रसभेद पाया जाता है (विभावादिभेदः रसभेदे हेतुः)। इस प्रकार अभिव्यक्तिवादियों का (अभिनवगुप्त का) पक्ष है। इनकी बताई इस उपपत्ति की संगति स्फोटवादि, अन्विताभिधानवादि अथवा अभिहितान्वयवादियों की दृष्टि से किस प्रकार हो सकती है यह उपर्युक्त वाक्य में बताया गया है। यह समझ लेना बुद्धिप्रद होने पर भी इसकी विवेचना करना स्थानाभाव के कारण असंभव है।

मनोवाक्कायव्यापार। इन्ही का अभिनय किया जाता है। किन्तु ये वृत्तियाँ भी देशभेद से अन्यान्य रूपो मे प्रवृत्तियों द्वारा प्रकट होती है। अतएव प्रवृत्तियो का ज्ञान आवश्यक है। इन सब का पर्यवसान अन्ततः प्रयोगसिद्धि मे अथवा नाट्य-सिद्धि मे होना चाहिये, इस लिये सिद्धियो का विवेचन भी आवश्यक है। और इस प्रकार के इस नाट्य प्रयोग मे सुदरता लाने के लिये स्वर, गान, आतोद्य, और पात्रो के प्रवेश, निर्गम एव साजसज्जा (सीनसीनरी) आदि के लिये रगभूमि की रचना आदि बाते भी अवश्य करनी पड़ती है।

साराश, नाट्यगत प्रत्येक बात का स्थान रसानुवर्तित्व से ही है। अतएव मुनि ने प्रथम रसविवेचन किया है। भरत के इस कथन मे, 'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थ. प्रवर्तते' यही अभिप्राय है। नाट्यगत कोई भी अर्थ बिना रस के प्रवर्तित नही होता। विभाव आदि को रसनिरपेक्ष अवस्था मे कोई महत्त्व नही है। नाट्य के कथानक का रसनिरपेक्ष कोई हेतु नही होता। इतिहासपर आधारित नाटक लिखते समय रस की अपेक्षा से कवि मूल इतिहास मे भी परिवर्तन कर देता है। सामाजिक दृष्टि से भी नाट्यगत भाव आदि अर्थों को रसनिरपेक्षता से प्रवर्तना नही रहती। और तो क्या, नाट्यशास्त्र या काव्यशास्त्र का अध्ययन करने वालो की दृष्टि से भी रसनिरपेक्ष रूप मे विभाव आदि का या नाट्यागभूत या काव्यांगभूत किसी बात का विवेचन करना असभव है। लौकिक दृष्टि से जो कार्य-कारण या अन्य व्यापार होते है, उनमे से किसी को काव्य मे या नाट्य मे रस-निरपेक्ष स्थान नही होता। इस प्रकार कवि, नट, दर्शक, शास्त्रविवेचक आदि सब की दृष्टि से काव्य और नाट्य मे रस ही का प्राधान्य है। नाट्यगत कोई भी बात रसपर्यवसायी एव रसानुगामी ही होनी चाहिये और इसी दृष्टि से उसे देखना चाहिये। अतएव मुनि ने भी पहले रसविवेचन किया है और बाद मे रसानुगामित्व से नाट्यागो का विवेचन किया है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए ही भरत के प्रसिद्ध रसमूत्र—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' का अध्ययन करना चाहिये।

संग्रहकारिका

'सग्रहकारिका' में बतायी गयी सब बातें भरतमुनि ने रसानुगामी रूप में दी है। इन बातो का रस प्रयोग से क्या सबन्ध है यह हम देखे। सुविधा के लिये हम कारिका मे दिये क्रम के अन्त से आरम्भ करे। रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्ति यह कारिका मे दिया हुआ क्रम है। हम प्रवृत्ति से आरम्भ करे। प्रवृत्ति का अर्थ है ऐसी बाते जो भिन्न भिन्न देशो के वेष, भाषा, आचार तथा रीति

रिवाजो के विशेष निर्देशित करती है (५) और वृत्ति है मनोवाक्काव्यव्यापार। पुरुष की वृत्ति मे प्रतिक्षण परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उसकी प्रवृत्ति स्थिर होती है। हाँ, यह स्थिर प्रवृत्ति अभिव्यक्त होती है इस नित्य परिवर्तनशील वृत्ति द्वारा ही नाटच में प्रवृत्ति का दर्शन वृत्तियों द्वारा होता है। नाटच का मूल ये वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ ही होती हैं। इन वृत्तिप्रवृत्तियो द्वारा ही नाटच मे लोक-स्वभाव चित्रित किया जाता है। वृत्तिप्रवृत्तियो द्वारा निर्दशित लोकस्वभाव ही लोकधर्म है नाटच मे इस लोकधर्म का ही दर्शन होता है (६)।

लोकधर्म इस प्रकार नाटच का विषय है। किबहुना, यह कहना भी ठीक होगा कि नाटच में लोकधर्म के अलावा अन्य विषय ही नही होता। यहाँतक शास्त्र और नाटच अथवा काव्य मे कोई भेद नही है। किन्तु लोकस्वभाव का दर्शन कराने की नाटच की एक अपनी विशेष और भिन्न शैली है। हम जब नाटच देखते है तब हमे दर्शन तो लोकधर्म का ही होता है, किन्तु इसमे कवि तथा नट का एक ऐसा विशिष्ट व्यापार होता है जिससे कि नाटच मे दर्शित लोकधर्म की प्रक्रिया लौकिक प्रक्रिया से कही अधिक सुदर, रमणीय और आकर्षक बनती है। इस प्रकार कवि और नट के व्यापार के कारण जहाँ लोकधर्म का प्रक्रियाक्रम सुदर एव रमणीय होता है वहाँ नाटचधर्म होता है (७)। इस नाटचधर्म के दो प्रकार कविगत और नटगत होते हैं। लोकप्रसिद्ध कथानक मे औचित्य एव रमणीयता की दृष्टि से कवि जो परिवर्तन करता है वह कविगत नाटचधर्म है, और सपूर्ण अभिनय नटगत नाटचधर्म है। लौकिक व्यवहार मे पाया जानेवाला सुखदु खरूप लोकस्वभाव जब अभिनय द्वारा दर्शाया जाता है तब वह नाटच धर्म ही है। नाटच मे तो यह नाटच धर्म अवश्य ही होना चाहिये, अन्यथा नाटच ही न होगा। मुनि कहते हैं—

नाटचधर्मीप्रवृत्त हि सदा नाटच प्रयोजयेत्।
न ह्यगाभिनयात् किंचित् ऋते राग प्रवर्तते॥

नाटच नित्य नाटचधर्मी से ही प्रवृत्त होना चाहिये, क्योकि अग आदि अभिनय के बिना राग अर्थात् सामाजिको का आनन्द प्रवर्तित ही न होगा। नाटचधर्मी तो इसप्रकार नाटच का प्राण हुआ, किन्तु लोकधर्मी का क्या स्थान होगा? इस पर मुनि कहते है—

५ नानादेशवेषभाषाचारवार्ता' ख्यापयति इति प्रवृत्ति। प्रवृत्तिश्च निवेदनैः॥

६. भरतमुनिकृत नाट्य के दश भेद (दशरूप) वृत्तिवैशिष्ट्य पर ही आधारित हैं।

७. यद्यपि लौकिकधर्मव्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद्धर्मोऽस्ति, तथापि सः लोकगतप्राक्रियाक्रमो रंजनाधिक्यप्राधान्यमधिरोहयितु कविनटव्यापारे वैचित्र्यं स्वीकुर्वन् नाट्यधर्मी इत्युच्यते। (अ. भा.)

सर्वस्य सहजो भावः सर्वो ह्यभिनयोऽर्थतः ।
अंगालकारचेष्टा तु नाट्यधर्मी प्रकीर्तिता ॥

कविगत वागलकार रूप नाट्यधर्मी अर्थतः अर्थात् काव्यार्थ की अपेक्षा से प्रवर्तित होती है, एव नटगत नाट्यधर्मी अर्थत· अर्थात् अभिनेय अर्थ की अपेक्षा से प्रवर्तित होती है, और यह अर्थ तो वृत्तिप्रवृत्तिरूप लोकधर्म ही है । अत एव लोक-धर्म रूप सहज भाव नाट्यधर्मी का आधार है। अभिनवगुप्त लोकधर्मी को 'भित्तिस्थानीय' अर्थात् चित्र के आधारभूत दीवार के समान बताते है। चित्र को दीवार का आधार होता है, किन्तु चित्र ही दीवार नही है। जब हम चित्र को देखते है तो दीवार को भी देखते ही है। किन्तु चित्रद्वारा दीवार का दर्शन होता है इसलिये वह सुदर दीखती है। इसी तरह नाट्य में नाट्यधर्म के द्वारा ही लोकधर्म प्रकट होने से वह लोकधर्म सुदर दीखता है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि नाट्यधर्मी लोकधर्मी का '**सहजसंवादी व्यापार**' है। इसमें उन्होने लोकधर्मी से नाट्यधर्मी की भिन्नता तो दर्शायी है ही किन्तु साथ ही नाट्यधर्मी की सौदर्या-धायकता की ओर भी सकेत किया है।

अभिनय की इतिकर्तव्यता

अभिनय नाट्यधर्म है। इस नाट्यधर्म को दर्शकों के सम्मुख कैसे प्रकट किया जायँ? लोकधर्मी और नाट्यधर्मी के द्वारा? यह इस प्रश्न का उत्तर हो सकता है। इसीलिये अभिनय और धर्मी मे इतिकर्तव्यतासबन्ध है ऐसा अभिनवगुप्त ने कहा है। अभिनय की इतिकर्तव्यता द्विविध है। एक प्रकार है लोकधर्मी और दूसरा प्रकार है नाट्यधर्मी। लोकधर्मी अभिनय के भी दो प्रकार है,—चित्तवृत्ति का समर्पण करनेवाला अणुभावरूप अभिनय, उदा गर्व, चिन्ता, दैन्य आदि का अभिनय, तथा दूसरा है केवल बाह्य अवयवरूप अभिनय। किन्तु रंगमच पर किया जानेवाला अभिनय केवल लोकधर्मी ही नही होता। रगमच पर खड़े रहने के अवस्थान, चारी, मडल आदि लोकधर्मी नही है। ये केवल नाट्यप्रयोग में ही देखे जाते है। उनका कार्य प्रयोग की शोभा बढाना ही होता है। इसके अतिरिक्त आत्मगत भाषण आदि तो केवल नाट्य के सकेत मात्र है। अत एव नाट्य के भी दो भेद अलौकिक शोभाहेतु और नाट्यसकेत होते है। अभिनय की यह चतुर्विध इतिकर्तव्यता इस प्रकार बतायी जा सकती है—

इन चार भेदो मे से चित्तवृत्तिसमर्पक अनुभावो का अभिनय नाट्यशास्त्र में भावाध्याय का विषय है। भावो का अभिव्यजन अथवा अभिव्यक्ति किन अनुभावों के द्वारा किस प्रकार करनी चाहिये यह इस अध्याय का विषय है' मुनि ने इस सातवे अध्याय को 'भावव्यजन' ही की सज्ञा दी है। यह भावाभिव्यजन किस प्रकार किया जायँ? असूया, निद्रा, उग्रता आदि भावो का अभिनय किस प्रकार करे? उत्तर यह है कि इन भावो के उत्पादक कारण एवम् इन भावो के उदय से होनेवाले शारीरिक या वाचिक परिवर्तनो के रूप के कार्य, जैसे देखे जाते है वैसे वे नाट्य में दर्शाने चाहिये। यह लोकधर्मी अभिनय है। किन्तु यह अभिनय लोकधर्मी होने पर भी लौकिक व्यवहार या लौकिक व्यापार नही है। यह नाट्यधर्म ही है। क्योकि यह अभिनय का ही एक भेद है। लौकिक व्यापार तथा नाट्यगत लोकधर्मी अभिनय एकाकार नही है, या सदृश भी नही है; वे सवादी हैं। लौकिक जीवन के व्यक्तिसबद्ध व्यापार तथा नाट्य में देखा जानेवाला तत्संवादी अभिनयव्यापार इन दोनो के प्रयोजन सर्वथा भिन्न है। लौकिक जीवन का व्यक्तिसबद्ध व्यापार व्यक्तिगत चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता है अथवा एक व्यक्ति में उदित चित्तवृत्ति का अनु-मितिरूपज्ञान अन्य व्यक्ति को करा देता है। किन्तु अभिनय में जो तत्संवादी व्यापार देखा जाता है उसका प्रयोजन इस प्रकार उत्पादनरूप या अनुमितिरूप नही है। अभिनय का प्रयोजन है नाट्यार्थ मे दर्शक का अनुप्रवेश करा के हृदयसवादतन्मयी-भवनक्रम से, उसके चित्त में निष्पन्न रसनाव्यापार अर्थात् निर्विघ्नप्रतीति का, उस काव्यार्थ को विषय बनाना। अपने यहाँ ब्रह्माजी पधारे है यह देख कर वाल्मीकि ने आदरपूर्वक उनका स्वागत किया, उन्हे आसन दिया एवम् अर्घ्यपाद्य आदि से उनकी पूजा की। यह एक लौकिक घटना है। वाल्मीकि के मन में आदर का भाव

उत्पन्न होने का कारण है ब्रह्माजी का आगमन उन्हे ज्ञात होना; इस आदरभाव की उत्पत्ति का परिणाम है वाल्मीकि ने उनका स्वागत करना, आसन देना, पूजन करना आदि क्रियाएँ। यह उस आदरभाव का कार्य है। वाल्मीकि के जीवन की इस घटना में जो क्रियाएँ देखी जाती है वे सब कार्यकारणभाव के द्वारा एक दूसरे से सबन्धित है। और वे वाल्मीकि से सबद्ध है। हमारा इन घटनाओ से कोई सबन्ध नही है। किन्तु नाटच में भी हम इसी प्रकार का कोई सबन्ध देख सकते है। मान लीजिये कि राम का काम करनेवाला कोई नट राम का वेष धारण किये आसन पर बैठा है; वह स्वागत कर रहा है, पूजा की सामग्री लाने की आज्ञा दे रहा है। यह सब अभिनय हम देखते है। तब मुनि वसिष्ठ रगमच पर आये हुए दीखते है। वसिष्ठ को देखते ही हम राम के अभिनय का अर्थ विशिष्ट रूप में समझ लेते है, अर्थात् उसका विशिष्टता से भावन-विभावन होता है। वसिष्ठ की उपस्थिति (अथवा उनके आगमन का ज्ञात होना) इस प्रकार अभिनय का विभावन करती है अतएव वह 'विभाव' है, और इस विभाव के प्रसग से ही इस अभिनय का अनुभावन होता है (अर्थात् तन्मयीभवनक्रम से वह अनुभवदशा तक लाया जाता है) अतएव इसे अनुभाव कहते है। इसमें कोई सदेह नही कि यह नाटचगत अभिनय लोकधर्मी से सवादी होता है, किन्तु लौकिक घटना से इसका प्रयोजन सर्वथैव भिन्न होने से इसे 'कारण-कार्य' की लौकिक सज्ञाएँ नही दी जा सकतीं, किंबहुना इन सज्ञाओ का यहाँ प्रवृत्त होना असभव ही है। इसीलिये नाटच में इनका जो प्रयोजन होता है उस पर से इन्हे 'विभाव-अनुभाव' की सज्ञाएँ दी जाती है। विभाव, अनुभाव इस प्रकार अभिनय से ही सबद्ध है; अतएव वे नाटचधर्म ही है, किन्तु वे लोकधर्म सवादी होने से 'लोकस्वभावससिद्ध' एव 'लोकयात्रानुगामी' है। इस लिये मुनि ने कहा है कि इनका अभिनय करने में लोकव्यवहार की कार्य-कारणपरपरा तथा लोकप्रसिद्धि से सवादी अभिनय करना चाहिये [८]।

---

८. भरत मुनि ने ये सब बातें स्पष्ट रूप में कही हैं।– "विभाव' इति कस्मात्। उच्यते। विभावो नाम विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्त हेतुः इति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनयाः इति विभाव'। विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्। अथानुभावः इति कस्मात्। उच्यते। अनुभाव्यतेऽनेन वागंगकृतोऽभिनयः इति। ननु विभावानुभावौ लोकप्रसिद्धौ। लोकस्वभावानुगतत्वाच्च तयोर्लक्षणं नोच्यतेऽति प्रसंगनिवृत्त्यर्थम्। भवति च श्लोक.– "लोक-स्वभावससिद्धा लोकयात्रानुगामिनः। अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः॥" (ना. शा अ. ७)— आगे पचीसवे अध्याय में तो विभावानुभाव उदाहरणसहित स्पष्ट किये हुए देखिये: जैसा— 'विभावेनाहृतं कार्यमनुभावेन नीयते। आत्माभिनयनं भावो विभावः परदर्शनम्॥ गुरुर्मित्रं सखा स्निग्धः संबंधी बंधुरेव च। आवेद्यते तु यः प्राप्त स विभाव इति स्मृतः॥ यत्तस्य संभ्रमोत्थानैरर्घ्यपाद्यासनादिभिः। पूजनं क्रियते भक्त्या सोनुऽभाव इति स्मृतः॥ एवमन्येष्वपि तथा नानाकार्यार्थदर्शनात्। विभावो वाऽनुभावोवा विज्ञेयोऽर्थवशात् बुधैः। एवं विभावो भावे, वाप्यनुभावोऽथवा पुनः। अभिनेयस्तु पुरुषैः प्रमदाभिस्तथैव च॥ (भ. ना. शा २५।४०–४३,४५)

नाटचभाव

'सग्रहकारिका' में दिये क्रम के विपरीत क्रम से हमने प्रवृत्ति-वृत्ति-धर्मी-अभिनय यहाँतक विमर्श किया है। अब हम भाव और भाव के बाद रस के सबन्ध में विचार करेंगे। विभाव अनुभावो के लक्षण बताने के बाद मुनि कहते है, "—एव ते विभावानुभावसयुक्ता भावा इति व्याख्याताः। अतो ह्येषा भावाना सिद्धिर्भवति।" नाटच में प्रकट होनेवाले भाव विभावानुभावसंयुक्त ही होते है, उनकी सिद्धि विभावानुभावो से ही होती है, अतएव मुनि ने दिये हुए भावो के लक्षण 'विभावानुभावसयुक्तभावो' के ही लक्षण हैं। स्थायी, व्यभिचारी, एव सात्त्विक मिला कर कुल-४९ भाव होते हैं। इन सब के लक्षण की शैली "अमुक भाव अमुक विभावो से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अमुक अनुभावों से करना चाहिये" इस प्रकार की एक ही है। इसका अर्थ यह है कि नाटच मे भावों का अभिनयन होता है। मुनि कहते हैं—

> भावाभिनयनं कुर्याद्विभावाना निदर्शनै ।
> तथैव चानुभावानां भावात् सिद्धिः प्रकीर्तिता ।। (ना शा २५,३८ काशी स)

साराश, नाटचगत भावो की विभाव-अनुभावो के निरपेक्ष रूप में कल्पना करना असभव है। इन भावो का आश्रय काव्यार्थ होता है, व्यक्ति नही; ये भाव विभाव-अनुभावो से व्यजित होते हैं, कारण आदि से उत्पन्न नही होते; एवं ऐसे काव्यार्थाश्रित विभावानुभावव्यजित भावो द्वारा ही सामान्यगुणयोग से रसनिष्पत्ति होती है। काव्यार्थसश्रितै विभावानुभावव्यजितैः एकोनपचाशद्भावैः सामान्यगुणयोगेन अभिनिष्पद्यन्ते रसा ।—ना. शा अ ७)। अतएव ये नाटचभाव है न कि लौकिक भाव। इनको अभिव्यक्त करनेवाले विभावानुभाव लौकिक कार्यकारणो से सवादी होते हैं इस लिये ये भाव लौकिक हैं ऐसा क्षणभर के लिये भी नही माना जा सकता। लौकिक भाव कारणकार्य से उत्पाद्य-उत्पादकभाव द्वारा संबद्ध होते है, प्रत्युत नाटचभाव विभावानुभावों से अभिव्यंग्य-अभिव्यजक भाव द्वारा सयुक्त रहते हैं, लौकिक भाव व्यक्ति के आश्रित होते हैं तथा नाटचभाव काव्यार्थाश्रित होते हैं। लौकिक भावो की निष्पत्ति व्यक्तिगत होती है और परगत अनुमिति होती है, किन्तु नाटच भाव का केवल अभिनयन होता है। लौकिक भावों का 'भवन' होता है, तो नाटचभावो से काव्यार्थ का 'भावन' होता है। अत एव लौकिक के स्तर से नाटचभावो का स्वरूप समझना असभव होता है।

भावाः इति कस्मात्

नाटचभावों का स्वरूप मुनि ने भावाध्याय के आरंभ मे ही स्पष्ट किया है।

"भावा इति कस्मात् । कि भवन्ति इति भावाः, किंवा भावयन्ति इति भावा.। उच्यते। वागगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावा ।" इस वचन में मुनि ने लौकिकभाव एव नाटचभाव में भेद स्पष्ट किया है। नाटच में अभिनीत होने वाले रति, हास, निर्वेद आदि को भाव क्यो कहा जाता है? आरभ ही में यह प्रश्न उपस्थित करते हुए, भरत ने अपनी स्पष्ट रूप में मान्यता दी है कि काव्यार्थ का भावन करते हैं अतएव वे भाव हैं। 'भवति इति भावः' यह निर्मिति पक्ष है जो लौकिक व्यक्तिगत व्यवहार में पाया जाता है। नाटच को वह लागू नही होता। 'भावयति इति भाव' यही भरतसमत पक्ष है। नाटचभाव काव्यार्थ का भावन करते हैं इसका अर्थ है वे उसे आस्वाद्य बनाते हैं। अभिनवगुप्त ने 'भावयन् = आस्वादयोग्यीकुर्वन्' इस प्रकार अर्थ दिया है। लौकिक व्यवहार में उत्पन्न होने वाले भाव आस्वाद्य होते ही हैं ऐसा नियम नही है, प्रत्युत विभावो द्वारा व्यजित होने वाला नाटचभाव आस्वाद्य ही होता है। अपने इस कथन की पुष्टि में भरत ने परम्परा से प्राप्त श्लोक दिये हैं। वे इस प्रकार हैं—

> विभावैराहृतो योऽर्थ ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
> वागगसत्त्वाभिनयैः स भाव इति सज्ञित.॥
> वागगमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
> कवेरन्तर्गतं भाव भावयन् भाव उच्यते॥ (ना.शा. ७।१,२)

विभावो से जो अर्थ आहृत होता है तथा वागगसत्त्वाभिनयरूप अनुभावों से जो अभिव्यक्त होता है, वह अर्थ ही भाव है। यह अर्थ क्या है? नट का दृश्यमान वागगसत्त्वाभिनय अनुभव में ही अन्तर्भूत होता है। ऋतु, उद्यान, चन्द्रोदय आदि विभाव हैं। राम, सीता आदि पात्र भी विभाव ही हैं। वे सब अर्थाभिव्यक्ति के उपायमात्र है। इन उपायो से कौनसा अर्थ भावित होता है? इस प्रश्न का उत्तर दूसरी कारिका में है। वागगमुखराग से एव सात्त्विक अभिनय से कवि के अन्तर्गत भावो का भावन होता है। कवि का अन्तर्गत भाव ही काव्यार्थ है। नाटचगत सब भावो का यही एकमात्र आश्रय होता है। राम, सीता आदि पात्रो के रूप में स्थित आलबन, विभाव, ऋतु, उद्यान आदि उद्दीपन विभाव तथा वागगसत्त्वाभिनयरूप अनुभाव इन सब के द्वारा कवि का यह अन्तर्गत भाव ही व्यजित होता है। नाटचगत रति, हास, भय, निर्वेद आदि कवि के अन्तर्गत भाव ही का भावन करते हैं अर्थात् उसे आस्वाद्य बनाते हैं। अत एव उन्हे 'भाव' भी सज्ञा है।

कवि का यह अन्तर्गत भाव चित्तवृत्ति रूप होता है। किन्तु यह चित्तवृत्ति कवि का व्यक्तिगत मनोविकार नही है। लौकिक कारणों से उत्पन्न होनेवाला कवि का

व्यक्तिगत मनोविकार आस्वाद्य हो ही नही सकता। कवि का यह अन्तर्गत भाव प्रतिभानमय अर्थात् प्रतिभा से प्रकाशमान काव्यार्थ है। वह लौकिक विषयो से उत्पन्न हुआ नही होता, तथा देश, काल आदि भेदो की सीमाएँ भी उसे नही रहती, अतएव साधारणीभाव से विभाव आदि के द्वारा जब वह अभिव्यक्त होता है तब आस्वादयोग्य होता है। यही काव्यार्थ का भावन है। अभिनवगुप्त स्पष्ट ही कहते है — "कवे· वर्णनानिपुणस्य य. अन्तर्गत. अनादिप्राक्तनसस्कारप्रतिभानमय. न तु लौकिकविषयज (अत एव) देशकालादिभेदाभावात् साधारणीभावेन आस्वाद-योग्य. त भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन्"। ध्वन्यालोकलोचन' मे भी 'शोक श्लोकत्वमागत.' इस वचन की व्याख्या में उन्होने स्पष्ट रूप मे कहा है— 'न तु मुनेः शोकः इति मन्तव्यम्' अर्थात् श्लोकरूप से परिणत होनेवाला यह शोक मुनि वाल्मीकि का व्यक्तिगत मनोविकार नहीं है। कवि के इस प्रतिभानमय साधारणीभूत अतर्गत भाव को चतुर्विध अभिनय के द्वारा भावित अर्थात् आस्वाद-योग्य करनेवाले नाट्यधर्म ही नाट्यगत भाव है।

नाट्यभाव क्या है यह ठीक समझने के लिये हम 'मरण' भाव ही का उदाहरण लें। भरत का इस भाव के सबन्ध में यह कथन है — मरण व्याधि या अभिघात से आता है। व्याधि के कारण आये मरण के अभिनय में गात्रो को धीरे-धीरे गलित करना चाहिये, आँखो को धीरे-धीरे मूँद लेना चाहिये, ऐसे रहना चाहिये जैसे कि हिचकियाँ आती हो या श्वास रुक गया हो, बोलने में बड़े कष्ट बताकर अस्पष्ट बोलना और अन्त में शरीर को निश्चेष्ट करना चाहिये इस प्रकार के अनुभावों से 'मरण' के भाव का अभिनय करना चाहिये। इसके उदाहरण के रूप में 'एकच प्याला' (मराठी) नाटक मे तलिराम की मृत्यु का प्रसग उद्धृत किया जा सकता है। हम रंगमच पर तलिराम की मृत्यु देखते है। लगता है कि मानो हमारे सामने उसकी मृत्यु हो रही है। किन्तु वह तो अभिनीत किया एक भाव मात्र है। यह 'मरण' नाट्यभाव मात्र है। किसी एक व्यक्ति की मृत्यु नहीं है। यह तो ठीक है कि यह नाट्यभाव लौकिक मृत्यु की अवस्था से संवादी है, किन्तु यह लौकिक मृत्यु नही है।

उदाहरण में नाटककर्ता (श्री गडकरी) ने आँखो से देखा हुआ तलिराम नाम का व्यक्ति 'मरण के भाव का आश्रय नही है अपितु प्रतिभानमय काव्यार्थ ही इस भाव का आश्रय है। रगमंच पर हम जो चेष्टाएँ देखते है वे उस व्याधि या अभिघात के कार्य नही है; क्योकि यहाँ व्याधि या अभिघात 'पारमार्थिक' है ही नहीं। वे अनुभाव मात्र है, एवम् इन अनुभावो द्वारा 'मरण' का नाट्यभाव व्यजित हुआ है।

अभिनवगुप्त ने तो 'भय' के स्थायी भाव का ही उदाहरण दिया है। 'शाकुन्तल' का प्रसग है। दुष्यन्त के बाणो से डर कर हरिण भाग रहा है। जब यह दृश्य अभिनीत होता है तब हमें जो साक्षात्कारात्मक प्रतीति आती है उसमें प्रतीन होने वाला भय किसीका मनोविकार नही है। नट का या प्रेक्षक का भी यह विकार नही है। वह मृग का भी मनोविकार नही कहा जा सकता, क्योकि इस मृग का कोई विशेष स्वरूप नही है। डर का कारण भी पारमार्थिक नहीं है। वह तो भयभीत का भय है और एक नाट्यभाव मात्र है। इसी प्रकार 'कुमार-सभव' मे तीसरे सर्ग मे शिवपार्वती के दर्शन का प्रसग है। यहाँ कालिदास द्वारा वर्णित प्रणय शिवपार्वती का वास्तविक प्रणय नही है, यह प्रणय कालिदास का नही है या पाठक का भी नही है। यह लौकिक अवस्था मे होनेवाला रति नामक मनोविकार भी नही है, यह तो केवल प्रेम का साधारणीकृत भाव कालिदास के शब्दार्थो में से भावित हुआ है।

इन भावो का इनके विभाव अनुभावों द्वारा व्यजन कैसे करना चाहिये यही भरतमुनि ने भावाध्याय मे कथन किया है। विभावानुभावो से युक्त ये भाव साधारणीभूत होते है, इस लिये जब ये अभिनीत होते है या कवि के द्वारा इनका वर्णन किया जाता है तब रसिक को भी भावित अर्थात् व्याप्त करते है[९]। 'भावित' का व्याप्त अर्थ भी भरत का ही दिया हुआ है। एक ओर से ये भाव कवि के अन्तर्गत भाव को भावित करते है और दूसरी ओर से दर्शक या रसिक को भी व्याप्त करते है। इस प्रकार भरत के नाट्य विश्व मे कवि, नट तथा दर्शक सभी का अन्तर्भाव होता है।

सारांश, भरत द्वारा वर्णित भाव नाट्याश्रित भाव है, वे विभावानुभावो से ही संयुक्त है, तथा विभावानुभावो द्वारा ही इनकी सिद्धि होती है। विभावानुभाव लोकानुसिद्ध तथा [illegible]नगामी होने पर भी लौकिक नही होते। वे नाट्यधर्म है और अलौकिक ही है। [illegible] एव अलौकिक विभावानुभावो द्वारा अभिव्यक्त होने वाले नाट्याश्रित भाव भी अलौकिक ही होते है। वे लौकिक मनोविकार नही होते। अतएव लौकिक मनोविकारो के स्तर से उनकी परीक्षा भी नहीं की जा सकती। भरत की दी हुई भावो की सूचि लौकिक मनोविकारों की सूचि नही है। हमे इस

---

९. त एव वाचिकाद्या अभिनया· प्रमुखदशाया देशकाल्गतत्वेन यद्यपि भान्ति, तथापि नटस्य निर्गुणात् (निर्गुणत्वात्) न तत्त्वात् रामादे· परमार्थासत्त्वात् भ्रान्तिज्ञानाभावाच्च नियततां विजहन्तः साधारणीभावमनुप्राप्ता. सामाजिकजनमपि मृगमदामोददिशा व्याप्नुवन्ति। (अ. भा. अ. ७)

बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह अभिनेय नाट्यभावों की सूचि है । इस सूचि में कई भाव लौकिक मनोविकारों से सवादी दिखायी देते हैं, और कई शारीरिक अवस्थाओं से समान दीखते है, इस लिये यह सूचि दोषपूर्ण है ऐसी आपत्ति 'रस-विमर्शकार' ने उठायी है [१०]। किन्तु ऐसी आपत्ति उपस्थित करने की कोई आवश्य-कता नही है। मनोविकारो का विश्लेषण करके इनका भावत्व सिद्ध करने का भरत मुनि का उद्देश्य नही है । उनके समक्ष प्रश्न बिलकुल सरल है और वह यह है कि इन भावों का अभिनय कैसे किया जायँ ? और इसी दृष्टि से उन्होंने भावो का विवेचन किया है। 'रति' रूप मनोविकार का क्या स्वरूप है, यह मूल विकार है या सयुक्त भावना है इस बात से भरत का कुछ मतलब नही है। केवल इतना ही बताना है कि अभिनयद्वारा रति की अभिव्यक्ति किस प्रकार करनी चाहिये । भरत मुनि के समक्ष 'उत्साह' एक मनोविकार है या एक शारीर और मानस प्रेरक शक्ति है यह समस्या नही है, प्रत्युत उनका प्रयोजन है उदात्त पुरुष के उत्साह का अभिनय के द्वारा दर्शन किस प्रकार कराना चाहिये। भिन्नभिन्न ४९ भावो का अभिनयद्वारा प्रत्यक्षवत् दर्शन कराना यह एक ही प्रश्न भरतमुनि के सम्मुख है, इस लिये वे हर्ष, लज्जा, आदि मनोविकारो के साथ ही मरण, निद्रा, आलस्य आदि अवस्थाओ के भी विभावानुभाव कथन करते है। 'वागगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावा.' इस प्रकार भरत ने भावलक्षण किया है और इसी दृष्टि से काव्यार्थ का भावन करनेवाली बाते उन्होने एकत्रित रखी है। इन नाट्यभावो मे से कई भाव लौकिक मनोविकारो से सवादी हो सकते है और कई शारीरिक अवस्थाओ से सवादी हो सकते हैं, किन्तु काव्यार्थ को भावित करने का एक ही सामान्य धर्म इन सब में है और इसी दृष्टि से भरत ने उन्हे एक ही सूत्र मे ग्रथित किया है। केवल इसी प्रमाण पर कि इस सूचि में ग्रथित कतिपय भाव मनोविकारो से सवादी है — भरत मनोविकारो की सूचि देना चाहते है ऐसी धारणा बना कर, भाव = मनोविकार का लौकिक अर्थ, भ[illegible]क्त क[illegible]। अभिप्रेत न होकर भी उन पर लाद देना और इस दृष्टि से उनकी बना[illegible] सूचि की जाँच करना व्यर्थ है। भरत के भावलक्षणों की जाँच करते समय "तस्मादेतेषां विभावानुभाव सयुक्ताना लक्षणनिदर्शनानि अभिव्याख्यास्याम:।" इस वचन का स्मरण अवश्य ही रखना होगा। एवं इस वचन का स्मरण रखते हुए इन भावो को देखने से, व्यग्यव्यजकभाव छोड़कर, लौकिक कार्यकारण भाव के आधारपर मनोविज्ञान की दृष्टि से इन भावों की परीक्षा करने का कोई कारण नही रहता। सप्तम अध्याय

---

१०. देखिए— डॉ. के. ना. वाटवे— 'रसविमर्श' (मराठी)

का निर्देश किया है। कहा जाता है कि रसिक दर्शक रसास्वाद के समय स्थायीभाव का आस्वाद लेता है। यह स्थायिका आस्वाद, व्यक्तिगत लौकिक, रति आदि मनोविकारो का आस्वाद नही है। अभिनय द्वारा अलौकिक विभाव आदि मे से अभिव्यक्त होने वाले अलौकिक रति आदि का इन विभाव आदि के साथ समूहा-लबन से यह आस्वाद हुआ करता है। मुनि स्पष्ट ही कहते हैं–" नानाभावाभिनय-व्यजितान् वागगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनस. प्रेक्षका हर्ष चाधिगच्छन्ति।" इसीमें उन्होने लौकिक मनोविकारो के आस्वाद का निरास किया है। अलौकिक विभावानुभावो से अलौकिक भावाभिव्यजना होती है, और अलौकिक भावाभिनय से समकाल ही अलौकिक स्थायी का व्यजन होता है एवम् यह अलौकिक अभिव्यक्ति ही आस्वाद्य होती है। भरत के निर्देशित विभावानुभाव नाटकगत ही है, उनके भाव भी नाट्यभाव है एवम् उनका रस भी नाटचरस ही है। उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है कि, 'तस्मात् नाटचरसा इति अभिव्याख्याताः' और अपने इस कथन की पुष्टि में अनुवश श्लोक उद्धृत किये है।

'सग्रहकारिका' में निर्देशित अर्थो पर विचार करते हुए प्रवृत्ति से लेकर रस तक इस क्रम मे हम आते है। भरत का विश्लेषण रस से लेकर प्रवृत्ति तक इस क्रम से है क्यो कि उनकी दृष्टि प्रयोगविश्लोषण की है। भरतका यह क्रम आज हम ठीक तरह से नही समझ पाते इस लिये आरभ में उलटे क्रम से इन्ही अर्थो की विवेचना करना तथा उनके स्वरूपो को समझ लेना आवश्यक हो गया। अब हम भरत के प्रसिद्ध रससूत्र का विचार कर सकते है। भरत का रससूत्र यो है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगात् रसनिष्पत्ति ।'

इस सूत्र का सरल अर्थ है–" विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावो के सयोग से रसनिष्पत्ति होती है।"

रस के सम्बन्ध मे विविध मत

नाट्यप्रयोग के लिये भरत ने 'रसप्रयोग' शब्द का भी प्रयोग किया है। रगमच पर नट रसप्रयोग करते है। दर्शक उस प्रयोग का आस्वाद लेते है। रसप्रयोग की सब सामग्री कृत्रिम होती है। वास्तव में रसिक नट की रची हुई भूमिका देखते है। वह तो नाट्य धर्म मात्र होता है। किन्तु दर्शक का आस्वाद तो सत्य ही होता है। नट की भूमिका के समान वह कृत्रिम नही होता। अब प्रश्न यह उठता है कि इस कृत्रिम भूमिका से रसिक को रसास्वाद कैसे प्राप्त होता है? इस प्रश्न की विवेचना में ही रसचर्चा का बाद का इतिहास आ जाता है। इसके आगे चर्चा का

विषय है–विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावो के सयोग से रसनिष्पत्ति होती है इस वचन का अर्थ क्या है ?

नाट्यशास्त्र की अनेक टीकाएँ हुई है। हर्ष, उद्भट, लोल्लट, श्रीशकुक, अभिनवगुप्त आदि नाट्यशास्त्र के ख्यातिप्राप्त टीकाकार है। इन टीकाओ मे से, अभिनवगुप्त की ‘ नाट्यवेदनिवृत्ति ’ या ‘ अभिनवभारती ’ यह एक ही टीका आज उपलब्ध है। अन्य टीकाएँ उपलब्ध नही है। ‘ अभिनवभारती ’ मे जो पूर्वपक्ष या मतान्तर उद्धृत किये गये है उनसे ही अभिनवपूर्व मतो का अनुमान लगाना पडता है।

भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त के समय में लगभग ७०० से ८०० वर्षो का अन्तर है। इनके मध्य काल में सस्कृत वाड्मय बहुत सपन्न हुआ। कालिदास भारवि, माघ आदि के महाकाव्य, अमरु तथा गाथाकवियो के मुक्तक, कालिदास, विशाखदत्त, नारायण, हर्ष, भवभूति आदि के नाटक इसी काल में रचे गये हैं। इस नवनिर्माण का साहित्य चर्चा पर परिणाम होना स्वाभाविक था। इस चर्चा में जो नये प्रश्न उत्पन्न हुए उन्हे लेकर रसचर्चा होने लगी। नाट्य के समान ही काव्य से भी रसास्वाद कैसे प्राप्त होता है इस पर भी चर्चा होने लगी। इस विचार मे अनेक भिन्न भिन्न मत निर्माण हुए। अभिनवगुप्त ने ऐसे अनेक मतो का ‘ ध्वन्यालोकलोचन ’ मे निर्देश किया है। सक्षेप में वे इस प्रकार है—

(१) विभावादि का पात्रगत स्थायीभाव से सयोग हो कर पात्रगत स्थायीभाव परिपुष्ट होता है। यह परिपुष्ट स्थायी ही रस है। रस वस्तुत रामादि अनुकार्य पात्रो मे रहता है एवम् अनुसधान के बल से वह नट मे प्रतीत होता है। यह लोल्लट का मत है।

(२) विभावानुभावादि लिगो से नटगत स्थायी अनुमित होता है तथा अनुकार्य राम से नट भिन्न नही है इस बात का ध्यान रखते हुए इस स्थायी का आस्वाद होता है। इस मत के अनुसार रस नटाश्रित है, रामादि का आश्रित नही है।

(३) दीवार पर रगो के उचित मिश्रण से तुरग का आभास मिलता है, इसी प्रकार अभिनयसामग्री के कारण नट में रामगत स्थायी का आभास निर्माण होता है। यह मिथ्याज्ञानरूप आभास ही रस है। यह मत तथा उपर्युक्त क्रमाक २ का मत-इन दोनो पर श्रीशकुक की रस की उपपत्ति आधारित है।

(४) विभावानुभाव जब उचित रूप मे दर्शाये जाते है तब उनके द्वारा स्थायी चित्तवृत्ति विभावनीय तथा अनुभावनीय होती है। रसिक वासना की – जो कि चित्तवृत्ति के लिये उचित होती है – चर्वणा ही रस है।

(५) कोई ऐसे है कि जिनके मत मे शुद्ध विभाव, कोई ऐसे है जिनके मत में केवल अनुभाव, किसीके मत मे केवल स्थायी, किसीके मत मे केवल व्यभिचारी, किसीके मत मे इनका सयोग, और अन्य किसीके मत मे इनका समुदाय ही रस है।

(६) एक मत यह भी था कि रस स्वशब्दवाच्य भी हो सकता है। इसकी आनन्दवर्धन ने आलोचना की है। सभव है कि क्रमाक ५ और ६ के मत उद्भट के हो।

(७) भट्टनायक के मत मे रस प्रतीत नही होता, उत्पन्न नही होता, या अनुमित भी नही होता। भोज्य-भोजक भाव से रसिक रस का आस्वाद करता है।

(८) 'अभिनवभारती' मे अभिनवगुप्त ने साख्य दार्शनिको के रससम्बन्धी मत का निर्देश किया है कि–विभाव बाह्य सामग्री है एवम् इन विभावो पर अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों का सस्कार होता है और इस सामग्री से सुखदु ख रूप स्थायी उत्पन्न होता है।

इन विविध मतो मे से लोल्लट, श्रीशकुक तथा भट्टनायक के मतो का प्रामाणिक स्वरूप हमें अभिनवभारती से ज्ञात होता है। अन्य मतो के आचार्य कौन थे इसका कोई पता नही। नाटचशास्त्र पर उद्भट की टीका थी। उद्भट के मतो का निर्देश 'अभिनवभारती' मे अनेक स्थानो पर आया है, किन्तु उद्भट के रसविपयक मत का कोई निर्देश नही है। इस लिये उद्भट का रस के सम्बन्ध मे क्या मत था इसका निर्णय नही किया जा सकता। दण्डी के मत का सक्षिप्त उल्लेख अभिववगुप्त ने किया है। इस लिये, जो कुछ सूचना उपलब्ध है उसी के आधारपर कुछ अनुमान–जो सभवनीय लगते हैं–आगे दिये जाते हैं।

भामह और दण्डी के रसविषयक मत

भामह तथा दण्डी ने 'रसवत्' की सज्ञा देकर रस के सम्बन्ध में कुछ कहा है। उनका कथन है कि, काव्य रसवत् होता है, काव्य प्रेयस्वत् होता है अथवा काव्य ऊर्जस्वी होता है। उन्होने रस की प्रक्रिया नही बतायी। उनके ग्रन्थो मे रसप्रक्रिया का पूर्वभाव गृहीत है। उन्होने जो कुछ लिखा है उस पर से लगता है कि उनके मतो मे रस काव्यगत पात्रो के माने जाते थे। भामह और दण्डी के वचन इस प्रकार है–

प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥

रसवत् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरस यथा ।
देवी समागमच्छद्ममस्करिण्यतिरोहिते ।।
ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सदधाति कि कर्णः शल्येत्यहिंरपाकृत. ।।

विदुर का भाषण प्रेयस्वत् है । छद्मबटुवेष त्यागने पर शिवजी से पार्वती का मिलन हुआ । इस प्रसग में शृगार रस स्पष्ट है । कर्ण का भाषण ' द्विः सदधाति किं कर्णः '– ऊर्जस्वी है । इस पर से प्रतीत होता है कि रस और भाव काव्यगत व्यक्तियो के ह । भामह ने प्रत्येक रस का पृथक् उदाहरण नही दिया । किन्तु दण्डी ने आठो रसो के उदाहरण दिये है। इन उदाहरणो से प्रतीत होता है कि दण्डी का मत भी भामह के मत के समान ही था । दण्डी के निम्न वचन देखिये —

१. रतिः शृगारतां गता । रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वच. ।।
२. इत्यारुह्य परा कोटि क्रोधो रौद्रात्मता गत ।
भीमस्य पश्यत शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः ।।
३. इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।
रसवत्त्व गिरामासा समर्थयितुमीश्वरः ।।

रूपबाहुल्ययोग से अर्थात् विभावादि की प्रचुरता से रति शृंगार दशातक पहुँची है अतएव यह वचन रसवत् है; उपर्युक्त पद्य में, भीम शत्रु को देख रहे थे कि उनका क्रोध पराकोटि तक गया एव वह रौद्रावस्था को प्राप्त हुआ अतएव यह वचन रसवत् है; इस प्रकार उत्साह वीर रस के रूप में प्रकृष्ट हुआ है तथा इस वचन का रसवत्त्व समर्थित कर रहा है । यही भामह का ' दर्शितस्पष्टरसत्व ' है । इन वचनो पर ध्यान देने से तीन बाते स्पष्ट हो जाती है । रत्यादि भाव विभावादि (रूपबाहुल्य) के कारण जब पराकोटि को प्राप्त होते है तो रस का अविर्भाव होता है। अर्थात् रस है भावो की उपचयावस्था । ये भाव तथा रस काव्यगत व्यक्तियों के ही होते है तथा इसमें इनकी व्यक्तिगत भावनाओं का ही उपचय होता है (भीम का क्रोध पराकोटि तक पहुँचा और रौद्र रूप हुआ) । इस प्रकार काव्यगत पात्रो में रस स्पष्ट रूप में प्रतीत हो रहा है अतएव काव्य रसवत् अर्थात् रसयुक्त है । काव्य की रसवत्ता काव्यगत अष्ट रसो पर अवलबित होती है । (इह त्वष्ट रसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।– दण्डी) । दण्डी के मत में रस आठ है । भावों के सबध में भामह या दण्डी कुछ भी नही कहतें । जिस वचन मे प्रीति दिखायी देती है वह प्रेयोयुक्त वचन, तथा जिस में अहंकार (अर्थात् पात्रों का) दिखाई देता है वह ऊर्जस्वी वचन, इतना ही उन्होने भावों के संबध में कहा है ।

पात्र का व्यक्तिगत लौकिक स्थायीभाव ही विभावादि से परिपुष्ट होता है। इस स्थायी की परिपुष्टावस्था ही रस है इस प्रकार का भट्ट लोल्लट का मत आगे निर्दिष्ट किया जायेगा। प्राचीन आचार्यों का भी ऐसा ही मत है (चिरन्तनाना च अयमेव पक्षः) ऐसा अभिनवगुप्त ने कहा है, एवम् अपने कथन की पुष्टि के लिये 'काव्यादर्श' के वचनो का आधार दिया है। भामह-दण्डी के उपर्युक्त वचनो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रसविषयक धारणा व्यक्तिगत स्थायी की परिपुष्टि पर ही आधारित थी। इन चिरन्तन आचार्यो की रसमीमासा के सबन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

उद्भट के रस विषयक मत

अभिनवगुप्त उद्भट को भी प्राचीन आचार्य मानते है। उद्भट की नाटच-शास्त्र पर लिखी टीका उपलब्ध नही है। किन्तु उनका 'काव्यालकार-सारसग्रह' नामक अलकारग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थकारो ने उनके उद्धृत किये हुए वचनो से उनके रसविषयक मतों के सबन्ध मे कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। उद्भट ने प्रेयस्वत् काव्य, रसवत् काव्य तथा ऊर्जस्वी काव्य इस प्रकार भेद किये है और 'काव्यालकारसारसग्रह' में इनके लक्षण इस प्रकार दिये है —

रत्यादिकाना भावानामनुभावादिसूचनै ।
यत्काव्य बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥
रसवद्दर्शितस्पष्टशृगारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥
अनौचित्यप्रवृत्ताना कामक्रोधादिकारणात् ।
भावाना च रसाना च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥
रसभावतदाभासवृत्ते प्रशमबन्धनम् !
अन्यानुभावनि.शून्यरूप तत्स्यात् समाहितम् ॥

रत्यादि भावों का अनुभावों द्वारा सूचन मात्र करते हुए जो काव्य ग्रथित किया जाता है वह काव्य प्रेयस्वत् है। जिसमे स्वशब्द, स्थायी, संचारी, विभाव तथा अनुभाव (अभिनय) के आश्रय से शृगारादि रसो का उदय स्पष्ट रूप मे दिखायी देता है वह काव्य रसवत् है। काव्यगत व्यक्ति काम क्रोध आदि के अधीन होने से उसमें अनुचित रूप में प्रवृत्त रसभाव जिसमे ग्रथित किये होते है वह काव्यबन्ध ऊर्जस्वी है, तथा रसभाव अथवा उनके आभासों के प्रशम का जिसमें वर्णन होता है एवम् अन्य किसी भी रस भावों के अनुभावो का वर्णन नही होता वह काव्यबन्ध समाहित काव्यबन्ध है।

उद्भट का यह विवेचन दण्डी तथा भामह के विवेचन से आगे बढा हुआ है। भामह दण्डी का प्रेयस् प्रियतराख्यान मात्र तक ही सीमित था, उसका यहाॅ इस प्रकार विस्तार किया है कि वह सम्पूर्ण भावो को लागू हो सकता है। पूर्वाचार्यो के ऊर्जस्वी को यहाॅ अधिक विशद तथा स्पष्ट रूप मे बताया है। यह ऊर्जस्वी ही आगे चल कर रसाभास तथा भावाभास के रूप में परिणत हुआ है। समाहित को भी उद्भट ने इसी प्रकार विशद किया है। भामह ने समाहित का तो लक्षण ही नही दिया। केवल राजमित्र काव्य के प्रसग का उदाहरण दे कर समाहितबन्ध बताया है। दण्डी ने सामाहित का लक्षण दिया है किन्तु वह उपलक्षणात्मक वर्णन मात्र है। दण्डी का कथन है—" किसी कार्य का आरभ करने पर दैवयोग से उसके साधन की पूर्णता हुई एव वह कार्य सिद्ध हुआ इस प्रकार का वर्णन ही समाहित है " किन्तु समाहित की यह बाह्यांग कल्पना मात्र है। उद्भट ने उसके अतरग स्वरूप का कथन किया है अतएव उद्भट कृत लक्षण अधिक मूलगामी है। इसके अतिरिक्त, रसविषयक अन्य बातों के विवेचन मे भी उद्भट अधिक स्पष्टता लाये हैं।

काव्यविवेचन में उद्भट ने रस और भाव में भेद स्पष्ट करते हुए उनका विभावो के साथ सबन्ध दर्शाया है। अनुभाव मात्र से रत्यादि का सूचन हुआ तो वह भाव है, एवम् विभावादि के आश्रय से शृगारादि का स्पष्ट उदय हुआ तो वह रस है, ऐसा उद्भट का मत प्रतीत होता है। सभव है कि ये रसभाव काव्यगत व्यक्ति के ही हो ऐसा भी उनका मत था। उनका कथन है कि काव्यगत व्यक्ति काम, क्रोध आदि के अधीन होने से उसमे होने वाला रस, भाव आदि का अनुचित उदय ही ऊर्जस्वी है। इसका अर्थ यह होता है कि रसवत् तथा ऊर्जस्वी मे बताया गया भेद काव्यगत व्यक्ति की मनोदशा से सबद्ध है। इन सब बातो की ओर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि उद्भट भी परिपुष्टिवादी ही था। उद्भट ने रसवत् काव्य का लक्षण भी भामह के ही शब्दो में दिया है। इस प्रकार उद्भट ने पूर्वाचार्यो के ही मत को अधिक विशद कर, अच्छा रूप दिया है।

इसके अतिरिक्त उद्भट ने अपने विचारो का भी बहुत बड़ा योग दिया हुआ प्रतीत होता है। दण्डी आठ ही रस मानते हैं किन्तु उद्भट ने शान्त सहित नौ रस माने है। उद्भट का कथन है कि भावो की अवगति चार प्रकारो से तथा रसो की अवगति पाॅच प्रकारो से होती है। भावो के सूचक चार है— स्वशब्द, विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव, और रस की अवगति के पाॅच प्रकार है—स्वशब्द, स्थायी, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव। प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के वचन ' चतूरूपा भावा ।' तथा ' पचरूपा रसाः ' उद्धृत किये है तथा उसका कहना है कि ये उप-

र्युक्त अवगतिप्रकरो को ही लक्षित करते है । सभव है कि ये वचन 'भामह-विवरण' में से हो।

उद्भट का मत है कि रस की अवगति कभी स्वशब्द से होती है, और कभी स्थायी के आश्रय से होती है। वैसे ही वह कभी विभाव, कभी अनुभाव और कभी सचारिभाव के आश्रय से भी होती है। पूर्व रसादिध्वनि के अध्याय में रससूचनान्तर्गत दिये हुए विभावप्राधान्य (केलीकदलितस्य), अनुभावप्राधान्य (यद्विश्रम्य विलोकितेषु) तथा व्यभिचारिप्राधान्य (आत्तमात्तम्) के उदाहरणो का यहाँ स्मरण रहे। रस को काव्याश्रित मानने से, यह कहना सभव होगा कि उपर्युक्त उदाहरणो मे रस विभाव मात्र का आश्रित है, अनुभाव मात्र का आश्रित है अथवा सचारी मात्र का आश्रित है। इसी में स्थाय्याश्रित तथा स्वशब्द की जोड देने से उद्भट की 'पचरूपा रसा' तथा 'चतूरूपा भावा' की कल्पना स्पष्ट हो जाती है। उद्भट की यह कल्पना तथा अभिनवगुप्त का 'ध्वन्यालोकलोचन' स्थित "अन्ये शुद्ध विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्. रसमाहु।" यह वचन इन दोनो को एकत्रित करने पर लगता है कि सभवतः इन दोनो में कुछ न कुछ सबन्ध है। "रस स्वशब्दवाच्य हो सकता है" इस रूप के एक प्राचीन मत की आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' मे आलोचना की है। उद्भट तो अपना मत 'स्वशब्द से रस की अवगति होती है' स्पष्ट रूप मे कहते हैं। अतएव साफ दिखाई देता है कि आनन्दवर्धन अपनी आलोचना में उद्भट ही के मत की खबर ले रहे है। "तथा हि वाच्यत्व तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात् विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा" इससे आगे लिखी आनन्दवर्धन की वृत्ति तथा उद्भट की कारिका मे तुलना बडी रजक है। उद्भट का यह मत तथा अभिनवगुप्त द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त चार मतो को एकत्रित करने से, उद्भट के 'पचरूपा रसाः' इस वचन की सगति लग जाती है। तथा पूर्व दिये हुए रसविषयक मतों मे से पाँचवा तथा छठा मत उद्भट तथा उनके अनुयायियो का होगा यह कहना सभव हो जाता है। आनन्दवर्धन के समान श्रीशकुक भी कहते हैं कि रस स्वशब्दवाच्य नहीं है। स्वशब्द से स्थायी का अभिधान मात्र होता है, स्थायी का अभिनय नही होता, अतएव इससे रसप्रतीति नही हो सकती इस प्रकार की आलोचना अनुमानवादी शकुक ने भी की है।

रसविवेचन में उद्भट ने और एक बात भी जोड दी है। उन्होंन रसो का स्वरूप तथा दशरूप में रसो का प्राधान्य आस्वाद्यात्व तथा पुमर्थत्व (पुरुषार्थत्व) की दो कसौटियो पर निर्धारित किया है।

चतुर्वर्गेतरौ प्राप्यपरिहार्यौ क्रमाद्यत ।
चैतन्यभेदादास्वाद्यात् स रसस्तादृशो मतः ।।

इस कारिका के आधार पर प्रतीहारेन्दुराज ने कहा है कि, सभी भाव आस्वाद्य तो होते ही हैं किन्तु रस तो वही भाव है जो कि चतुर्वर्ग की प्राप्ति का या तदितर परिहार का उपायभूत होता है । 'काव्यालकारसारसग्रह' के कई संस्करणों मे यह कारिका मिलती नही; अत रस के आधार पर कुछ निर्णय करना कठिन है; किन्तु तब भी अन्य आधारो पर भी यह दर्शाया जा सकता है कि उद्‌भट ने आस्वाद्यत्व के साथ पुमर्थत्व को भी रस की एक कसौटी माना है । 'नाटचशास्त्र' के दशरूपाध्याय की टीका में अभिनवगुप्त ने वृत्ति तथा रसविभाव के सबन्ध में उद्‌भट का विचार विस्तारश दिया है । उसे पढने से प्रतीत होता है कि उद्‌भट ने रस-स्वरूप निर्धारित करने में पुमर्थत्व को एक कसौटी माना था । नाटचगत रसो का उद्‌भटकृत विभाग बडा विचारणीय है। उद्‌भट का कथन है कि – धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन पुरुषार्थो के अनुसार नाटच मे क्रम से वीर, रौद्र, शृगार तथा शान्त-बीभत्स रस आते हैं । रूपक के दश भेदो में से भाण, प्रहसन तथा उत्सृष्टिकाक केवल मनके रजनार्थ हैं । नाटक तथा प्रकरण रूप दो भेद पुरुषार्थप्रधान हैं इस लिये इनमें धर्मार्थादि वीर ही प्रधान रस होता है । समवकार, डिम तथा व्यायोग मे वीर अथवा रौद्रप्रधान होता है, और ईहामृग रौद्रप्रधान ही होता है । नाटिका शृंगारप्रधान होती है । अन्य रूपक रजनप्रधान होते हैं; इनमें अन्य रस प्रधान होते हैं। शान्त तथा निर्वेदजनक बीभत्स मोक्ष से सबद्ध हैं नाटक में स्थान फल की प्रधानता की अपेक्षा रहता है ।

उद्‌भट के रसविषयक तथा वृत्तिविषयक मत आगे चल कर स्वीकार नही हुए । किन्तु इससे रसविवेचन मे उद्‌भट का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसे बाधा नही पहुँचती । आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने उद्‌भट के अन्य रसविषयक मतो की आलोचना तो की है, किन्तु इस बात का स्मरण रहें कि रसों का उद्‌भट कृत पुमर्थमूल विभाग उन्हे भी स्वीकार है । रसो का उद्‌भटकथित पचरूपत्व यद्यपि आगे चलकर स्वीकार न हुआ, तथापि विभावानुभावो के व्यजकत्व का मार्ग इसी विवेचना से निकला है । उद्‌भट का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि रस का प्रक्रियात्मक विवेचन उन्होने काव्य से लागू कर दिखाया । जब उद्‌भट कहते है कि काव्य में रस का आश्रय कभी विभाव, कभी अनुभाव और कभी सचारी भाव होते है, तब उनके समक्ष निश्चय ही दृश्यकाव्य न हो कर श्रव्यकाव्य हैं । ये कल्पनाएँ नाटच के प्रयोग की दृष्टि से उपपन्न नही होती । नाटच तो रसप्रयोग है । वहाँ विभाव रूप मात्र, अनुभावरूपमात्र, अथवा स्वशब्दवाच्य इस प्रकार का

रसस्वरूप ही नही प्राप्त हो सकता। वहाँ तो सभी की सयुक्त अवस्था ही दिखायी देगी। इस प्रकार का रस स्वरूप श्रव्यकाव्य मे ही हो सकता है। और, क्यो कि उद्भट ने रसो का इस प्रकार का स्वरूप बताया है, कहा जा सकता है कि उन्होने श्रव्यकाव्य की दृष्टि से रसमीमासा की है।

इस बातपर ध्यान देने से साहित्यविवेचन के विकासान्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण बात स्पष्ट हो जाती है। आजकल एक साधारण धारणा हो गयी है कि रसचर्चा आरम्भ में नाटच की आनुषगिक थी तथा आनन्दवर्धन ने काव्यचर्चा से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया। इस कथन की भ्रान्ति अब स्पष्ट हो जायगी। 'रस स्वशब्द-वाच्य है' आदि वाद आनन्दवर्धन के पूर्व ही उपस्थित हुए थे। और, क्योंकि यह प्रश्न श्रव्यकाव्य की अपेक्षा से ही उपस्थित हो सकते है, यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन के पूर्व काल से ही रसचर्चा श्रव्यकाव्य के सबन्ध मे की जा रही थी। इस दृष्टि से चर्चा करनेवाला आनन्दवर्धनपूर्व ग्रन्थकार उद्भट है।

लोल्लट का रसविषयक मत

भामह, दण्डी तथा उद्भट तीनो काव्यगतव्यक्ति को ही रस का आश्रय मानते थे। इनका विचार था कि इस व्यक्ति का रतिक्रोधादि स्थायिभाव पराकोटि तक पहुँचता है अथवा स्पष्टरूप मे दर्शित होता है तब वही रसपदवी को प्राप्त होता है। इसी विचार को लेकर भट्ट लोल्लट रससूत्र की विवेचना करते है। लोल्लट तथा श्रीशंकुक का समय ठीक ठीक नही बताया जा सकता। किन्तु, क्योकि 'अभिनव-भारती' में किये गये निर्देश से दिखायी देता है कि लोल्लट ने उद्भट की तथा श्रीशकुक ने लोल्लट की आलोचना की है, कहा जा सकता है कि उद्भट के बाद लोल्लट के और लोल्लट के बाद श्रीशकुक का समय है। (डॉ वाटवे ने लोल्लट का समय सन ७०० से ८०० ईसवी तथा श्रीशकुक का समय सन ८२५ ईसवी लिखा है।) [११]

अभिनवगुप्त ने लोल्लट का मत सक्षेप में निर्दिष्ट किया है। उस पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि रसप्रक्रिया के सबन्ध में उद्भट तथा लोल्लट का मत एकसा ही था और अभिनवगुप्त का ऐसा निर्देश भी है। सक्षेप मे भट्ट लोल्लट का मत इस प्रकार है।

" रससूत्र का कथन है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के सयोग मे रसनिष्पत्ति होती है'। विभावादि का यह सयोग किससे होता है? लोल्लट का कथन है कि इनका यह सयोग स्थायी से होता है। भट्ट लोल्लट के अनुसार

---

११. देखिये – डॉ. के. ना. वाटवे— 'रसविमर्श' (मराठी).

विभावानुभावव्यभिचारियो का स्थायी भाव से सयोग हो कर रसनिष्पत्ति होती है। इस सयोग का स्वरूप लोल्लट इस प्रकार बनाते हैं—विभाव स्थायी चित्तवृत्ति की उत्पत्ति के कारण हैं। सूत्र में कथित अनुभाव भावो के अनुभाव है न कि रसजन्य अनुभाव इन्हे रसजन्य अनुभाव मानने से ये रस के कारण नही रहेंगे। इस लिये इन्हे भावो हीके अनुभाव मानना होगा। व्यभिचारी भाव भी चित्तवृत्तिरूप है और स्थायी भाव भी चित्तवृत्तिरूप है। यह ठीक है कि इन दोनो चित्तवृत्तियो का सभव समकाल नही हो सकता, किन्तु तब भी यहाँ स्थायी का वासनात्मक रूप विवक्षित है। विभावो से स्थायी उत्पन्न होता है, अनुभावो से यह स्थायी प्रतीत होता है, तथा व्यभिचारियो से यह उपचित अर्थात् परिपुष्ट होता है। इस प्रकार विभावादि के द्वारा उपचित स्थायी ही रस है। यह उपचित न हुआ तो रस नही होता। भाव मात्र रह जाता है। किन्तु यह उपचित होने वालास्थायी भाव किसका होता है? इस पर लोल्लट का कथन है यह स्थायी मुख्यवृत्ति से रामादि का (नाटचगत व्यक्ति का) होता है अतएव रस भी वस्तुतः मुख्यवृत्ति से रामादि का ही होता है। किन्तु रामादि के रूप का नट अनुसन्धान करता है। इस अनुसन्धान की सामर्थ्य से रस भी हमे नट ही में प्रतीत होता है। भरत रस को नाट्यरस कहते हैं इसका कारण केवल यही है कि रामादि के इस रस का प्रयोग नाट्य में दर्शाया जाता है। भट्ट लोल्लट का यह मत दण्डी उद्‌भट आदि प्राचीन आचार्यो के मत के समान ही है। रति की पराकोटि होने पर शृंगार होता है। भीम के क्रोध की पराकोटि होने पर वह रौद्रा अर्थात् यह रौद्र भीम ही का है। नाट्य मे भीम के रौद्र रस का प्रयोग दर्शाया जाता है अतएव यह नाट्य रस है, एव काव्य में इसका वर्णन होता है इस लिये ऐसा काव्य रसवत् होता है।

रसप्रक्रिया के विकास में यह पहली सीढी है और इसी दृष्टि यह ठीक भी है। आपातत· हम भी यही समझते है न। हम 'अभिज्ञानशाकुतल' नाटक मे शृगार देखते है। यह शृगार किस का है? दुष्यत और शकुतला का। 'कुमार-सभव' में शोक पढते है। यह शोक है रति का। इसी ढग की यह उपपत्ति है। लोल्लट के उपपत्ति में निम्न बातो पर ध्यान देना आवश्यक है।—

(१) स्थायीभाव तथा रस मे मूलत कोई भेद नही है। उनमे भेद है केवल उपचिति और अनुपचिति का, अन्यथा वे दोनो एक ही है।

(२) रस व्यक्तिनिष्ठ होता है। यह रामादि की ही वृत्ति है, न कि अन्य किसी की। वेष, रूप आदि के कारण नट मे राम आदि का अभिनिवेश उत्पन्न होता है। नट रामादि के अभिनिवेश मे रगमच पर आता है। तथा हम

भी उसे 'राम' ही मानते है। इस कारण, नट की क्रियाएँ हम राम ही की क्रियाएँ समझते हैं।

(३) इसीसे नट भी रसास्वाद लेता है ऐसा लोल्लट का कथन है। नट मे वासनावेश होनेसे रसभाव- उत्पन्न होते है। (रसभावानामपि वासनावेश-वशेन नटे सभवात्)।

(४) दर्शक नाट्य प्रयोग मे बाह्य होता है। नाट्यभावो का ग्रहण वह बाहर ही से करता है (भावानां बाह्यग्रहणस्वभावत्वम्)। यह सब वह दूर रह कर देखता है। रससूत्र की विवेचना मे लोल्लट ने यह कहा तो नही है। किन्तु दशरूपाध्याय में उद्भट की आलोचना करते हुए अभिनवगुप्त ने यह कहा रखा है।

लोल्लट का शंकुककृत परीक्षण

प्रारभिक होने की दृष्टि से लोल्लट की यह उपपत्ति ठीक लगती भी है किन्तु टिक नही सकती थी। लोल्लट ने अपना विचार रससूत्र के विवेचन के रूप में प्रस्तुत किया था। इस कारण इस पर दो प्रकार की आपत्तियाँ उठायी गयी। एक तो यह कि क्या रससूत्र के अभिप्राय की दृष्टि से यही ठीक है और दूसरी आपत्ति यह की, यदि यह भी मान लिया कि यह उपपत्ति-स्वतन्त्र है तो क्या यह परीक्षण सह सकती है ? श्रीशकुक ने लोल्लट की उपपत्ति की दोनो दृष्टियो से परीक्षा की है। सक्षेप मे वह इस प्रकार है—

(१) पर्वत पर अग्नि है इस बात का ज्ञान बिना धूम के नही हो सकता। इसी प्रकार जबतक स्थायी का विभावादि से योग नही होता तबतक स्थायी का भी बोध होना असभव है। क्योकि जबतक विभावादि से स्थायी सयुक्त नही होता तबतक उसका कोई ज्ञापक ही नही हो सकता। और आप तो स्थायी का ज्ञान पहले ही से अध्यहृत समझते है ? विभावादि से जबतक सयुक्त नही होता तबतक स्थायी का ज्ञान नही होगा और सयुक्त अवस्था मे ज्ञान होगा तो रस ही का होगा न कि अनुपचित स्थायी का।

(२) अच्छा, यह भी मान लिया कि स्थायी आप ही उत्पन्न होते है, विभाव द्वारा सूचित होते है, अनुभावो द्वारा पुष्ट होते है और व्यभिचारिभावो के सयोग से रसत्व प्राप्त करते है, तब नाट्यशास्त्र में स्थायीभावो के उद्देश और लक्षणो का विधान पहले होना चाहिये था। किन्तु मुनिने सर्वप्रथम रसो के ही उद्देशो और लक्षणो का विधान किया है।

(३) इतना ही नही, भरत ने रसो के सम्बन्ध मे जो विभाव-अनुभाव बताये है वे ही विभाव-अनुभाव स्थायिभावों के सबन्ध में भी बताये हैं। उदा० 'अथ

वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मक । स च असमोह-अध्यवसाय-नय-विनय-बल-पराक्रम-शक्ति-प्रताप-प्रभावादिभिः विभावै. उत्पद्यते । ' इस प्रकार वीररस के वर्णन में कथन करने के उपरान्त, फिर जब 'उत्साह' नामक स्थायीभाव का वर्णन करते है तब वे ही विभाव— 'उत्साहो नाम उत्तमप्रकृतिः । स च अविषाद-शक्ति-शौर्यादिभिः विभावैः उत्पद्यते ।' बताये है । भेद केवल इतना ही है कि एक स्थान मे विस्तार है, और दूसरे में सक्षेप । अच्छा, आपका विचार है कि स्थायी परिपुष्ट होने से रस होता है । स्थायी के उत्पत्ति के जो कारण बताये गये है उनके कथन के बाद स्थायी के परिपोष के भी वे ही कारण बताना क्या अर्थ रखता है ? स्थायी के उत्पत्ति के कारण और स्थायी के परिपोष के कारण एक रूप कैसे हो सकते है ? भरत ने तो वे एक रूप ही बताये है। तब, आप के मत का यदि स्वीकार किया जायँ तो भरतकृत रसलक्षण पर ही व्यर्थत्व का दोष आ जाता है ।

(४) एक ही भाव अनुपचित अवस्था में स्थायी होता है तथा उपचित अवस्था मे रस होता है ऐसा मानने से एक और आपत्ति उपस्थित होती है। भिन्न भिन्न व्यक्ति मे, एक ही स्थायी के मन्दतम, मन्दतर, मन्द आदि अनेक रूप हो सकते है । इन रूपो मे ये स्थायी जब उपचित होंगे तो, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम इस प्रकार एक ही रस के अनेक भेद हो सकेंगे ।

(५) अच्छा, इस आपत्ति के निरास के लिये, यदि ऐसा मान लिया कि 'अत्यत उपचित स्थायी ही रस होता है' तो फिर भरत ने हास्य रस के जो स्मित, अवहसित, विहसित आदि छह भेद दिये है उन भेदो की क्या व्यवस्था हो सकती है ? इसी प्रकार, भरत ने काम की दश अवस्थाएँ उत्तरोत्तर तारतम्य से कथन की है, इस प्रत्येक अवस्था के कारण तरतमभाव से शृगार तथा रति के भी असख्यात भेद मानना आवश्यक होगा ।

(६) आपके इस कथन का कि स्थायी तीव्र होने पर रस होता है— विपर्यय भी देखा जाता है । इष्ट वियोगजनित शोक आरभ में तीव्र होता है और क्रमशः शान्त हो जाता है; न कि तीव्र । क्रोध, उत्साह आदि के सबन्ध में भी यही कहा जा सकता है।

(७) अत एव रसप्रक्रिया की विवेचना में भाव से आरभ कर के रस की ओर नही जा सकते । प्रत्युत रस से आरंभ कर के भाव की ओर जाना पडता है। रसो को भावपूर्वकता नही है, प्रस्तुत भावो को रसपूर्वकता है। भट्ट लोल्लट ने रसो की भावपूर्वकता मान ली है इससे उनकी उपपत्ति मे दोष आ गया है । भरत

ने भी इस सबध में सूचना दी है। उन्होने भावो का रसपूर्वकत्व (रसेभ्यो भावा) तथा रसो का भावपूर्वकत्व (भावेभ्यो रस.) दोनो का कथन किया है एवं दर्शाया है कि नाट्यप्रयोग मे नटगत रसो का आस्वाद लेते समय, उस पर से रसिक को रामादि के भाव का बोध होता है (रसेभ्यो भावा), किन्तु लौकिक व्यवहार में उस उस भाव से उस उस रस की निष्पत्ति होती है। श्रीशकुक के अनुसार लोल्लट ने इन दोनों को एक माना है अतएव उनकी उपपत्ति में दोष आ गया है।

(८) लोल्लट की उपपत्ति पर 'ध्वन्यालोकलोचन' में और भी एक आपत्ति उठाई गयी है। — लोल्लट का कथन है कि स्थायी का उपचय ही रस है तथा यह रसनिष्पत्ति उन्होने मुख्य वृत्ति से रामगत तथा रूपाभिनिवेश से नटगत मानी है। किन्तु ऐसा नही माना जा सकता। चित्तवृत्ति प्रवाहधर्मिणी होती है। किसी न किसी कारण से वह बार बार उत्पन्न होती है, और बारबार नष्ट होती रहती है। वैसे ही चित्तवृत्तियाँ एक के बाद एक आती जाती रहती हैं। इस अवस्था मे एक चित्तवृत्ति से दूसरी चित्तवृत्ति का परिपोष कैसे हो सकता है? विस्मय, क्रोध, शोक आदि का तो क्रमश अपचय ही होता है। तब लोल्लट का माना हुआ स्थाय्युपचय रूप रस रामादि में हो ही नही सकता। अच्छा, यह भी नही कहा जा सकता कि यह रस नटगत है। नट की व्यक्तिगत चित्तवृत्ति का परिपोष हुआ, तो लय, ध्रुवा, ताल आदि की ओर जिनके कि सम्बन्ध मे नाट्य में बहुत सतर्क होना आवश्यक होता है — नट का कोई ध्यान नही रहेगा। (अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में लिखा है, कि उन्होने ऐसे प्रसग देखे हैं कि नट में वास्तविक भाव उत्पन्न होने से लयादिभंग तो क्या, उसे यहाँतक भ्रम हो जाता है, कि मूर्च्छा और मरण का आवेश तक उस पर छा जाता है)। साराश, लोल्लट का माना रस रामादि अनुकार्य व्यक्ति अथवा अनुकर्ता नट दोनो मे असभव है। अच्छा, वह रसिक में नही माना जा सकता। रसिक की चित्तवृत्ति यदि उपचित हुई, तो यह कहना असभव है कि उसे आनद ही होगा। करुण आदि में तो दु ख ही होगा। अतएव यह भी नही कहा जा सकता कि रसिक की चित्तवृत्ति परिपुष्ट होना ही रस है। अतएव उत्पाद्य-उत्पादक भाव अथवा परिपोष्य-परिपोषक भाव पर आधारित लोल्लट की रसविषयक उपपत्ति स्वीकार्य नही है।

कुछ अपूर्ण मत

पूर्व जो रसविषयक मत सगृहीत दिये हैं उनमे एक मत है कि विभावादि से नटगत स्थायी अनुमित होता है तथा रामादि से नट अभिन्न है इस भावना से दर्शक इस अनुमिति का आस्वाद लेता है। वैसे ही एक मत और है कि दीवार

पर रगो के मिश्रण से अश्व का आभास मिलता है, ठीक इसी प्रकार, नट मे अभिनयसामग्री के द्वारा रामादि के स्थायी का आभास होता है। यह आभास ही आस्वाद्य है और यही रस है। ये दोनो मत अपूर्ण है। अभिनवगुप्त ने आपत्ति उपस्थित की है कि यदि विभावादि के द्वारा नटगत स्थायी का अनुमान हुआ भी तो परगत चित्तवृत्ति के अनुमान में रसत्व कहाँ हो सकता है ? और भट्टतौत ने अश्वाभास के दृष्टान्त की रस के सम्बन्ध मे अनुपपत्ति दर्शायी है।

श्रीशकुक का मत

श्रीशकुक को उपर्युक्त दोनो मतो की पृथक्‌रूप में अपूर्णता प्रतीत हो रही थी। अतएव उन्होने इन दोनो मतो को एकत्रित कर के उपपत्ति पूर्ण करने का प्रयास किया; एव बताया कि रस स्थायी न होकर स्थायी का अनुकरण है। रस की अनुकरणरूपता उन्होने इस प्रकार दर्शायी है —

विभावादि हेतु, अनुभावादि कार्य, तथा सहचारि रूप व्यभिचारिभाव सभी कृत्रिम होते है, किन्तु कृत्रिम प्रतीत नही होते। इनके सयोग से रत्यादि स्थायि-भावो का अनुमान होता है। इस सयोग का स्वरूप होता है गम्य-गमकभाव। अनुमान होने पर भी वह लौकिक अनुमान के समान नीरस नही होता। प्रत्युत वस्तुसौदर्य के बल पर इस अनुमान मे आस्वाद्यता आ जाती है। जिस प्रकार किसीको इमली खाते देख मुँह में पानी भर आता है उसी प्रकार सुदर विभावादि के द्वारा अनुमित स्थायी की कल्पना से रसिक को उस स्थायी का आस्वाद प्राप्त होता है। अतएव लौकिक अनुमान से इस अनुमान का स्वरूप भिन्न होता है।

वस्तुत, रसिक के द्वारा आस्वादित यह स्थायी 'नट' में नहीं रहता। रामादि अनुकार्य व्यक्तियो के स्थायी भाव का यह अनुकरणमात्र होता है। अनु-करण ही इस स्थायी का स्वरूप होने से इसे 'रस' की पृथक् सज्ञा दी जाती है।

विभावो का ज्ञान नट को काव्य के बल से ही होता है। अनुभावो की वह शिक्षा पाता है तथा व्यभिचारी भाव नट के कृत्रिम अनुभावों के परिणाम होते है। केवल स्थायी एक ऐसा होता है जो कि अनुमित ही होता है। उसका ज्ञान काव्य से भी नही होता। 'रति', 'शोक' आदि शब्द काव्य मे आने पर भी, उन शब्दो से उन भावो का अभिधान मात्र होता है, उन शब्दो से उन भावो का अभिनय नही होता। "सच है कि मेरा शोक बढ़ गया, यह भी सच है कि यह गभीर और असीम है, किन्तु जिस प्रकार वडवानल सागर का शोषण कर लेता है; उसी प्रकार, क्रोध ने इस शोक को पी लिया है।" इस वाक्य में शोक का अभिधान मात्र

है, शोक का अभिनय नही है। किन्तु 'रत्नावली' से निम्नांकित प्रसग लीजिये। सागरिका ने उदयन का चित्र अंकित किया है। यह चित्र उदयन ने देख लिया है। इस चित्र पर एक दाग दिखायी दे रहा था, जैसे पानी की बूंद गिरी हो। उसे देख कर उदयन कहते हैं—

भाति पतितो लिखन्त्या तस्याः बाष्पाम्बुशीकरकणौघः।
स्वेदोद्गम इव करतलसस्पर्शादेष मे वपुषि ॥

"मेरा चित्र अंकित करते समय उसके नेत्र से यह बाष्पबिंदु गिर पड़ा। किन्तु मित्र यह ऐसी शोभा पा रहा है जैसे उसके करस्पर्श से मेरे शरीरपर स्वेदबिंदु हो।" इस वाक्य के अर्थ द्वारा उदयन का रतिभाव अभिनीत होता है; उसका केवल अभिधान नहीं होता। शब्दो की वाचक शक्ति भिन्न होती है और अवगमनशक्ति भिन्न होती है। अवगमनशक्ति अभिनय में होती है, न कि शब्द मात्र मे। अतएव स्थायिभाव का ज्ञान हमें काव्यगत शब्दसे नही होता, अपितु नट के अभिनय से हमे स्थायीभाव अवगत होता है। कवि ने वर्णन किये हुए विभाव, नट ने अध्ययन किये हुए अनुभाव तथा अभिनय द्वारा दर्शाये गये व्यभिचारीभाव इनसे गम्य-गमकभावद्वारा अथवा लिंगलिंगीभाव द्वारा स्थायीभाव की अवगति अथवा अनुमिति होती है। अतएव मुनि ने रससूत्र मे स्थायी का निर्देश नही किया। यह अनुमित स्थायी ही रामगत स्थायी का अनुकार है, अतएव अनुकृत रति ही शृंगार है। रस अनुकरण रूप होता है एवम् अनुकरण से रस की निष्पत्ति होती है।

नट के अभिनय कृत्रिम होने से मिथ्या होते है। फिर उनपरसे राम के सत्य स्थायी का ज्ञान कैसे होता है? शंकुक का इस पर उत्तर है कि 'संवादी भ्रम के कारण यह सत्य ज्ञात होता है?' व्यवहार में भी सवादी भ्रम के कारण सत्यज्ञान हुआ दिखायी देता है।

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥

किसी ने दूर से मणिप्रभा देखी और किसी दूसरे ने दीपक की प्रभा देखी। दोनों प्रभा ही को मणि समझ कर उसे लेने के लिये झपटे। दोनो ने देखी तो प्रभा ही थी किन्तु प्रभा ही को वे मणि समझ बैठे। दोनों का ज्ञान मिथ्या था किन्तु उनकी अर्थक्रिया में अर्थात् सफलता में भेद था। मणिप्रभा को जो मणि समझा उसे मणि की प्राप्ति हुई, और दीपप्रभा को जो मणि समझा उसका जाना आना व्यर्थ रहा। मणिप्रभा को मणि समझना सवादी भ्रम है।

श्रीशकुक का कथन है कि इस सवादी भ्रम ही के कारण कृत्रिम विभावो द्वारा भी रामरति का–जो कि सत्य है–बोध होता है। नाटचगत, सवादी भ्रम विशद करने के लिये वे चित्रतुरग का दृष्टान्त देते है। नाटक देखते हुए हमे जो प्रतीति होती है उसका स्वरूप क्या होता है? रत्यादि की सुखकर अवस्था हम देखते है, वह किसकी होती है? यह तो सभीको स्वीकार है कि यह अवस्था नट की नही होती। हम सामने 'राम' देखते है। हमारी इस प्रतीति का स्वरूप क्या होता है? 'यह राम ही है, यही राम' इस प्रकार की यह सम्यक् प्रतीति नही होती। इसे मिथ्या प्रतीति भी नही कहा जा सकता। मिथ्या प्रतीति के लिये उत्तरकालीन बाध की आवश्यकता होती है। सीप देख कर हमे चाँदी की प्रतीति होती है। उत्तरकाल मे बाध होने पर ही हमें बोध होता है कि वह प्रतीति मिथ्या थी। किन्तु जबतक बाध नही होता तब तक इसे मिथ्या नही कहा जा सकता। नाटच में हमे रामत्व की जो प्रतीति होती है उसका सम्पूर्ण नाटच समाप्त होने तक बाध नही होता, अतएव इस प्रतीति को मिथ्या भी नही कहा जा सकता। अच्छा, 'यह राम है या नही है?' इस प्रकार का सदेह भी उस समय नही होता, अथवा 'यह राम के समान है' यह हमारी प्रतीति नही होती। साराश, नाटक देखने के समय हमें रामत्व की जो प्रतीति होती है वह सम्यक्, मिथ्या, सदेह अथवा सादृश्य इनमे से किसी भी प्रकार की नही होती। इस प्रतीति को हम अस्वीकार भी नही कर सकते क्यों कि यह तो अनुभव है। फिर इस प्रतीति का रूप क्या है?

शंकुक का कथन है कि यह प्रतीति इन सबसे भिन्न एव चित्रतुरगप्रतीति के समान होती है। रग, हरताल आदि का मिश्रण हम दीवार पर देखते है, किन्तु हम इसे घोडा ही समझते है। इसी प्रकार विशिष्ट वेपधारी, विशिष्ट अवस्थान मे खडा, विशिष्ट प्रकार से क्रिया करनेवाला नट हम देखते है, हमें प्रतीत होता है कि यह राम ही है। चित्रगत घोडा वस्तुत घोडा नही है। देखनेवाला उसे घोडा समझता है। यह वास्तव मे भ्रम है, किन्तु सवादी भ्रम है; क्योकि वास्तविक घोड़ा और यह भासमान घोड़ा इन दोनो में सवाद है। इसी प्रकार नाटच देखने के समय 'यह राम ही है' इस आकार की दर्शक की प्रतीति भी सवादी भ्रम ही है। श्रीशकुक का कथन है कि मिथ्या राम के मिथ्या अनुभाव तो मिथ्या ज्ञान ही है किन्तु वह सवादीभ्रमात्मक होने से उससे रामगत सत्य रति का दर्शक को ज्ञान होता है शकुक के कथन का सक्षेप मे आशय यह है—

(१) नटगत सामग्री कृत्रिम होती है किन्तु कृत्रिम नही लगती।

(२) इस सामग्री के गम्यगमक रूप अथवा लिंगलिगीरूप सयोग से स्थायी अनुमित होता है।

(३) यह अनुमित स्थायी 'नट' का नही होता।

(४) अनुमित स्थायी रामादिगत स्थायी का अनुकरण मात्र होता है।

(५) अनुमित स्थायी अनुकरण रूप होने से ही इसे रस कहा जाता है। 'भावानुकरण रस' यह रस का स्वरूप है।

(६) दर्शक को 'नट' मे रामत्वप्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है। यह प्रतीति मिथ्या तो है किन्तु सवादिभ्रमात्मक है अतएव इससे सत्य रामरति का हमें बोध होता है।

श्रीशकुक की यह उपपत्ति अन्ततः असिद्ध रही, किन्तु इस बात मे सदेह नही है कि रसप्रक्रिया की विवेचना मे यह लोल्लट से आगे बढी हुई है। रगमच पर दिखायी देनेवाला दृश्य मूल घटना नही है। शकुक का कहना है कि यह अनुकरण है। हम भी कहते है कि 'अभिज्ञानशाकुतल' नाटक मे हम देखते है दुष्यतशकुतला के शृंगार का अनुकरण, न कि वह शृगार। शकुक की अनुकरणकल्पना के दोष अभिनवगुप्त के गुरु 'काव्यकौतुक' कार भट्टतौत ने दर्शाये है और रसविवेचना में वे इससे आगे बढे है। इसी को अब हम देखे।

श्रीशकुक के मत का तौतकृत परीक्षण

श्रीशकुक की इस उपपत्ति के सबन्ध मे भट्ट तौत का कहना है कि —आप रस को अनुकरण रूप बताते है। किन्तु प्रश्न उठता है कि यह अनुकरण किसकी दृष्टि से है? दर्शक की दृष्टि से, नट की दृष्टि से या विवेचक की दृष्टि से?

एक वस्तु दूसरी किसी वस्तु का अनुकरण है यह कहने के लिये प्रमाण आवश्यक होता है। उदाहरण के लिये, 'अमुक अमुक इस प्रकार मद्यपान करता है' यो कह कर जब कोई पानी पीता है तब हम इसे अनुकरण समझते है। यहाँ पानी पीने की क्रिया मद्यपान की क्रिया का अनुकरण है। अब, नट मे हम ऐसी कौनसी बात देखते है, जिसे कि हम रति का अनुकरण कह सकते है? नट का शरीर, उसका धारण किया वेष, उसका भाषण एव क्रियाएँ हम देखते है। इन बातो को हम चित्तवृत्ति का अनुकरण नहीं कह सकते। नट मे देखे जानेवाले ये अर्थ स्वभावतः जड, चक्षुर्ग्राह्य तथा नटाश्रित होते है; और चित्तवृत्तियाँ चेतन, मनोग्राह्य तथा रामाश्रित है। जब दोनो मे इतना बड़ा भेद है तो एक को दूसरी का अनुकरण कैसे कहा जा सकता है? इसके अतिरिक्त, हम जो देखते है वह अनुकरण है ऐसा मानने से पहले मूल वस्तु का पूर्वज्ञान हमे आवश्यक है। किन्तु रामादि का रति भाव किसीने देखा नही है। तब राम की चित्तवृत्ति का नट अनुकरण करता है यह कहना व्यर्थ है।

अच्छा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि नट में दर्शक को जो चित्तवृत्ति प्रतीत होती है वह नटगत चित्तवृत्ति ही राम के चित्तवृत्ति का अनुकरण होने से शृगार के नाम से पहचानी जाती है। नट मे जो चित्तवृत्ति प्रतीत होती है वह किस रूप मे प्रतीत होती है यदि ऐसा कहा कि, प्रमदादि कारण, कटाक्ष आदि कार्य तथा धृति आदि सहकारी, इन लिगोपर से लौकिक व्यवहार में जिस चित्तवृत्ति की हमे प्रतीति होती है वही नटगत चित्तवृत्तिका स्वरूप होता है, तो कहना पडेगा कि नट मे हमे रतिनामक चित्तवृत्ति ही प्रतीत होती है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि नटगत लौकिक रतिनामक अनुकरण है ?

राम के विभावादि सत्य होते है प्रत्युत नट के विभावादि कृत्रिम होते हैं। दोनो मे यह भेद होने से ही नटगत चित्तवृत्ति राम के चित्तवृत्ति का अनुकरण है यह यदि आपका विचार हो, तो इस पर हमारा प्रश्न है कि क्या दर्शक नट के विभावो को कृत्रिम समझता है ? दर्शक यदि इन विभावो को कृत्रिम समझता है तो दर्शक को चित्तवृत्ति की प्रतीति ही नही हो सकती। रति नामक प्रसिद्ध चित्तवृत्ति तथा इस चित्तवृत्ति का अनुकरण दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। चित्तवृत्ति तथा अनुभाव मे कारण-कार्य सबन्ध है। ये अनुभाव मूल चित्तवृत्ति के भी हो सकते है अथवा रत्युनुकरण के भी हो सकते है। जो इस बात का ज्ञान रखता है कि हम जिन अनुभावो को देखते है वे रति के अनुभाव न होकर रत्यनुकरण है तथा इस बात का ध्यान रखते हुए जो इनको देखता है, केवल उसीको इन अनुभावो से रत्यनुकरण का ज्ञान होगा। किन्तु दर्शक तो इस प्रकार का ज्ञान रखते हुए देखता ही नही। रति के अनुभाव के रूप मे ही वह इनका ग्रहण करता है। तब इन पर से दर्शक को रत्यनुकरण की प्रतीति कैसे हो सकती है ? जिसे यह विशेष ज्ञान नही रहता उसे तो इन पर से रति ही की प्रतीति होगी। लौकिक में रति के जो कटाक्ष आदि कार्य दिखायी देते है तत्सदृश नटगत अनुभाव होते हैं। किन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि इन अनुभावो को देख कर दर्शक को रामरतिसदृश नटगत चित्तवृत्ति का ज्ञान होता है। कार्य पर से कारण का अनुमान करना तो ठीक है। किन्तु कार्यसदृश वस्तु पर से कारण सदृश वस्तु का अनुमान करना ठीक नहीं है। धूम पर से अग्नि का ज्ञान हो सकता है। किन्तु धूम के समान दीखनेवाले कुहरे से अग्नि के समान दीखनेवाले जपाकुसुम का ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार राम के अनुभाव से राम के रति का अनुमान करना ठीक होगा। किन्तु राम के अनुभावो के सदृश वस्तु से रामरति के सदृश वस्तु का अनुमान कैसे हो सकता है ?

यह तो ठीक है कि नट वास्तव मे क्रुद्ध न हो कर भी क्रुद्ध सा दिखायी देता है, किन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि किसी क्रुद्ध पुरुष मे तथा नट में भ्रुकुटिभंग

आदि का सादृश्य है। किन्तु इसी पर से इसे अनुकरण कहना ठीक न होगा। गो और गवय का मुख समान है इस लिये क्या यह कहना उचित होगा कि एक ने दूसरे का अनुकरण किया है? रसके अतिरिक्त, दर्शक भो नही समझता कि नट अपने समक्ष किसीका अनुकरण कर रहा है। वस्तुत., दर्शक की नट के सबन्ध मे प्रतीति कभी भावरहित नही होती। इस लिये, यह कहना कि दर्शक जो देख रहा है वह अनुकार है—ठीक नही।

आप का विचार है कि ' रगमच पर जिस नट को हम देखते है वह राम है ' इस आकार की हमारी जो प्रतीति है वह सम्यक् (सत्य) भी नहीं है और मिथ्या भी नही है। किन्तु जब तक नट हमारे सामने खडा है तब तक अर्थात् सम्पूर्ण नाटक में यदि हमे उसकी निश्चित प्रतीति होती है, एवम् नाटक देखने के समय उत्तरकालीन बाध (अर्थात् नाटक समाप्त हो जाने पर होने वाले ' यह राम नहीं है इस आकार के बाधक ज्ञान) की कल्पना भी यदि हमे छू तक नही जाती तब इस प्रतीति को सत्यप्रतीति मानने मे आपत्ति ही क्या हो सकती है? अच्छा, नट का रामत्व उत्तरकाल में बाधित होनेवाला है इस ज्ञान से ही यदि आप नाटक देखते है तो इस ज्ञान ही को मिथ्या ज्ञान क्यो कर न माना जाय? वास्तव मे, यह तो मिथ्या प्रतीति ही होती है। बाधक ज्ञान का उस क्षण उदय न भी हुआ हो तो भी प्रतीति का मिथ्यात्व तो नष्ट नही होता। इस पर यदि आप कहते है कि किसी नट ने काम किया तो भी ' यह राम है ' यही हमारी प्रतीति रहती है, तब नाट्य में प्रतीत होने वाला रामत्व विशेष रूप से व्यक्तिसबद्ध न रह कर सामान्य रूप मे परिणत हो गया है, यह बात स्वीकार आपको अवश्य ही करनी पड़ेगी। '

और विभावो का अनुसधान नट काव्य से करता है इस आप के कथन का भी क्या अर्थ है? नट तो यह नही समझता कि काव्यगत सीता से मेरा कुछ सबन्ध है। सीता के सबन्ध मे नट की आत्मीयता तो नही होती। इस लिये इस दृष्टि मे, विभावो का अनुसधान नट काव्य से नही करता। काव्यार्थ को दर्शको की प्रतीति का विषय बनाना यह यदि अनुसधान का अर्थ है तब नट को प्रधानत: स्थायी का ही अनुसधान करना चाहिये, क्यो कि मुख्यतया स्थायी को ही रसिक की प्रतीति का विषय बनाना है (और इधर आप ही बल देकर कहते है कि स्थायी का अनुसधान काव्य से नही होता)। एतावता, रस अनुकरण रूप है यह कथन दर्शक की दृष्टि से उपपन्न नही होता।

नट की दृष्टि से भी अनुकरण की उपपत्ति का स्वीकार नही किया जा सकता। नट यह नही समझता कि मै राम का अथवा उसकी चित्तवृत्ति का अनु-

करण कर रहा हूँ। अनुकरण के दो अर्थ होते है — एक है सदृशकरण तथा दूसरा है पश्चात्करण। जब तक मूल व्यक्ति की कृति ज्ञात नही है तब तक नट तत्सदृश कृति कर ही नही सकता। अतएव प्रथम अर्थ मे अनुकरण नट कर ही नही सकता [१२] और यदि यह मान लिया कि नट दूसरे अर्थ में अनुकरण करता है, तब नाटय के क्षेत्र का उल्लघन कर के अनुकरण व्यवहार मे भी आ जायगा, एवं किसी की कृति के बाद की हुई कृति को केवल पश्चात्करण होने से ही अनुकरण मानना पडेगा।

यह अनुकरण किसी भी विशिष्ट व्यक्ति का नही है। उदाहरण के लिये, राम का अनुकरण करने वाला नट विशिष्ट व्यक्ति का अनुकरण नही करता है, अपितु उत्तम स्वभाव के पुरुष का अनुकरण करता है। सीता के लिये विलाप करते समय नट उत्तम स्वभाव के पुरुष के समान शोक करता है, ऐसा यदि आप कहना चाहते है, तब उत्तम स्वभाव के पुरुष का अनुकरण नट किस प्रकार करता है इस वात की जॉच करनी होगी। यह नही कहा जा सकता कि नट शोक का अनुकरण शोक से करता है। क्योकि नट में तो शोकवृत्ति ही नही है। नट के अश्रुपातादि से शोक का अनुकरण सभव नही है, क्योंकि पूर्व बताया जा चुका है कि शोक एक चेतनवृति है तथा अश्रुपात जड है। हाँ, यह सभव है कि उत्तम स्वभाव के पुरुष के जो शोकानुभाव होते है उनका नट अनुकरण करें। किन्तु इसमें भी प्रश्न उठता हैं कि उत्तम स्वभाव के किस पुरुष के शोकानुभावो का वह अनुकरण करता है? यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'किसी भी उत्तम स्वभाव पुरुष का अनुकरण नट करेगा।' क्यो कि बिना विशिष्टता के, उसका बुद्धिद्वारा आकलन ही नही हो सकेगा। यदि ऐसा कहना है कि 'जो कोई इस प्रकार शोक करता है उसीके ये अनुभाव हैं' तब स्वयम् नट ही का इसमे अनुप्रवेश होता है। फिर अनुकार्य और अनुकर्ता यह संबन्ध हो कहाँ।

वस्तुस्थिति यह है कि नट अभिनय की शिक्षा पाता है, अपने विभावो का स्मरण रखता है, एवम् चित्तवृत्ति के साधारणी भाव से उसका हृदयसवाद हो कर उस अवस्था मे वह अनुभाव प्रकट करता है तथा अपना भाषण विशिष्ट प्रकार से कहते हुए वह रगमच पर क्रियाएँ करता रहता है। नाटच के सबन्ध मे उसका

---

१२. पौराणिक अथवा ऐतिहासिक नाटकों की मूल व्यक्तियाँ पूर्वकालिक होने से इनमें अनुकरण की कल्पना संभव हो भी सकती है। किन्तु प्रकरणादिगत पात्र तो कल्पित ही होते हैं। इनके संबन्ध में अनुकरण की संभावना कैसे हो सकती है? इस प्रकार बडा ही मार्मिक प्रश्न 'रसप्रदीप' में प्रभाकर ने उपस्थित किया है।

भान इतना ही होता है। इस बात को अनुकरण नही कहा जा सकता। अतएव नट की दृष्टि से भी अनुकरण की उपपत्ति सिद्ध नहीं होती।

विवेचक की दृष्टि से भी अनुकरण उपपन्न नहीं होता। भरत ने कही भी कहा नही कि, 'स्थायी का अनुकरण ही रस है।' वह अनुकरण हो सकता है ऐसा समझने के लिये नाटचशास्त्र मे कोई गमक भी नही है। प्रत्युत नट के नाटकीय क्रियाओ को ध्रुवा, लय, ताल आदि की प्रत्येक समय सगत दी जाती है। इस से तो और भी स्पष्ट होता है कि नाटच मे अनुकरण कतई नही होता। इसे यदि अनुकरण माना गया तो लौकिक व्यवहार की क्रियाएँ भी हम ताल और लय के साथ करते है ऐसा मानना पड़ेगा।

श्रीशकुक का चित्रतुरग का दृष्टान्त भी नाटच को लागू नही होता। दीवार पर किये गये रगो के मिश्रण से लौकिक अश्व की अभिव्यक्ती नही होती। अश्व के अवयव सनिवेश के समान दीवार पर रंगो का विशिष्ट रूप में अवयव सनिवेश किया रहता है इस लिये दीवार पर अश्व के समान प्रतिभास होता है। विभावादि से इस प्रकार प्रतिभास नही होता। विभावादि का समूह तो रति का प्रतिभास नही है। इसलिये चित्रतुरग का दृष्टान्त भी यहाँ उपपन्न नही होता। अतएव श्रीशकुक द्वारा बतायी गयी 'भावानुकरण रस.' वाली उपपत्ति स्वीकार्य नही है।

भट्टतौत का मत : नाटच अनुकरण नही है, अनुव्यवसाय है

रस स्थायी की उत्पत्ति नही है अथवा परिपुष्टि भी नही है, रस स्थायी की अनुमिति नही है अथवा अनुकृति भी नही है। फिर नाटच मे है क्या? इसके अतिरिक्त भरत के 'सप्तद्वीपानुकरण नाटचमेतन्मया कृतम्' इस वचन की सगति कैसे हो सकती है। भट्टतौत का इस पर कथन है कि नाटच में अनुकृति नही होती है, अनुव्यवसाय होता है। अनुकृति और अनुव्यवसाय एक ही नही है। भट्टतौत ने अपना यह मत 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है किन्तु अभिनवगुप्त ने भरत के

नैकान्ततोऽस्ति देवानामसुराणा च भावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटच भावानुकीर्तनम्॥

इस श्लोक की टीका में भट्टतौत का मत सक्षेप में दिया है। इस पर से भट्टतौत के मत की कुछ कल्पना की जा सकती है [१३]।

---

१३. अस्मदुपाध्यायकृते काव्यकौतुकेऽयमेव अभिप्रायो मन्तव्यो, न तु अनियतानुकारोऽपि, तेन अनुव्यवसायविशेषविषयीकार्यं नाट्यम्। (अ. भा.)

नाटच मे अनुभावन होता है किन्तु वह किसी भी व्यक्ति के लौकिक व्यापार का अनुभावन नही होता । भरत ने देवदानवो को जो नाटचप्रयोग दर्शाया उसमें देवो का अथवा दानवो का व्यक्तिगत (एकान्तत) अनुभावन नही था। नाटच में हम राम, रावरण आदि देखते है वे लौकिक व्यक्तियाँ नही होते । उनके विषय में हमारी तत्त्वबुद्धि नही रहती अथवा सादृश्यबुद्धि भी नही रहती । वह भ्रान्ति, आरोप अथवा अनुकृति भी नही होती । इनमे से किसी भी पक्ष की दृष्टि से, इसमें साधारण्य न होने के कारण रससभव नही हो सकता । हमे मानना पडेगा कि कवि ने किसी नियत व्यक्ति का वर्णन किया है; इससे कवि का वह काव्य इतिहास अथवा आख्यान के अन्तर्गत होगा, उसे काव्य कहना असभव होगा । इसके अतिरिक्त हमें मानना पडेगा कि हम लौकिक युगुल का प्रणयव्यवहार देखते है, और इसमे लौकिक लज्जा, हर्ष, द्वेष आदि की वृत्ति उमड़ आयेगी। इस अवस्था में रसास्वाद कहाँ ?

वस्तुस्थिति यह है कि आगम, इतिहास आदि में विशिष्ट व्यक्तियो के जीवन का कथन रहता है । किन्तु वे ही व्यक्तियाँ जब काव्य, नाटच, आदि में पात्रो के रूप में प्रवेश करते है तब उनका विभावो में रूपान्तर हो जाता है एव विभावादि के साथ उस सम्पूर्ण कथावस्तु मे साधारणीभाव आ जाता है । क्यो कि काव्यगत शब्दार्थो पर गुणालकारो के सस्कार हुए रहते है, काव्य पढते समय पाठक को तत्समकाल ही हृदयसवादपूर्वक निमग्नाकारता प्राप्त होती है तथा वह सम्पूर्ण प्रसग ही त्रैलोक्य के एक भाव के रूप में उसके अन्तश्चक्षु के समक्ष प्रत्यक्षवत् उपस्थित हो जाता है । यह तो नहीं माना जा सकता कि काव्य मे हर किसी को इस प्रकार का प्रत्यक्षवत् ज्ञान होगा, किन्तु नाटच मे त्रैलोक्यगत भाव का यह प्रत्यक्ष ज्ञान सब दर्शको को समकाल ही प्राप्त होता है ।

किन्तु लौकिक प्रत्यक्ष और नाटचगत प्रत्यक्ष मे बहुत बड़ा भेद है । कवि, नट अथवा दर्शको के लौकिक जीवन में जो प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहार दिखायी देते है उनसे उनका व्यक्तिगत सबन्ध होता है, किन्तु नाटच में जब यही प्रवृत्तिनिवृत्ति-रूप व्यवहार दर्शाया जाता है तब उससे किसीका भी व्यक्तिगत सबन्ध नही रहता । व्यक्तिगत सबन्ध का सस्कार लेश भी नाटच मे नहीं पाया जाता । कवि का सम्पूर्ण उद्यम ही ' आराधयितु विदुषः ' — रसिकों को आनन्दित करने के लिये ही किया जाता है तथा नट का उद्यम भी इसी बुद्धि से प्रेरित हो कर किया जाता है । इसके अतिरिक्त नाटच में गीत, वाद्य आदि की उचित सगत होने से, नाटचभावो में, उनके अभिनय के या दर्शन के समय, सासारिक बुद्धि (लौकिक कल्पना) रह ही नही सकती । लौकिक सबन्धों से नाटच इस प्रकार उन्मुक्त होता है इसी लिये

नाट्यकाल में रसिक का मन दर्पण के समान निर्मल हो जाता है एवम् अभिनय के अवलोकन से वह हर्ष, शोक आदि भावो मे तन्मय हो सकता है। इस समय राम, रावण आदि पात्रो के सबन्ध मे उसे जो प्रतीति होती है वह देश, काल, व्यक्ति आदि से सीमित नही रहती। अतएव कवि द्वारा वर्णित अथवा नटद्वारा दर्शित राम, रावण आदि के सस्कार न रह कर उनमें कबि अथवा नट के आत्मगत सस्कारो की अनुवृत्ति की साधारण्य की भूमिका पर से होती है अतएव कवि तथा नट की उन पात्रो के साथ आत्मरूपता हो जाती है एवम् आत्मद्वारा ही वे सम्पूर्ण विश्व का अवलोकन करते है (सचमत्कारतदीयचरितमध्यप्रविष्टस्वात्मरूपमति स्वात्मद्वारेण विश्व तथा पश्यन्)। इस प्रकार नाट्य मे कवि के अन्तर्गत सस्कार ही साधारण्य की भूमि का से प्रकाशित होते हैं। नट इसी भूमिका पर से तज्जातीय सस्कार अभिनयद्वारा प्रकाशित करता है। एव दर्शक भी साधारण्य से ही इनका ग्रहण करके आत्मानुप्रवेशपूर्वक तज्जातीय भावो का आस्वाद लेता है। इस प्रकार नाट्य मे त्रैलोक्यगत भावो का अनुकीर्तन होता है।

वह अनुकीर्तन विशेष रूप का अनुव्यवसाय ही है। लौकिक जीवन में हमारे ऊपर सुखदु खवृत्तिरूप अथवा बोधरूप सस्कार होते रहते है। वे ही सस्कार जब हमारे प्रत्यक्ष का विषय होते है तब उस प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाले ज्ञान को अनु-व्यवसाय कहा जाता है। न्याय की दृष्टि से अनुव्यवसाय है प्रत्यक्ष ज्ञान का भान, और वेदान्त की दृष्टि से अनुव्यवसाय है सुखदु.खात्मक भावो का अथवा बोध का प्रत्यक्ष। किसी भी दृष्टि से देखिये, अनुव्यवसाय ज्ञान का ज्ञान ही है (तद्वेदन-वेद्यत्वम्)। कवि के वृत्तिरूप अथवा बोधरूप सस्कार ही शब्दार्थ के माध्यम द्वारा प्रत्यक्ष का विषय होते हैं। नट के अभिनय मे तज्जातीय सस्कार ही प्रत्यक्ष दर्शित होते है, एवम् दर्शक भी तज्जातीय सस्कारो का दर्शन करता है, तथा यह सब साधारण्य की भूमिका से होता है इस कारण इन सब में सवादित्व रहता है। अतएव नाट्य मे विशेष रूप का अनुव्यवसाय रहता है। इस अनुव्यवसाय को ही अनुमति समझना ठीक नही।

इस पर यदि अनुकृतिवादी पूर्वपक्षी यो कहे कि, 'यह तो ठीक है कि नाट्य मे कथावस्तु आदि सभी बातो मे साधारण्य होता है। यह भी स्वीकार है कि इनमें से कोई भी बात व्यक्तिसबद्ध नही रहती, किन्तु इसी से नाट्य में अनु-करण नही रहता यह कैसे कहा जा सकता है? नाट्य में नियत अथवा विशेष व्यक्ति का अनुकरण भले ही न हो, किन्तु नाट्य में अनियत व्यक्ति का अनुकरण नहीं होता यह कैसे कहा जाय?' तब इस पर अभिनत गुप्त का उत्तर है कि 'हमे इसमे कोई आपत्ति नही है; किन्तु वास्तविक अड़चन यह है कि सामान्य का

अनुकरण ही नही हो सकता। अनुकरण का अर्थ है सदृशकरण और सादृश्य तो दो विशेषो मे ही हो सकता है। सामान्य में सादृश्य की सभावना ही नही है। नाट्यगत विभाव साधारण्य से प्रतीत होते है, अतएव वे लौकिक का अनुकरण नही होते। नट चित्तवृत्ति का अनुकरण नही करता। यह भी नही कहा जा सकता कि राम के शोक के समान नट को भी शोक होता है। यह तो ठीक है कि नट अनुभाव ही दर्शाता है। किन्तु ये अनुभाव राम के अनुभावो के सदृश नही होते; ये सजातीय होते है। अतएव यह भी नही कहा जा सकता कि नाट्य मे अनियतानुकरण रहता है।

"नट अपने लौकिक जीवन मे देश, काल आदि से मर्यादित चैत्र, मैत्र आदि नाम धारण करनेवाले व्यक्ति के रूप मे ज्ञात रहता है। किन्तु नाट्यप्रयोग के समय जब वह आहार्य रूप मे रगमच पर आता है तब लौकिक जीवन मे उससे सबद्ध नटबुद्धि नष्ट हो जाती है। उसे राम, रावण आदि नाम प्राप्त होते है। किन्तु इन व्यक्तिविषयक नामो का हमारे अनुभव मे पहले से ही उदात्त पुरुष, उद्धत पुरुष आदि सामान्य अर्थ स्थिर हुआ रहता है। यह सामान्य अर्थ नाट्यकाल मे प्रकाशित होता है तथा नाट्यगत राम, रावण आदि शब्द व्यक्ति के प्रतिपादक न हो कर धीरोदात्तादि अवस्थाओ के प्रतिपादक है ऐसा हमारा ज्ञान होता है। (धीरोदात्ताद्यवस्थाना रामादि: प्रतिपादक:-दशरूप)। रगमचगत प्रत्यक्षकल्पप्रसग को विविध नाट्यालकारो की एव गीतवाद्य आदि की सगत प्राप्त होने पर वह सम्पूर्ण प्रसग हृदयानुप्रवेश के लिये योग्य होता है। इस रजक सामग्री में जब हमारा प्रवेश होता है तब हमारा भी व्यक्तिगत ज्ञान नष्ट हो जाता है, तथा इस अवस्था मे अपने लौकिक जीवन के प्रत्यक्ष अनुमान आदि के द्वारा किये गये सस्कारो की सहाय्यता लेकर हम नट के ज्ञानसस्कारों की सहाय्यता से (अनुभवकी सहाय्यता) से हृदयसवादतन्मयीभवनक्रम से सुखदु:खादि रूप मे चित्रित निजसविदा के ही प्रत्यक्ष दर्शन के आनन्द का अनुभव करते हैं। यही नाट्यगत अनुव्यवसाय है। इस आनन्दमय अनुव्यवसाय का ही रसन, आस्वादन, चमत्कार, चर्वणा, भोग आदि पर्यायो से निर्देश किया जाता है। इस आनन्दमय अनुव्यवसाय मे प्रतीत होनेवाली वस्तु ही नाट्य है। अतएव नाट्य अनुकीर्तन अर्थात् अनुव्यवसायात्मक सुखदु:खादि भावो से विचित्रित सवेदन है। नाट्य मे यह सवेदन प्रत्यक्ष का विषय बनता है। इस प्रकार का यह नाट्य अनुकार नही है।" नाट्य मे व्यक्तिगत सादृश्य का दर्शन नही रहता प्रत्युत अपने ही साधारणीभूत भावो का तथा बोध का अतएव त्रैलोक्यगत भावो का साधारण्य की भूमिकापर से प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इस प्रकार अपने भावबोधरूप सस्कार ही नाट्य में प्रत्यक्ष का विषय बनते है इस लिये नाट्य अनुव्यवसायविशेष है।

'लोकवृत्तानुकरण' शब्द का भरत ने 'लोकवृत्तानुसरण' के अर्थ मे प्रयोग किया है। उनका कथन है कि नाटचक्रीडा लोकवृत्तानुसारी रहती है। किन्तु लोकवृत्त का दर्शन करना हो तो वह अनाश्रित अवस्था में केवल तत्त्वतः कल्पना असभव है। अतएव इसका दर्शन कराने के लिये कवि पात्ररूप आश्रय का निर्माण करता है। लोकवृत्त के जिस विशिष्ट अग का दर्शन करना हो उसके लिये पहले से ही कोई ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्ति लोक मे प्रसिद्ध हो, तो इसी व्यक्ति का वह पात्र अथवा प्रणालिका के रूप मे उपयोग करता है [१४] ऐसे नाटच मे उस व्यक्ति का अनुकरण नही किया जाता, अपितु इस पात्रके आश्रय से लोकवृत्त का अनुकरण किया जाता है। भट्टतौत कहते है कि नाटच को जब अनुकरणकहा जाता है तब इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि इस कथन की पृष्ठभूमि मे लोकवृत्तानुसरण की कल्पना होती है, न कि सदृशकरण की।

ध्वनिकार का मत

श्रीशकुक के मत का परीक्षण करते हुए हम भट्टतौततक आ पहुँचे तथा तौत का भी मत देखा। किन्तु इसीके मध्य की एक सीढी हमने छोड़ दी। भट्टतौत से पूर्व आनन्दवर्धन ने 'रस ध्वनित होता है' यह मत बडे जोर से प्रवर्तित किया। काव्यनाटचगत अन्य बाते वाच्य हो सकती है किन्तु रस स्वप्न मे भी वाच्य नही रह सकता। वह उत्पन्न नही होता, वह अनुमित नही होता, वह वाक्यका तात्पर्यार्थ नही है, वह अभिधा अथवा लक्षणा का विषय नही है। काव्यगत शब्द के व्यजना नामक व्यापार द्वारा रस अभिव्यक्त होता है। 'रस भाव आदि विभावादि द्वारा प्रतीत होता है। काव्य पढते समय अथवा नाटच देखते समय, सहृदय की तत्त्वदर्शिनी बुद्धि में वह समकाल ही अवभासित होता है। इस रस-प्रतीति मे क्रम तो है किन्तु झटिति प्रत्यय के कारण इस क्रम का हमे ज्ञान नही होता। अतएव रसभावादि असलक्ष्यक्रम ध्वनि है"

आगे चल कर अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के इस मत को विशद किया। रसप्रक्रिया के इतिहास मे अन्तिम मत अभिनवगुप्त का ही माना जाता है। "रस अभिव्यक्त होता है" इस मत को अभिनवगुप्त ने प्रस्थापित तो किया है किन्तु इस मत की मूल विवेचना अभिनवगुप्त की नही है। इस मत को सर्वप्रथम ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया। काव्यगत शब्दार्थ तथा नाटचगत अभिनय

---

१४. लोकवृत्तानुसारेण यत इयं नाट्यक्रीडा, लोके च धर्मादयोऽनाश्रया न संवेदनयोग्याः, तेन धर्मादिविषये यो यथा प्रसिद्धो रामादिः, स शब्दमात्रोपयोगित्वेन मुख्यया प्रणालिकया गृहीतः।

द्वारा दर्शाये गये विभावादि रस के व्यजक है। रसाभिव्यक्ति ही कवि का एकमात्र प्रयोजन है। इसको लक्ष्य कर के ही कवि शब्दार्थ का प्रयोग करता है। काव्य तथा नाटच की कथावस्तु, तद्गत प्रसग, पात्र वर्णन आदि सभी अर्थ रसाभिमुख ही होने चाहिये। इस विषय मे कवि सतर्क रहता है[1]। ध्वनिकार ने कहा है—

> वाच्याना वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
> रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्य महाकवे.॥

काव्य तथा नाटच के रसाभिव्यजकता का स्वरूप ध्वनिकार ने इस प्रकार बताया है—

> विभावभावानुभावसचार्यौचित्यचारुणः।
> विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा॥
> इतिवृत्तवशायाता त्यक्त्वाननुगुणा स्थितिम्।
> उत्प्रेक्ष्याऽभ्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नय.॥
> सन्धिसन्ध्यंगघटन रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
> न तु केवलया शास्त्रस्थितिसपादनेच्छया॥
> उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
> रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिन.॥
> अलकृतीना शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
> प्रबन्धस्य रसादीना व्यंजकत्वे निबन्धनम्॥(ध्व. ३। १०–१४)

यह तो बात अनुभवसिद्ध है कि महाकवियो के काव्य, नाटच आदि मे रसास्वाद प्राप्त होता है। इस रस का प्रकाशन इस कृति के द्वारा कैसे होता है यही उपर्युक्त कारिकाओ में दर्शाया गया है। यह प्रकार उपन्यास करके आनन्दवर्धन कहते है— 'यह स्पष्ट होगा कि महाकवियो का समूचा काव्यव्यापार रसाभिव्यक्ति के लिये ही होता है। पहली बात यह है कि कवि जिस रस की अभिव्यक्ति करना चाहता है उस रस के लिये उचित विभावानुभाव, स्थायी तथा सचारी जिस कथा-वस्तु में उचित रूप से एकत्रित हो सकते है ऐसी ही कथावस्तु कवि चुन लेता है अथवा अपनी प्रतिभा के बल से रचता है। वह सतर्क रहता है कि इस कथावस्तु मे रसोचित घटना, पात्रो के रसोचित व्यापार, तथा रसोचित अन्य विविध भाव सहजता से प्रकाशित होने चाहिये व कृत्रिम अथवा आगन्तुक नही दीखने चाहिये। विभावानुभावों का औचित्य लोकव्यवहार से निर्धारित किया जा सकता है। किन्तु इस कथा मे अनुस्यूत दिखायी देनेवाले स्थायी का प्रधान पात्र की प्रकृति से औचित्य होना आवश्यक होता है। पात्र की जो प्रकृति हो उस प्रकृति द्वारा वह विभाव

ग्रावश्यक ही प्रकाशित होता है। इसमे ग्रसभवनीयता कुछ नहीं है (भावौचित्य तु प्रकृत्यौचित्यात्—ग्रानन्दवर्धन)। कवि यदि इतिहास ग्रथवा पुराण से कथावस्तु लेना चाहता है तो ऐसी ही कथावस्तु लेता है जो कि रसाभिव्यक्ति के लिये पोषक हो सकती है। इतना नहीं, मूल कथावस्तु में यदि रस का कुछ बाधक हो तो कवि उस कथा में परिवर्तन कर के ग्रथवा ग्रपनी ग्रोर से उसमें कुछ जोड़ कर, उसे रसानुवर्ति बनाता है। इस बात का स्मरण रहे कि कवि नित्य रसपरतन्त्र ही होता है। ऐतिहासिक काव्य मे इतिहास कथन उसका प्रयोजन नही रहता। वह कार्य तो इतिहास ही कहता है। रसाभिव्यक्कि के एक साधन के रूप में कवि ऐतिहासिक घटना को उठा लेता है [१५]। ऐतिहासिक कथावस्तुग्रो मे भी रसयुक्त कथाएँ ग्रनेक हो सकती हैं। उनमे से किसी भी एक कथा को लेने से काम नही चलता। इनमें से भी महाकवि उसी कथा को चुन लेता है जिसमे कि रसोचित विभाव ग्रा सकते है। कल्पित कथावस्तु के सम्बन्ध मे तो कवि को बहुत ही सतर्क रहना ग्रावश्यक हो जाता है। ऐसी कथा मे ग्रल्प ग्रनवधान से भी कवि की ग्रव्युत्पत्ति प्रकट हो जाती है। कथा की कल्पना भी ऐसी करनी चाहिये कि सम्पूर्ण कथावस्तु रसमय प्रतीत हो [१६]।

प्रबन्ध की रसाभिव्यवित का दूसरा गमक है कथा में ग्रथित प्रसंगो का सहज, सभाव्य तथा ग्रपरिहार्य उपनिबन्धन। यह निबन्धनयदि ग्रौचित्यपूर्ण हो तो इसका पर्यवसान रसाभिव्यक्ति में होता है। यही है महाकाव्यगत घटको की ग्राकाक्षा तथा योग्यता। संधि, सन्ध्यग, वृत्त्यग ग्रादि ग्रर्थो की काव्य में स्थिति रसानुगुण होने से ही रहती है। शास्त्र में वर्णित ये ग्रर्थ काव्य मे रसानुगुण हो कर ही ग्राने चाहिये, केवल शास्त्रदृष्ट ग्रर्थ काव्य मे ग्रथित करना है इसलिये नही। ग्रानन्दवर्धन इस विषय में ग्रनुकूल प्रतिकूल दोनो उदाहरण देते हैं।

प्रबन्ध के रसाभिव्यंजकता का ग्रौर एक गमक यह है कि महाकवियों की कृति मे रसो का उद्दीपन एवम् प्रशमन प्रसग के ग्रनुसार तथा प्रकृतिसिद्ध क्रम से होता है। काव्यगत प्रधान रस का ग्रनुसधान निरन्तर बनाया रखा जाता है। ग्रगभूत ग्रनेक रसो का मुख्य रस के साथ ग्रनुसंधान किस प्रकार होता है इसके उदाहरण के रूप में आनन्दवर्धन ने 'तापसवत्सराज' नाटक का उल्लेख किया है।

---

१५. कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतंत्रेण भवितव्यम्। तत्र इतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुण कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेः इतिमात्रनिर्वहणेन किंचित् प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत्सिद्धेः।— आनंदवर्धन

१६. कथा शरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते॥

रसाभिव्यक्ति का और एक गमक है अलंकारो का उचित उपयोग। अलकार-युक्त लिखने की सामर्थ्य होने पर भी रससमाहित कवि अलंकारो के अधीन नही रहता। वह अपने आपको नियन्त्रित रखता है। जहाँ कवि रसावधान छोड़ कर कल्पना का चमत्कार दर्शाता है वहाँ अनुपद रसभग ही दिखायी देता है।

महाकवि के काव्य में उपर्युक्त अर्थ ही नही, अपितु एक एक शब्द कैसे व्यजक होता है यह आनन्दवर्धन ने विस्तरश. तथा उदाहरणो के साथ स्पष्ट किया है। कवि की प्रत्येक क्रिया से उसकी विवक्षा प्रकट होती है, एव कुछ प्रयोजन रख के ही वह हर बात को काव्य मे स्थान देता है। कवि की यह विवक्षा और प्रयोजन है काव्य मे रस की अभिव्यक्ति। भामह आदि ने एक एक शब्द के प्रयोग के विषय में लिखा है इसमे भी व्यजकत्व की ही दृष्टि है (शब्दविशेषाणा चान्यत्र च चारुत्व यद्विभागे नो प्रदर्शित तदपि तेषा व्यंजकत्वेनैवावस्थितम्)।

काव्य मे लौकिक वस्तुधर्मो मे भी परिवर्तत किया दिखायी देता है। यह भी रस ही की अपेक्षा से है। चन्द्रकिरण, कमलनाल आदि स्वभावत. शीतल वस्तुएँ भी विरही नायकनायिकाओ को ताप देती है। कालिदास का दुष्यन्त कहता है, " विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै "। साराश, कवि की सृष्टि में वस्तुजात के लौकिक रूप मे भी परिवर्तन होता है। लौकिक दृष्टि से मिथ्या प्रतीत होने वाले सबन्ध रसमय विश्व में सत्य समझे जाते हैं। क्यो ? जिस अपेक्षा से कवि इन अलौकिक वस्तुसबन्धो का निर्माण करता है उस अपेक्षा अथवा विवक्षा की अभिव्यक्ति इनमें हमे प्रतीत होती है, अतएव कवि निर्मित अलौकिक संबन्ध भी हम स्वीकार कर लेते हैं। लौकिक व्यवहार में भी वक्ता का अभिप्राय ही वाक्य में अभिव्यक्त होता है। किन्तु कवि और लौकिक वक्ता दोनो के अभिप्राय मे महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि वक्ता का व्यवहारगत अभिप्राय क्रियापर्यवसायी होता है प्रत्युत कवि का काव्यगत अभिप्राय प्रतीतिपर्यवसायी है। अतएव अभिनवगुप्त कहते हैं कि काव्यप्रतीति अभिप्रायनिष्ठ होती है, अभिप्रेत वस्तुनिष्ठ नहीं होती (काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानव्यनाद्युपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते अपितु प्रतीति विश्रातिकारिणी, सा च अभिप्रायनिष्ठैव, न अभिप्रेतवस्तुपर्यवसाना — लोचन)।

यह अभिप्रायप्रतीति काव्यगत शब्दार्थो द्वारा होती है इसका अर्थ यह होता है कि काव्यगत शब्दार्थ अभिप्राय व्यक्त करते है। अतएव काव्यगत शब्दार्थों में व्यजकत्व रहता है। यह अभिप्राय रसादिरूप ही होता है अतएव रस तथा शब्दार्थ में व्यग्यव्यजकभाव होता है। इस व्यजकत्व की अपेक्षा से ही काव्यगत शब्दार्थों का चारुत्व अथवा सौदर्य प्रतीत होता है।

इस सौदर्यविशेष का ज्ञाता सहृदय है। तथा रसज्ञता ही सहृदय का लक्षण है। शब्दार्थों का सरलता से रसादि मे पर्यवसान होना ही काव्यगत शब्दार्थों का विशेष है। शब्द में यह सामर्थ्य व्यजकत्व के कारण आता है। अतएव काव्यगत शब्दार्थो का चारुत्व व्यजकत्वाश्रित ही रहता है (रसज्ञता एव सहृदयत्वम्। तथाविधै सहृदयै. सवेद्य रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकशब्दानां विशेष' इति व्यजकत्वाश्रय्येव तेषा मुख्य चारुत्वम्—आनन्दवर्धन)।

साराश, महाकवियो का सपूर्ण काव्यव्यापार रसाश्रित ही होता है। विश्व में एक भी वस्तु ऐसी नही है जो कि अभिमत रस के अग के रूप में काव्यविशिष्ट होने पर आस्वाद्य नही होती। तथा एक भी अचेतन पदार्थ ऐसा नही है जो कि काव्य में विभाव के रूप में अथवा चेतन व्यवहार द्वारा रसादि का अगभूत नही होता [१७]। अतएव काव्यगत शब्दार्थो का पर्यवसान रसास्वाद में होता है, रसास्वाद की अपेक्षा से ही इन शब्दार्थो का सौदर्य प्रतीत होता है, एव यह सौदर्य शब्दार्थो की व्यजकता मे ही स्थित होता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अपना मत प्रस्तुत किया। व्यजकता की सिद्धि के लिय उन्हे वैयाकरण, नैयायिक तथा मीमांसको के साथ वाद करना पडा। इस वाद से हमे यहाँ कुछ प्रयोजन नही है। आनन्दवर्धन के इसी मत का विशद विचार अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' मे स्वतन्त्ररूप में तथा 'अभिनवभारती' में रससूत्र के आधार पर किया है।

इस प्रकार नवी शती के पूर्वार्द्ध मे ही साहित्य क्षेत्र में रसविषयक तीन वाद—लोल्लट का उत्पत्ति वाद अथवा परिपोषवाद, श्रीशकुक का अनुमितिवाद अथवा अनुकृतिवाद एवं ध्वनिकार का अभिव्यक्तिवाद उपन्न हुए। इनके अतिरिक्त और भी दो वाद अभिनवगुप्त के समक्ष थे। एक है साख्यो का वाद कि रस तो सुखदु खो को उत्पन्न करनेवाला बाह्य भाव ही है, तथा दूसरा है भट्टनायक का भावकत्व वाद। इन दोनों का स्वरूप अब हम देखे।

सांख्यों का सुखदु.खवाद

'अभिनवभारती' में सांख्यदर्शन पर आधारित एक मत यो निर्दिष्ट किया गया है—नाट्य में जो बाह्य विषयसामग्री दर्शाई जाती है वही रस है। यह विषयसामग्री त्रिगुणात्मक होने से इसका तो स्वभाव ही सुखदु·खरूपता है। सुखदुःख

१७. परिपाकवतां कवीना रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसांगतां नीयमाना न प्रगुणीभवति। अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसांगताम्।

निर्माण की शक्ति इसमें सहजसिद्ध है। यह सुखदु खस्वरूप विषयसामग्री ही रस है। इनके मन्तव्य के अनुसार रसप्रतीति का स्वरूप इस प्रकार है–विभाव दलस्थानीय है। रसनिष्पत्ति की घटना में विभावों की अकुर दशा है। अनुभाव तथा व्यभिचारी के कारण अकुर पर सस्कार होते है एवम् इन तीनो को सामग्री से सुखदु.खस्वरूप आतर स्थायी उत्पन्न होते है। रस सुखदु खरूप होने से सुखदु खात्मक बाह्य विषय सामग्री मे ही स्थित रहता है, क्योकि बाह्य विषयो का स्वभाव ही सुखदु खरूपता है। अतएव विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारीभावो की सामग्री ही रस है।

साख्यो की यह उपपत्ति स्वीकार्य नही है। इस उपपत्ति पर पहली आपत्ति यह है कि " स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः " इस तथा तत्सदृश अन्य सूत्रो का अर्थ करने मे लक्षणा का आश्रय करना पडता है। इस सूत्र का अर्थ है, ' लौकिक दृष्टि से जो स्थायी भाव होते है उनको रसत्व कैसे प्राप्त कराया जाता है यह हम कथन करेगे। ' किन्तु, इन विवेचको का ही कथन है कि, उपर्युक्त मत का स्वीकार करने से इस सूत्र का वाच्य अर्थ लेना असंभव हो जाता है। यह तो एक दोष है कि सूत्रो का अर्थ करने में लक्षणा का आश्रय करना पड़ें। अतएव, अभिनवगुप्त का कथन है कि, यह मत विचार करने के भी योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, इस मत मे प्रतीति वैषम्य का दोष आता है। सुखदुःखस्वभावरूप बाह्य विषय ही यदि रस है, तो एक ही बाह्य विषय एक को सुख तथा दूसरे को दु.ख देगा। एवम् इस प्रकार एक ही रस की प्रतीति में वैषम्य निर्माण होगा। इस दोष के तथा अन्य अनेक दोषो के कारण यह मत स्वीकार्य नहीं होता।

भट्टनायक का मत

भट्टनायक अभिनवगुप्त के वृद्धसमसामयिक थे। इन्हे ध्वनितत्त्व स्वीकार न था। आनन्दवर्धन के " रस ध्वनित होता है " इस मत के खण्डन के लिये इन्होने ' हृदयदर्पण ' नामक ग्रन्थ लिखा। इनके मत के अनुसार, रस उत्पन्न नही होता, अनुमित नही होता, अथवा अभिव्यक्त भी नही होता; अपितु भावकत्व नामक व्यापार द्वारा रस भावित होकर भोजकत्व नामक व्यापार द्वारा रसिक उसका आस्वाद लेता है। भट्टनायक ने अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

रस अनुमित नही होता। यदि माना गया कि वह अनुमित होता है तब या तो वह परगत होने के कारण अनुमित होगा या स्वात्मगत है इसलिये प्रतीत होगा। परगत होने से यदि वह अनुमित हुआ तब रसिक की उसके संबन्ध में तटस्थता रहेगी। इससे उसका आस्वाद सभव न रहेगा। रामादि के काव्यनाटच मे तो वह स्वगतत्व से प्रतीत ही नही हो सकता। रस आत्मगतत्व से प्रतीत होता है ऐसा

यदि मानना हो तो हमारे मन में रसोत्पत्ति हुई है यह भी मानना ही पड़ेगा (क्यों कि केवल कल्पित वस्तु के अनुमान में कुछ अर्थ नही होता) और इस प्रकार की रसोत्पत्ति तो रसिक के मन मे होना ही असभव है। सीता रसिक के हृदयगत रसोत्पत्ति का विभाव हो ही नही सकती। यह तो ठीक है कि रसिक की वासना का विकास होने के लिये साधारणीभूत कान्तात्व कारण होगा; किन्तु सीता, पार्वती आदि देवियों के वर्णन में कान्ता का साधारणीभाव प्रतीत नही हो सकता। इनके विषय में हमारी जो पूज्यत्वबुद्धि है वह इस साधारणीकरण में बाधक होगी। अच्छा, इन प्रसंगो को देखने के समय रसिक को अपनी कान्ता का स्मरण होता है यह भी नही कहा जा सकता। क्योकि ऐसा अनुभव नही है। यह रही शृगार की बात। वीर रस के आस्वाद में भी यही अड़चन है। राम, कृष्ण, शिव तो असाधारण पुरुष थे। उनका सामान्यीकरण कैसे हो सकता है ? सेतुबन्धनादि इनकी अलोकसामान्य कृति का रसिको के लिये विभाव के रूप में साधारण्य कैसे हो सकता है ? राम के उत्साह का ज्ञान इसे कारण होगा यह भी नही कहा जा सकता, क्योकि उत्साहगुणयुक्त राम की स्मृति होना असंभव है। इसका कारण यह है कि स्मृति के लिये अनुभव की पृष्ठभूमि आवश्यक होती है और राम के उत्साह का अनुभव तो रसिक ने कभी किया नही रहता। अच्छा, यदि ऐसा मान लिया कि हम राम के जीवन की घटनाएँ देख रहे है, अथवा पढ रहे है, इस लिये, अब इन घटनाओ से हमे राम के उत्साह की प्रतीति होगी, तब यह प्रतीति रसोत्पत्ति का कारण नही होगी; क्योकि यदि मान लिया कि किसी का उत्साह देखने पर हमारे मन मे रसोत्पत्ति होती है, तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि व्यवहार में भी प्रेमिको का व्यापार देखते ही हमारे मन में शृगार का आविर्भाव होता है।

रसोत्पत्ति के पक्ष पर भी उपर्युक्त दोष आ जाते ही है। इसके अतिरिक्त करुणरसयुक्त काव्य में दु.खोत्पत्ति का प्रसग आयेगा।

रस अभिव्यत्त होता है यह भी मानना असभव है। क्योंकि वासनात्मक शक्ति के रूप में स्थित शृंगार अभिव्यक्त होने के लिये जो साधन आवश्यक होगे उनके अल्पत्व अथवा अधिकता के अनुसार रसाभिव्यक्ति भी अल्प अथवा अधिक होगी। अपने मन में रसाभिव्यक्ति अधिक हो इस हेतु रसिक को अधिकाधिक बलवान् विभावो के पीछे मानों दौड़ना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त और एक प्रश्न रहेगा कि रस की स्वगत अभिव्यक्ति होती है अथवा परगत अभिव्यक्ति होती है ? अतएव ये तीनो उपपत्तियाँ स्वीकार्य नही हो सकती।

अतएव भट्टनायक अपनी उपपत्ति इस प्रकार प्रस्तुत करते है। काव्य तथा शास्त्र दोनो शब्दरूप होते है, किन्तु तब भी काव्यगत शब्दो का कार्य एवम् शास्त्रगत शब्दो

का कार्य दोनों परस्पर भिन्न होते है। काव्यव्यापार में काव्य का वाच्यार्थ, रस तथा पाठक का सबन्ध रहता है। इनके आनुषगिक काव्य के व्यापार के तीन अश है। वाच्यार्थ की दृष्टि से शब्द मे अभिधायकत्व अर्थात् अभिधाव्यापार रहता है, रस की दृष्टि से शब्द मे भावकत्व अर्थात् भावनाव्यापार रहता है तथा सहृदय की दृष्टि से भोगकृत्त्व अर्थात् भोगीकरण व्यापार रहता है। काव्यगत शब्दो की अभिधाशक्ति शास्त्रगत अभिधा के समान शुद्ध नही रहती। वह भावना तथा भोगीकरण व्यापारो से मिश्रित रहती है। ऐसा यदि न माना एवम् शास्त्र तथा काव्य की बोधक शक्ति (अभिधा) एकाकार मान ली, तो तन्त्र अर्थात् वह शास्त्रनियम जिसके कि दो अर्थ किये जाते हैं (उदा० पाणिनीय सूत्र – 'हलन्त्यम्') और श्लेषालकार में कुछ भेद ही न रहेगा, उपनागरिकादि वृत्तियॉ तथा श्रुतिदुष्टादि भेद भी व्यर्थ हो जायेंगे। किन्तु, क्योकि काव्यगत गुणदोषो का स्वरूप विशिष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है, काव्यगत अभिधा का स्वरूप शास्त्रगत अभिधा से भिन्न ही मानना पड़ता है। काव्यगत अभिभा को 'रसभावना' रूप अश के कारण भिन्नता प्राप्त होती है। काव्यगत अभिधा का 'रसभावना' एक अश है यह स्वीकार करना पडता है।

'भावन' मीमांसाशास्त्र में एक सज्ञा है। भावना का लक्षण है 'भवितुर्भ-वनानुकूलो भावकव्यापारविशेष।' निर्माण होनेवाली वस्तु के निर्माण के प्रति अनुकूल, निर्माता का व्यापार (प्रयत्न) ही भावना है। वेद में विधिवाक्य है— 'यजेत स्वर्गकाम:' इस वाक्य का अर्थ है 'स्वर्ग की इच्छा से याग करना चाहिये'। स्वर्ग निर्माण होनेवाली वस्तु है तथा याग इसका साधन है। इस वाक्य का अभिप्राय है — 'यागेन स्वर्ग भावयेत्।' अर्थात् यागरूप साधन से स्वर्ग का भावन करना चाहिये अर्थात् स्वर्ग उत्पन्न करना चाहिये। इस विधिवाक्य के अनुसार स्वर्ग उत्पन्न करने के प्रयोजन से होनेवाला पुरुषनिष्ठ व्यापार ही भावना है। भावना के दो प्रकार हैं — शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना। हमें यहाँ शाब्दी भावना से कुछ प्रयोजन नही है। इतना ही स्मरण रहे कि शाब्दी भावना का साध्य आर्थी भावना है। आर्थी भावना के तीन अश है—साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता। मीमासको के अनुसार स्वर्ग साध्य है, याग साधन है तथा याग में किये जानेवाले 'प्रयाज' आदि इतिकर्तव्यता है। भट्टनायक ने भावना का यह सिद्धान्त रसप्रक्रिया के संबन्ध में इस प्रकार दर्शाया। यह तो अनुभव है कि काव्यगत शब्द तथा नाटच का पर्यवसान रसोत्पत्ति मे होता है। प्रत्येक प्रयुक्त शब्द द्वारा रसोत्पत्ति नही होती। अतएव काव्यगत शब्दो का अवश्य ही एक विशिष्ट व्यापार होना चाहिये जो रसोत्पत्ति के लिये अनुकूल हो। यह व्यापार है विभावादि का साधारणीकरण। जब तक

विादि को काव्यगत व्यक्ति से सबद्ध समझते है तबतक रसनिष्पत्ति असभव है। तब यह सिद्ध हुआ कि विभावादि साधारणीकरण से रसनिष्पत्ति होती है। किन्तु व्यक्तिनिष्ठ रूप में दिखायी देनेवाले विभावादि साधारणीकृत किस प्रकार होते है ? भट्टनायक का कथन है कि विभावो का साधारणीकरण काव्यगत निर्दोषता, गुण तथा अलकार एवम् नाट्यगत अभिनय के कारण होता है। मीमासको की परिभाषा में कहा जा सकता है कि काव्यगत भावना में रस साध्य है, विभावादि का साधारणीकरण साधन है एवम् गुणालकार तथा अभिनय इतिकर्तव्यता है। 'काव्यंरसान् भावयति' इस वाक्य का अर्थ यह हुआ — गुणालकार अथवा अभिनय द्वारा सपन्न होनेवाले विभावादि के साधारणीकरण रूप साधन से काव्य रसो को निर्माण करता है। काव्यगत शब्दो मे स्थित यह साधारणीकरण का व्यापार ही भावना है। भावना का अर्थ है भावकत्व। 'काव्य रसो का भावक है' अर्थात् काव्य में भावकत्व है। 'तच्चैतत् भावकत्व नाम रसान् प्रति यत् काव्यस्य तद् विभावादीनां साधारणत्वापादन नाम।' (लोचन)। मीमासा की आर्थी भावना से रसभावना की तुलना इस प्रकार हो सकेगी —
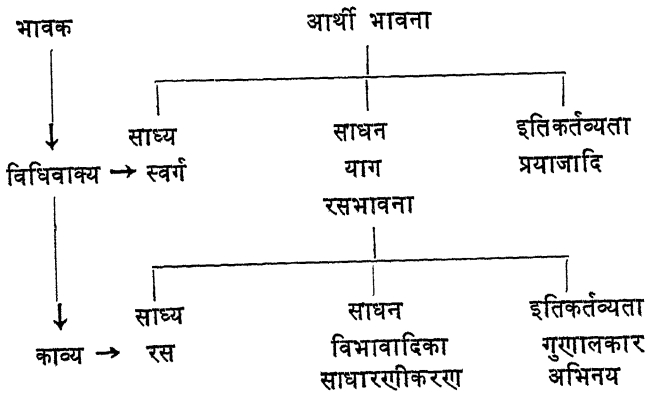
रसभावना के व्यापार में विभावादि का साधारणीकरण साधनांश (करणाश) है। इसका अर्थ है कि रस तथा साधारणीकरण मे अव्यभिचारी सबन्ध है। विभावादि के साधारणीकरण से रस भावित होता है अर्थात् रामादि की रत्यादि स्थायी चित्तवृत्ति साधारणीकृत होती है। इस प्रकार जब रस भावित होता है तब रसिक को उसका विशेष रूप में साक्षात्कार होता है। यही भोग है। रामादि की चित्तवृत्ति – जो कि भावना का विषय बन चुकी है – जब साधारण्य से प्रतीत होती है तब रसिक उसके संबन्ध में तटस्थ नहीं रहता, अपितु उसका भोग कर

सकता है । इस रसभोग को ही 'भोगीकरण' अथवा 'भोगकृत्त्व' कहा जाता है । रसभोग का अपना विशिष्ट रूप है । रसभोग लौकिक अनुभव नही है अथवा वह अनुभूत चित्तवृत्ति का स्मरण भी नही है । वह हृदय की एक अवस्था है जिसका कि स्वरूप है द्रुति, विस्तार और विकास । हमारा हृदय सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणो से युक्त है । रजोगुण से द्रुति, तमोगुण से विस्तार तथा सत्त्वगुण से हृदय का विकास होता है । यही भोग की अवस्था है । (यदा हि रजसो गुणस्य द्रुति, तमसो विस्तारः, सत्त्वस्य विकासः, तदा भोग. स्वरूप लभते – काव्यप्रकाश-सकेत) । भोगीकरण की अवस्था में सत्त्वगुण का प्रचुरता से उद्रेक होता है । इस कारण, हृदय की, रजस् तथा तमस् इन गुणो के वैचित्र्य से युक्त सत्त्वमयी अवस्था होती है । इस सत्त्वमयी अवस्था में रसिक का आत्मचैतन्यरूप लोकोत्तर आनन्द प्रकाशित होता है तथा इस आनन्द में रसिक विश्रान्त होता है । विश्रान्त होने का अर्थ है दूसरी किसी बात का ध्यान न होना । साराश, भोग की अवस्था सत्त्वमय आनन्द की अबस्था है । इस अवस्था में रसिक को दूसरी किसी अवस्था का ध्यान नहीं रहता । रस का भोग आत्मानंद के स्वरूप का होता है । अतएव इसे 'पर ब्रह्मस्वादसविध' अर्थात् ब्रह्मानन्द के समान कहा गया है । काव्यव्यापार में भोगी-करण ही प्रधान अश है एव वह सिद्धरूप है, क्योकि आत्मानन्द सिद्धरूप ही होता है । काव्य पढने मे अथवा नाटच देखने में अनुभव होनेवाला यह आनन्द रसिक में व्याप्त होता है अतएव आनन्द ही काव्य का प्रधान फल है । व्युत्पत्ति गौण काव्यफल है । यह सब भट्टनायक ने इस प्रकार बताया है —

> अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च ।
> अभिधाधामतां याते शब्दार्थालकृती तत ।।
> भावनाभाव्य एषोऽपि शृगारादिगणो मत ।
> तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान् नर ।।

भट्टनायक ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात बतायी है कि रसास्वाद के लिये विभावादि का साधारणीकरण होना चाहिये । दूसरी बात यह है कि भट्टनायक ने रसास्वाद के व्यापार मे रसिक का भी अन्तर्भाव किया है । लोल्लट तथा श्रीशकुक दोनो की उपपत्तियो मे रसिक बाह्य तथा तटस्थ था । किन्तु भट्टनायक ने उसे रस का भोजक अर्थात् आस्वादक निर्धारित किया । विभावादि जब तक अन्य व्यक्ति से सबद्ध हैं तब तक रसिक उनका भोग ही नही कर सकता । किन्तु जब इन्हींका साधारणीकरण होता है तब व्यक्तिनिरक्षेप तथा स्थलकालरहित अवस्था मे ये उपस्थित होते हैं एवं रसिक इन का आस्वाद ले सकता है । इस प्रकार साधारणी-करण रूप भावनाव्यापार मानते हुए भट्टनायक ने रसास्वाद मे आनेवाली बाधाओ का निवारण किया ।

भट्टनायक के मत का परीक्षण

भट्टनायक की इस उपपत्ति की अभिनवगुप्त ने आलोचना की है। भट्टनायक के पूर्व ही आनन्दवर्धन ने व्यंजनाव्यापार के आधार पर रस की उपपत्ति निर्धारित की थी। लोल्लट तथा श्रीशकुक की उपपत्तियो के दोष भट्टनायक को प्रतीत हुए थे। किन्तु वे व्यजनाव्यापार स्वीकार नही करते थे अतएव आनन्दवर्धन की रसाभिव्यक्ति की उपपत्ति भी उन्हे स्वीकार न थी अतएव उन्होने शब्दो के दो व्यापारो की – भावना तथा भोगीकरण की – कल्पना की। अभिनवगुप्त का विचार है कि भट्टनायक का अभिप्रेत अर्थ यदि व्यजनाव्यापार ही से सिद्ध हो सकता है तब इन दोनो अधिक व्यापारो की आवश्यकता ही क्या है ?

भट्टनायक ने प्रतीति का स्वगत तथा परगत विभाग करते हुए जो आपत्ति उठायी है वह भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद के सबन्ध मे सत्य है। किन्तु अभिव्यक्तिवाद के संबन्ध मे नही। यह तो कहना ही असभव है कि रस प्रतीत नही होता। चाहे जिस पक्ष का स्वीकार कीजिये, रस की प्रतीति का तो परिहार नही हो सकता। रस यदि प्रतीत न होगा तब पिशाच के सबन्ध मे जैसे कुछ कहा नही जा सकता वैसे ही रस के सबन्ध मे भी कुछ कहा नही जा सकेगा। अतएव यह तो मानना ही पड़ेगा कि रस प्रतीत होता है। हाँ, इस प्रतीति का स्वरूप अवश्य विशिष्ट है। व्यवहार मे भी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, योगिप्रत्यक्ष आदि उपायों द्वारा प्रतीति ही होती है। किन्तु 'प्रतीतित्व' रूप धर्म इन सब मे समान होने पर भी उपायभेद के कारण इनमें भेद होता ही है। प्रत्यक्ष प्रमाण (उपाय) से होनेवाली प्रात्यक्षिक प्रतीति, अनुमान से होनेवाली आनुमानिक प्रतीति, आप्तवाक्य से होनेवाली शाब्दप्रतीति; इस प्रकार उपायभेद से इस प्रकार एक प्रतीति का अन्य प्रतीति से भेद माना जाता है। इसी प्रकार यह रसप्रतीति भी — जिसके कि चर्वणा, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि अनेक नाम हैं — भिन्न प्रकार की है इस बात को अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसका कारण यह है कि इस प्रतीति का उपाय लोकोत्तर रूप का है, केवल इसी से कि विभावादि सामग्री लौकिक कारणादि से संवादी है — रसप्रतीति को लौकिक अनुमानादि के समान ही नही माना जा सकता। विभावादि सामग्री से हृदयसवाद का योग होता है तभी रसप्रतीति होती है। यही विभावादि की अलौकिकता है कि इनमे हृदयसवाद निर्माण करने की क्षमता होती है। अतएव रसप्रतीति का विभावादि सामग्री रूप उपाय अलौकिक है, तथा उपायों की इस अलौकिकता के कारण ही, इस से होनेवाली रसप्रतीति का स्वरूप लौकिक प्रतीति से भिन्न होता है।

भट्टनायक की अभिव्यक्तिवाद पर आपत्ति है कि यदि माना गया कि रस अभिव्यक्त होते है तब यह भी मानना होगा कि वे मूलत. सिद्धरूप है। इस पर अभिनवगुप्त कहते है कि अभिव्यक्तिवादियो का 'रसाः प्रतीयन्ते' यह कथन 'ओदन पचति' इस कथन के समान है (रसाः प्रतीयन्ते इति ओदनं पचतिवत् व्यवहार ।— लोचन)। 'वह भात पकाता है' इस वाक्य मे जैसे आगे आनेवाली परिपक्व अवस्था पर ध्यान देकर चावल पर भात का उपचार किया जाता है वैसे ही आगे आनेवाली प्रतीति का विषय होने से कहा जाता है कि 'रस प्रतीत होते हैं।' वस्तुत रस प्रतीयमान ही होता है (प्रतीयमान एव हि स) अर्थात् वह प्रतीति का ही विषय होता है। यह प्रतीति विशिष्ट प्रकार की रसना अथवा आस्वादनक्रिया के रूप की होती है। अतएव लौकिक अनुमानप्रतीति अथवा शब्द-प्रतीति से यह भिन्न होती है। लौकिक अनुमानप्रतीति रसिक को व्युत्पन्नता पाने मे सहाय्यक होगी। वैसे ही शब्दप्रतीति से भी रसिक व्युत्पन्न होगा। लौकिक अनुमान तथा शब्द के प्रमाणो की सहायता से व्युत्पन्न बने हुए रसिक को ही रसप्रतीति होगी किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सहृदय की व्युत्पन्नता के लिये अनुमानादि लौकिक प्रमाण आनुषगिक रूप में उपयोगी होते है इस लिये उसे होनेवाली रसप्रतीति भी लौकिक रूप ही की है।

भट्टनायक का यह कथन कि रामादि लोकोत्तर पुरुषो का काव्यगतचरित्र पढते समय अथवा तत्संबद्ध नाट्य देखते समय हृदयसवाद नही होता—बड़ा ही धृष्टतापूर्ण है। पातजल योगदर्शन मे कहा है कि "उस कर्म से जन्म, आयु तथा भोग के रूप का जो विपाक बनता है उससे जितनी वासनाएँ अनुगुण हो, उन्हीकी अभिव्यक्ति होती है (योगसूत्र ४।८)" अर्थात् विपाक से अनुबद्ध वासनाएँ प्रकाशित होती है तथा अन्य वासनाएँ सुप्त अवस्थाही मे रहती है। अद्यतन के अनुगुण तथा इनके द्वारा व्यक्त होनेवाली वासनाएँ तथा इनके मूल सस्कार दोनो मे जन्म, देश तथा काल का व्यवधान होते हुए भी ये वासनाएँ प्रकाशित होती है। इन वासानाओ के सस्कार स्मृतिरूप से उदित होते है (क्योकि स्मृति तथा संस्कार एकरूप है)। ये वासनाएँ अनादि है (क्योकि वे आशी रूप संकल्पविशेष पर अवलबित है एवम् यह सकल्प अनादि है। योगसूत्र ४।८–१०) इस प्रकार वासना तथा सस्कार अनादि होने से, रामादि के चरित्र पढ़ते समय उसके अनुगुण रसिक की वासना तथा सस्कार उदित होना सभव है। अतएव तब भी रसिक का हृदयसवाद हो सकता है।

तब रस प्रतीत होता है ऐसा कहने में कोई अडचन नही पडती। रसप्रतीति अनुभवसिद्ध है। यह प्रतीति रसनारूप है तथा यह रसिक मे उत्पन्न होती है;

ग्रौर यह रसनारूप प्रतीति उत्पन्न होने के लिये काव्य का व्यजकस्वरूप ध्वनन-व्यापार ही कारण होता है न कि ग्रभिधाव्यापार।

रस की प्रतीयमानता इस प्रकार सिद्ध करने पर भट्टनायक के माने हुए भावना तथा भोगीकरण रूप व्यापारव्यजना मे ही किस प्रकार ग्रन्तर्भूत होते है यह दर्शाते हुए ग्रभिनवगुप्त कहते है : भावकत्व तथा भोगीकरण दोनो व्यापार वास्तव मे ध्वनि मे ही ग्रन्तर्भूत होते है। विभावादि के साधारणीकरण के लिये भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार माना है ग्रौर कहा है कि गुणालकारों से यह साधारणीकरण होता है। काव्य का रसोचित गुणालकारो से युक्त होना ध्वनि-वादियो को भी स्वीकार है। इसलिये भावकत्व मे नया कुछ है ही नही। यह तो क्या, भावकत्व का ठीक विपरीत ही परिणाम हुग्रा है। भट्टनायक को उत्पत्तिवाद स्वीकार नही है किन्तु 'काव्य रसान् प्रति भावकम्' कहते हुए तथा भावनाव्यापार मानते हुए उन्होने इसी उत्पत्तिवाद को पुनरुज्जीवित किया है, क्योकि इस भावना का ग्रर्थ ही यह होता है कि काव्य भावनोत्पादक है। ग्रच्छा, काव्य रस का भावक भी कैसे होता है ? यह भावकत्व केवल शब्दो का नही है, क्योकि जबतक ग्रर्थज्ञान नही होता तबतक भावकत्व सभव ही नही होता। वह केवल ग्रर्थ का भी नही हो सकता, क्योकि वही ग्रर्थ भिन्न शब्दो मे कहने से रसोत्पत्ति नही होती। यदि कहना हो कि शब्द तथा ग्रर्थ दोनो के सहितत्व में यह भावकत्व है, तब, 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ व्यङ्क्त.।' इस ध्वनिकारिका मे ध्वनिकार ने यह पहले ही बताया है। सो भट्टनायक कथित भावकत्व में नवी-नता है ही नही। उचित गुणालकारो से युक्त शब्दार्थमय काव्य सहृदय मे रसचर्वणा उत्पन्न करता है। हम व्यजनावादी कहते है कि यह चर्वणोत्पत्ति शब्दार्थ के व्यजनाव्यापार का कार्य है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' रूप विधि 'याग' रूप साधनद्वारा तथा प्रयाजादि इतिकर्तव्यता द्वारा स्वर्गकाम पुरुष के लिये स्वर्ग का भावन करता है वैसे ही काव्य भी व्यजनाव्यापार द्वारा तथा गुणालकारौचित्य रूप इति कर्तव्यताद्वारा सहृदय के लिये रस (चर्वणा) का भावन करता है।
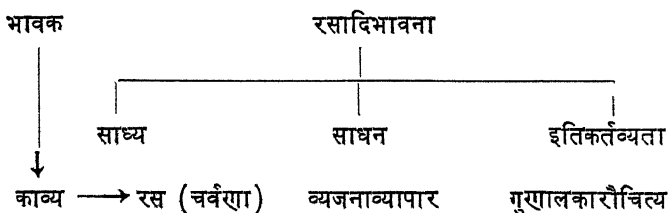
इस प्रकार भट्टनायक के भावनाव्यापार का करणांश ग्रन्ततोगत्वा व्यंजना-

रूप प्रत्यय को काव्यार्थ गोचर होता है, तब तो हमें भी यह स्वीकार है। इतना ही नही,

ससर्गादिर्यथा शास्त्रे एकत्वात् फलयोगत.।
वाक्यार्थस्तद्वदेवाऽत्र शृगारादी रसो मत ॥

शास्त्रगत वाक्यार्थ के अर्थैकत्व के कारण अथवा फलयोग के कारण ससर्गरूप विशिष्टरूप अथवा क्रियारूप आदि भेद होते है, वैसे ही काव्य में वाक्यार्थ शृंगारादि रसरूप ही होता है, यह आपका कथन भी हमे अभिमत है।

अभिनवगुप्त ने पूर्वाचार्यो के मतो का केवल खडन ही नही किया अपितु शोधन भी किया। पूर्वाचार्यों के मतो का इस प्रकार शोधन करते हुए, इस शुद्ध किये हुए नीव पर उन्होंने अपने विवेचन का भवन खडा किया। इसीलिये उनके विवेचन को मूलप्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी। वे कहते है—

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

परिशुद्ध किया हुआ रसतत्त्व अभिनवगुप्त ने किस प्रकार कथन किया यह देखने का अब हम प्रयास करे।

अभिनवगुप्तकृत रसविवेचन

'काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावा:' इस भरतसूत्र से ही अभिनवगुप्त ने अपने विवेचन का आरंभ किया है। काव्यगत पदार्थ तथा वाक्यार्थ अन्ततः रस ही मे पर्यवसित होते है। इस प्रकार रस काव्य का असाधारण एवं प्रधान धर्म है। अतएव रस ही काव्यार्थ है। 'काव्यार्थ' में 'अर्थ' शब्द अभिधेयवाचक नही है। इसका अर्थ 'प्राधान्य से अभिप्रेत' है। रस स्वशब्द से वाच्य नही होता, अतएव वह काव्य का अभिधेय नही हो सकता। काव्य मे रस की प्रधानता से अपेक्षा होती है अतएव रस को काव्यार्थ कहते है। काव्यार्थ अर्थात् रस का जो भावन करते है अर्थात् इसकी निष्पत्ति करते है वे है भाव। स्थायी तथा व्यभिचारी इस प्रकार के रस-निष्पादक भाव है। स्थायी तथा व्यभिचारी भावो के कलाप ही से एक अलौकिक अर्थ सपन्न होता है, जो आस्वाद्य होता है। सहृदय के लौकिक व्यवहार में प्रथम उसे स्थायी तथा व्यभिचारी भावो का ज्ञान होता है, तथा इसके उपरान्त ही काव्य-पठन के अथवा नाटच देखने के समय साधारण्य की भूमिका पर से वह इनका आस्वाद ले सकता है। इस प्रकार, लौकिक जीवन मे होनेवाली स्थायी तथा व्यभिचारी भावों की पूर्वावगति उत्तर कालीन आस्वाद का कारण होती है, इसी

एक अर्थ मे, स्थायी को रस का भावक अर्थात् निष्पादक कहा गया है। इस रस की निष्पत्ति कैसे होती है यह दर्शाने के लिये अभिनवगुप्त एक दृष्टान्त देते हैं--

आरोग्यमाप्तवान् साम्ब स्तुत्वा देवमहर्पतिम् ।
स्यादर्थावगति· पूर्वमित्यादिवचने यथा ॥
ततश्चोपात्तकालादिन्यक्कारेणोपजायते ।
प्रतिपत्तुर्मनस्येवं प्रतिपत्तिर्न संशयः ॥
य. कोऽपि भास्कर स्तौति स सर्वोऽप्यगदो भवेत् ।
तस्मादहमपि स्तौमि रोगनिर्मुक्तये रविम् ॥

"साम्ब ने सूर्य का स्तवन किया और वह रोग से मुक्त हो गया" यह वाक्य सुनते ही हमें सर्व प्रथम इसका वाच्यार्थ ज्ञात होता है। (सांब, उसका किया विशिष्ट सूर्यस्तवन, तथा उसकी विशिष्ट रोगमुक्ति इनसे यह वाच्यार्थ सबद्ध है)। इस ज्ञान के उपरान्त "जो भी कोई सूर्य का स्तवन करेगा, वह रोगनिर्मुक्त होगा" इस प्रकार केवल वाच्यार्थ से अधिक प्रतिपत्ति हमें होती है जिसका कि स्वरूप देशकालव्यक्तिनिरपेक्ष सामान्य है। इस प्रकार सामान्यता से प्रतीति आने पर हम भी सोचते हैं कि, 'हम भी इसी तरह सूर्यस्तवन से रोगविनिर्मुक्त हो जायँगे।' प्रथम व्यक्तिविषयक ज्ञान, तदुत्तर सामान्यप्रतिपत्ति एव तदुपरान्त आत्मानुप्रवेश इस प्रकार का यह क्रम है।

यह रही पुराण के आख्यान की बात। वैदिक वाक्य से भी ऐसा ही ज्ञान होता है। उदाहरण के लिये, 'वनस्पतयः सत्रमासत' (वनस्पतियों ने सत्र आरभ किया), 'तामग्नौ प्रादात्' (उसे अग्नि में हवन किया) आदि वैदिक वाक्य सुनते ही, अधिकारी व्यक्ति के मन मे इस व्यक्तिसबद्ध वाच्यार्थ से अधिक प्रतिपत्ति निर्माण होती है। इस उत्तरकालीन प्रतिपत्ति में देश, काल, व्यक्ति आदि का वाच्यार्थ से सबन्ध नष्ट हो जाता है, तथा, 'इस प्रकार सत्र किया जाता है' 'इस प्रकार हवेन किया जाता है' आदि सामान्य स्वरूप इस प्रतिपत्ति को प्राप्त होता है। इस सामान्य प्रतीति के अनुसार वह अधिकारी व्यक्ति भी कृति के लिये प्रवृत्त होता है। इस सामान्य प्रतीति को ही मीमांसा मे भावना, विधि, नियोग आदि सज्ञाएँ हैं। उपर्युक्त दोनो उदाहरणो मे, हमें होनेवाली सामान्य प्रतीति का एक विशेष यह है कि भूतकालीन व्यक्तिगत बात सुनते ही, जिस क्रम से हमे यह सामान्य प्रतीति होती है उस क्रम का हमें ध्यान ही नही होता।

जैसे पौराणिक अथवा वैदिक वाक्यों से जो अधिकारी ज्ञाता है उसे केवल वाच्यार्थ से अधिक सामान्य प्रतीति होती है, वैसे ही काव्यगत शब्दों से भी,

अधिकारी पाठक को, काव्य के केवल वाच्यार्थ से अधिक अर्थप्रतीति होती है। हाँ, यह प्रतीति काव्य के प्रत्येक पाठक को नही होती। इस प्रतीति के लिये पाठक की भी योग्यता चाहिये। ऐसी योग्यता, विमलप्रतिभाशक्ति से युक्त सहृदय की ही हो सकती है। (अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशाली सहृदयः)। मान लीजिये कि इस प्रकार का कोई अधिकारी सहृदय, शाकुन्तल का छन्द—

ग्रीवाभगाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्ट शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढै· श्रमविवृतमुखभ्रशिभि· कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतर स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।

पढ रहा है। इस छन्द का वाच्यार्थ अवगत होते ही रसिक को साक्षात्कार रूप मानस प्रतीति होती है। देशकाल आदि सीमाओ से रहित होने के कारण यह प्रतीति सामान्यत्व से प्राप्त रहती है। इस प्रतीति में आविर्भूत मृगबालक वह विशिष्ट मृग बालक नही है जिसका दुष्यन्त पीछा कर रहे थे। वह कोई विशेष मृगबालक नहीं है। वह तो एक भयाकुल हरिण मात्र है। यह तो कोई भी हरिण हो सकता है। उसे डरानेवाला भी परमार्थत· कोई नही है। इस भीति-ग्रस्त अवस्था से भयमात्र प्रतीत होगा। यह प्रतीत होनेवाला भय भी देशकाल आदि से सीमित नही है। इतना ही नही, इस भयप्रतीति के सबध में स्वपरमध्यस्थ भाव न होने से स्वगत भय से होनेवाला दुःख, शत्रुगत भय से होनेवाला सुख, लौकिक भय के सबन्ध मे, हमारी 'यह हो अथवा न हो' आदि वृत्ति, इन बातो का इसमे लेश भी नही होता। इस प्रकार इस प्रतीति में किसी भी लौकिक वृत्यंतर से बाधा न होने के कारण, यह भय निर्विघ्न प्रतीति का विषय होता है। अतएव, रसिक इसे हृदय मे प्रवेश करता हुआ देखेगा, आँखों में छलकता हुआ देखेगा, शरीर पर रोमाचित हुआ देखेगा। इस रूप का, रसिक की निर्विघ्न प्रतीति का विषय बना हुआ, काव्यपठन का समकालिक मानस प्रतीतिगत भय ही भयानक रस है।

इस प्रकार की भयप्रतीति मे रसिक की आत्मा तिरस्कृत भी नही होती अथवा विशेष रूप में उल्लिखित भी नही होती। यह अनुभव जैसे एक रसिक को होता है वैसे ही अन्य किसी भी सहृदय पाठक को होता है। अतएव इस अवस्था मे होनेवाला साधारणीभाव भी सीमित नहीं रहता; इसकी व्याप्ति धूमाग्निसंबन्ध अथवा भयकम्पसबन्ध के समान सार्वत्रिक होती है।

काव्य मे मानससाक्षात्कार होता है, प्रत्युत नाट्य में इस साक्षात्कार का परिपोष नटादि के द्वारा होता है। काव्यगत प्रतीति को काव्यगत देशकालादि

ही सीमित करते हे। किन्तु नाट्य मे इन देशकालादि के साथ नटगत सीमा भी हो सकती है। उदाहरण के लिये, उत्तररामचरित पढते समय, हमारी प्रतीति को केवल रामत्व ही की सीमा हो सकती है। अतएव, इस प्रसग मे रामत्व का निरास होनेपर शोकवृत्ति का साधारण्य होता है। किन्तु 'उत्तररामचरित' के प्रयोग मे राम का शोक नट के द्वारा प्रतीत होता है, अतएव वहाँ 'नटत्व' तथा 'रामत्व' दोनों का परिहार होना आवश्यक होता है, और परिहार होता भी है। इस प्रकार नाट्य मे भी काव्य के समान साधारणीभाव का परिपोष होता है। अतएव, नाट्य मे सभी दर्शको की प्रतीति में एकघनता आ सकती है; लौकिक अवस्था में अनादि वासनाओं से रसिको का हृदय सस्कारित हुआ रहता है, इससे नाट्य मे उनका वासनासवाद हो सकता है। अतएव सामाजिको को प्राप्त होनेवाली यह एकघन रसप्रतीति ही रसपरिपोष का कारण होती है।

इस प्रकार काव्य अथवा नाट्य मे रसिको को होनेवाली यह निर्विघ्न तथा एकघन सवित्प्रतीति ही काव्यगत चमत्कार है। और इसीसे रसिक को प्रतीत होनेवाले कप पुलक आदि विकार (सात्त्विक भाव) भी चमत्कार ही है।

> अज्ज वि हरी चमक्कइ कहकह वि न मन्दरेण कलिआइ।
> चन्दकळाकन्दळसच्छहाइं लच्छीइ अगाइ॥

लक्ष्मी के, चन्द्रकिरणो के कन्दो के समान स्वच्छ तथा सुकुमार गात्रों का समुद्रमन्थन के समय निर्मथन नही हुआ इस विचार से भगवान् विष्णु को अभी भी चमत्कार होता है तथा उनका शरीर पुलकित होता है। इस अवस्था में प्रतीत होनेवाला अद्भुत भोगावेश ही इस चमत्कार का रूप है; फिर यह भोगावेश चाहे साक्षात्कार रूप हो, चाहे मानसप्रतीतिरूप हो, सकल्परूप हो अथवा स्मृतिरूप हो। किसी भी रूप मे इसका स्फुरण हुआ है, इसका स्वरूप निश्चय ही लोक विलक्षण होता है।

> रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तु।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्व
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

इस प्रसिद्ध छन्द में कालिदास ने इसी प्रकार अलौकिक स्मरण का निर्देश किया है। हम किसी रमणीय दृश्य को देखते है, अथवा सगीत के मधुर स्वर सुनते है, तब सब प्रकार से सुख की अवस्था मे होते हुए भी, हमारे हृदय मे घबडाहट पैदा हो जाती है। ऐसा क्यो होता है? कालिदास कहते है कि ऐसे समय में हमारे अन्य जन्म के वासनारूप मे स्थिर हुए भावबन्ध मे उनका ज्ञान न होते हुए

भी, हमारे स्मरण में प्रकाशित होते हैं। यह स्मरण वस्तुत अलौकिक है। यही है योगसूत्रो मे निर्दिष्ट स्मृति तथा सस्कार का एकरूपत्व (४।१०) कालिदास की तथा योगदर्शन की अभिप्रेत यह स्मृति, न्यायदर्शन में प्रसिद्ध लौकिक स्मृति नही है। न्यायदर्शन के अनुसार, बिना पूर्व अनुभव के स्मृति नही होती। इसके विपरीत प्रकृत स्मृति में लौकिक दृष्टि से पूर्व अनुभव ही नही है। अतएव यह स्मृति अलौकिक है। यह स्मृति साक्षात्कारमय है तथा प्रतिभान अथवा प्रतिभा ही इसका वास्तविक स्वरूप है। ऐसे प्रतिभानमय साक्षात्कार में होनेवाली इस रूप की निर्विघ्न प्रतीति ही काव्यगत सौदर्य का अथवा चमत्कार का स्वरूप है। कालिदास के इस छन्द में आस्थाबन्धरूप रति (पर्युत्सुकी भवति इस पद से रति अपेक्षित है तथा आस्थाबन्ध ही रति का स्वरूप है) ही प्रतिभानमय साक्षात्कार का विषय हुई है। अत एव इस छन्द के पठन के समकाल ही रसिक को भी आस्थाबन्ध की आस्वादरूप प्रतीति होती है। उसे तो इस बातका ध्यान ही नही रहता कि यह आस्था बन्ध दुष्यन्त का है या और किसीका। इस आस्थाबन्ध के अनुगत, देशकालव्यक्ति-विशिष्ट प्रतीति के बन्ध गलित हो जाने से यह आस्थाबन्ध रसमय होता है। आस्वाद्य अवस्था में साधारण्य होने से रति का स्वरूप लौकिक रहता ही नही; इसका अनुभव किया जाता है इस लिये इसे मिथ्या भी नही कहा जा सकता; इसके स्वरूप का भावरूप में कथन हो सकता है, इस लिये इसे अनिर्वाच्य कहना भी ठीक नही; ऐसा भी नही कहा जा सकता कि इसके आस्वाद की योग्यता पहले के लौकिक अनुभवो से प्राप्त होती है, इस लिये लौकिक के समान है; तथा यह तज्जातीय होने से इसे आरोपरूप भी नही कहा जा सकता। देशकालादि से यह नियन्त्रित नही है, इस दृष्टि से यदि इसे उपचयावस्था कहना हो तो कहिये; यह लौकिकानुगामी है इस दृष्टि से इसे अनुकार भी कहे, अथवा विज्ञानवादियो की दृष्टि से इसे भले ही विषयसामग्री कहा जाय; एक बात तो सर्वथा सत्य है कि निर्विघ्न रसनात्मक प्रतीति से ग्रहण होनेवाला भाव ही रस है (सर्वथा रसनात्मक-वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः)।

साराश, रस केवल स्थायी भाव नहीं है, वह स्थायी का उपचय नहीं है, वह अनुमित स्थायी नही है, अथवा साधारणीभूत स्थायी का स्वगत उपभोग भी नहीं है। **इस भाव का निर्विघ्न रसनात्मक प्रतीति का विषय होना ही रस का व्यवच्छेदक लक्षण है**। निर्विघ्न रसनात्मक प्रतीति को ही 'चर्व्यमाणता' की शास्त्रीय सज्ञा है। अतएव 'चर्व्यमाणता' ही रस का प्राण है। (चर्व्यमाणतैकप्राणः)।

रसास्वाद एक अनुभव अथवा भावप्रतीति है। प्रतीति होने से यह अन्य

प्रतीतियो के समान भले ही समझी जाय, रसनात्मकता ही इस प्रतीति की विशेषता है। अतएव यह लौकिक प्रत्यक्षानुमानादि प्रतीतियो से भिन्न है। **निर्विघ्नता इसकी अवश्योपाधि है**। अपनी अपनी पसद के अनुकूल काव्य से मन बहलाना रस नही कहलाता। रसानुभाव के लिये रसिक को चाहिये कि किसी विशिष्ट स्तर से काव्य का आस्वाद लें। किसी भी कारण से क्यो न हो, यदि यह सीमा छूटी तब रस का सभव ही नही रहता। इस सीमा के छटने के कारणो को अभिनवगुप्त 'रसविघ्न' कहते है। रसप्रतीति के बाधक अनेक विघ्न हो सकते है, और किसी भी विघ्न से रसभग तो होता ही है। इसी लिये कहा जाता है कि 'निर्विघ्नता रसप्रतीति की अवश्योपाधि है।'

अभिनवगुप्त ने रसविघ्नो का विस्तरश. वर्णन किया है। निर्विघ्नता से होनेवाली प्रतीति के लिये ही लौकिकव्यवहार मे भी चमत्कार, निर्वेश, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि पर्यायो का प्रयोग किया जाता है। इन पर्यायों का रसमीमासा में भी प्रयोग किया गया है। रसप्रतीति कविरसिकहृदयसवादरूप व्यापार है। काव्य अथवा नाटच इसका माध्यम है। निर्विघ्न रसनात्मक प्रतीति में बाधक, कविगत, काव्यगत, नटगत अथवा रसिकगत कोई भी अर्थ रसविघ्न है। अभिनवगुप्त ने सात रसविघ्नो का निर्देश किया है। वे है—(१) सभावनाविरह, (२) स्वपरगतदेशकालविशेषावेश, (३) निजसुखादिविवशीभाव, (४) प्रतीत्युपायवैकल्य, (५) स्फुटत्वाभाव, (६) अप्रधानता, तथा (७) सशययोग। इन विघ्नो का स्वरूप अब हम देखें।

१. संभावनाविरह— सभावनाविरह का अर्थ है कल्पना का अभाव। जो काव्यवस्तु अथवा नाटचवस्तु की कल्पना ही नही कर सकता, उसे भला रसास्वाद क्या होगा? कवि अपनी कृति के द्वारा-चाहे वह छोटी हो या बड़ी-एक ही वस्तु निर्माण करता है। यह वस्तु सवेद्य होती है। इस सवेद्य वस्तु को पाठक यदि ठीक तरह से समझ ही नही पाता है तब तो उसे इसकी प्रतीति ही नही हो सकती, फिर प्रतीतिविश्राति की तो बातही दूर। यह दोष कविगत तथा रसिकगत-दोनो प्रकारो से हो सकता है। कविगतदोष अशक्ति के कारण होता है। कवि को उचितानुचितविवेक न रहने से इस दोष का सभव होता है। आनन्दवर्धन ने इसका विवेचन तृतीय उद्योत मे किया है। किन्तु कभी कभी कवि की कृति अच्छी होनेपर भी, रसिक ही कल्पना की दरिद्रता के कारण उसका आकलन नही कर पाता। तब उसका हृदयसवाद ही नही होता। इस विघ्न का अपसरण हो इसी लिये कवि लोकसामान्य कथावस्तु पसंद करता है, क्योकि कथावस्तु यदि लोकसामान्य रही तो साधारण पाठक का भी हृदयसंवाद होने में सहाय्यता

होती है तथा अततः उसे भावप्रतीति होती है। किन्तु कवि जब अलोक-सामान्य वस्तु ग्रथित करना चाहता है तब वह लोकविदित पात्रो की योजना करता है । ऐतिहासिक तथा पौराणिक प्रसिद्ध व्यक्तियो के-जो कि अलोक-सामान्य चरित्र के लिये प्रसिद्ध होते है — द्वारा उदात्त भावो की अभिव्यक्ति करने से रसिक उसका आकलन सरलता से कर पाता है तथा उसे निर्विघ्न भावप्रतीति हो सकती है । इस दृष्टि से भरतकृत दशरूपविभाग अध्ययनयोग्य है ।

२. **स्वपरगतदेशकालविशेषावेश** — यह रसिकगत विघ्न है । अनेक पाठक तथा दर्शक काव्य तथा नाटच मे अपने ही व्यक्तिगत सुखदु:खो का आस्वाद करते है । ऐसे पाठको के विकारो को जबतक सुखकर प्रवर्तन प्राप्त होता है तबतक वे काव्य में निमग्न हो जाते है, किन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से अप्रिय अथवा दुखकर घटना वे देख या पढ नही सकते । हमें सुखकर प्रतीत होनेवाली घटना देरतक चलती रहे, शीघ्र समाप्त न हों, दु खकर घटना शीघ्र ही समाप्त हो जाय, आदि वृत्त्यतरो से उनकी रससंवित् मलिन हो गयी होती है । कोई सोचते है कि नाटचगत अथवा काव्यगत घटना हम ही को लक्ष्य कर के लिखी गई है । ऐसे पाठक तथा दर्शक रसास्वाद कर ही नही सकते, क्योकि रसास्वाद के लिये आवश्यक साधारणीभवन की गहराई, इनका व्यक्तित्व विगलित न होने से इनमे आती ही नही । इस विघ्न के साथ, अभिनवगुप्त ने 'गोपनेच्छु' रसिको का निर्देश किया है— जो उनकी मर्मज्ञता का परिचायक है। कोई पाठक छिप छिप कर पढते है । वे चाहते है कि व्यक्तिगत विकारो का उद्रेक करनेवाला साहित्य पढते हुए, कोई हमें देखे ना । इन पाठको का काव्यास्वाद की ओर उतना ध्यान नही रहता जितना कि वे 'ऐसे साहित्य को पढते हुए कोई हमें देखता तो नही' इस सोच में रहते है । नाटच में यह विघ्न न हो इसलिये भरतमुनि ने पूर्वरग का विधान किया है। पूर्वरग के प्रयोग से ऐसे दर्शक भी साधारणी भाव को प्राप्त कर सकते है एवम् उनकी अवस्था रसास्वाद के लिये योग्य हो सकती है ।

३. **निजसुखादि विवशीभाव** — कभी कभी दर्शक अपने व्यक्तिगत सुखदु.ख में ही निमग्न रहता है तथा इसी मनोदशा मे नाटच देखने के लिये अथवा काव्य सुनने के लिये आ पहुँचता है । पहले ही से व्यग्र होने के कारण उसकी काव्यार्थ में संविद्विश्रान्ति नही होती तथा उसे रसास्वाद का लाभ भी नही होता । काव्य पढते पढ़ते अथवा नाटक देखते देखते उसके मन मे बारबार पहले की सुखदु:खादि मनोवृत्तियाँ जाग्रत हो उठती है । इस विघ्न के उपशम के लिये नाटच में विविध गान, मण्डपवैचित्र्य, विदग्ध गणिकाओ का नृत्य आदि की योजना की जाती है । इन उपायो से अहृदय दर्शक में हृदयनैर्मल्य आता है और वह सहृदय बनता है ।

४. प्रतीत्युपायवैकल्य — विभावानुभाव ही रसप्रतीति के उपाय है। विभावानुभावो की यदि ठीक सगति न हो, वे याद विकल हो, अथवा उनका सर्वथा अभाव हो, तब रसास्वाद की उत्पत्ति ही नही हो सकती।

५. स्फुटत्वाभाव — विभावानुभावों की प्रतीति स्फुट रूप में होनी चाहिये। यदि यह अस्फुट रही तब रसिक की सविद्‌विश्रान्ति नही होती। विभावादि का यह स्फुटत्व प्रत्यक्षकल्प होना अवश्य है। भट्टतौत के 'भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः' इस कथन मे यही आशय है। वात्स्यायन भाष्य मे भी कहा है— । 'सर्वा चेय प्रतीति. प्रत्यक्षपरा'। प्रतीत्युपायो का वैकल्य तथा अस्फुटता इन दोनो विघ्नो का निरास हो इसी लिये भरत का कथन है कि अभिनय को लोकधर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्ति का आधार चाहिये। इस आधार से विभावादि की विकलता नष्ट हो जाती है तथा अभिनयद्वारा काव्यार्थ में प्रत्यक्षकल्पता आती है इस लिये वह स्फुट रूप में प्रतीत होता है। यह दोनो दोष कविगत अथवा नटगत होते है।

६ अप्रधानता — काव्यगत प्रधान वस्तु छोड़कर अप्रधान वस्तु पर यदि बल दिया गया तो रसप्रतीति मे विघ्न होता है। यह तो ठीक है कि, रसिक की वृत्ति गौण वस्तु पर ही एकाग्र रहेगी किन्तु गौणवस्तु की निरपेक्ष सत्ता नही होती तथा उसका पर्यवसान अन्ततः प्रधानवस्तु में ही होता है इसलिये गौणवस्तु की प्रतीति की निरपेक्ष स्थिरता नही रहेगी। अतएव काव्यनाट्यगत स्थायी ही चर्वणा का विषय बनना चाहिये। ऐसा न हुआ तो काव्यनाट्यगत प्रधानवस्तु एक ओर रह जायेगी और गौणवस्तु ही का प्रधान रूप में आविर्भाव होगा। यह बहुत बड़ा दोष है। यह दोष कथावस्तु की दृष्टि से कविगत हो सकता है, तथा अभिनय की दृष्टि से नटगत हो सकता है। इस दोष के निरास के लिये कवि को चाहिये कि स्थायी का ही ध्यान रखें, तथा उचितानुचित विवेक से रचना करे और नट को चाहिये कि अभिनय मे तारतम्य का ध्यान रखें। इसीलिये तो है कि भरत ने स्थायिनिरूपण किया, फिर रसो का सामान्य लक्षण बताने के बाद भी 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इस प्रतिज्ञा से सामान्यशेष के रूप में रसविशेषों के लक्षणो का विधान किया।

७. संशययोग — विभावानुभावादि के द्वारा स्थायी अभिव्यक्त होता है। किन्तु यह तो निश्चय नही है कि अमुक स्थायी के अमुक ही विभाव है, अमुक ही अनुभाव है अथवा अमुक ही सचारी भाव है। व्याघ्र जैसे भय का विभाव होगा वैसे ही क्रोध का भी विभाव हो सकता है। बाष्प जैसे शोक के अनुभाव होगे, हर्ष के भी अनुभाव होगे। तथा चिता और दैन्य जिस प्रकार शोक के सचारी भाव है, वैसे ही वे विप्रलभ के भी सचारी भाव हो सकते है। उन्हे पृथक् रूप में

देखा तो ये किस स्थायी के द्योतक है इस विषय में सदेह उत्पन्न होगा एवं रसास्वाद में विघ्न होगा। किन्तु ये तीनो यदि उचित रूप मे एकत्रित किये गये तो निश्चय ही स्थायी का प्रत्यय होगा और वह रसास्वाद का विषय हो सकेगा। उदाहरण के लिये, बधुनाश रूप विभाव, अश्रुपात रूप अनुभाव, एव चिन्ता तथा दैन्य रूप व्यभिचारीभाव यदि एकत्र हुए है तब इनकी सामग्री से निश्चय ही शोक ही की प्रतीति होगी। अतएव भरत ने विभावानुभावव्यभिचारी का **संयोग** बताया है।

रसप्रतीति .— उपर्युक्त सात विघ्नो का निरास होने पर ही अर्थात् इनके अभाव में ही रसास्वाद हो सकता है। अन्यथा उसमे खड हो जाता है। काव्यनाट्य में विभावादि उचित रूप में आये हो तभी वे रसिक के हृदय में विघ्नापसारण-पूर्वक रसनाव्यापार की निष्पत्ति कर सकते है और तभी रसिक को निर्विघ्न रस-प्रतीति होती है। यह प्रतीति कैसे होती है, अभिनवगुप्त के मूल वचन ही देखिये—

"तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचरात्मकलिगदर्शनजस्थाय्यात्मपरचित्त-वृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवात् अधुना तैरेव उद्यानकटाक्षधृत्यादिभि लौकिकी कारण-त्वादिभुवमतिक्रान्तै: विभावन– अनुभावन–समुपरजकत्वमात्रप्राणै', अतएव अलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भि प्राच्यकारणादिरूपसस्कारोपजीवनाख्यापनाय विभावादिनानानामधेयव्यपदेश्यै' गुणप्रधानतात्पर्येण सामाजिकधियि सम्यक् योग (सयोग) संबन्धम् ऐकाग्र्यं वा आसादितवद्भि., अलौकिकनिर्विघ्नसवेदनात्मक-चर्वणागोचरता नीतोऽर्थ:, चर्व्यमाणतैकसार. न तु सिद्धस्वभाव:, तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी, स्थायिविलक्षण एव रस ।"

लोकव्यवहार में व्यक्ति कारण, कार्य तथा अन्य सहचर अर्थ देखता है। तब इन चिह्नो (लिंगो) पर से वह अपने तथा दूसरों के भी स्थायी चित्तवृत्तियो का अनुमान करता है। इस प्रकार नित्य अनुमान के अभ्यास के कारण उसे पटुत्व प्राप्त हो जाता है। यह है लोकव्यवहार।

काव्य पढ़ते हुए अथवा नाट्य देखते हुए, वे ही प्रमदा-उद्यान आदि कारण, वे ही कटाक्षादि कार्य, तथा वे ही धैर्यादि अर्थ रसिक प्रत्यक्षवत् देखता है। काव्य-पठन के समय वे ही लौकिक अर्थ इस प्रकार हमारे समक्ष उपस्थित होते तो है किन्तु अब इनका कार्य लौकिक कारणादि से भिन्न रहता है। अतएव इनकी लौकिक कारणादित्व की भूमिका भी नहीं रहती। काव्य मे इनका कार्य क्रमश: विभावन, अनुभावन तथा समुपरजन ही है अतएव इन कार्यो का बोध करा देनेवाले क्रमश: विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव की अलौकिक किन्तु अन्वर्थक सज्ञाओं से

इनका निर्देश किया जाता है। यह तो ठीक है कि लौकिक व्यवहार में व्यक्ति को लौकिक कारणत्वादि की प्रतीति होती है और इस प्रतीति के जो सस्कार उसके मन में स्थिर हुए रहते है वे सस्कार ही वस्तुत. विभावादि का उपजीवन अर्थात् आश्रय होते है। किन्तु लौकिक जीवन में जब ये सस्कार उद्बुद्ध होते है तब इनका होनेवाला कार्य तथा काव्यपठन के समय इनके उद्बोध से होनेवाला कार्य–दोनो में भेद है। यह इनका भेदक धर्म जो कि काव्यपठन के समय अनुभव किया जाता है। हमे हृदयगम हो (आख्यापन) इसी लिये इन्हे काव्यमीमासा मे विभावादि, पृथक् अलौकिक सज्ञाओ से निर्दिष्ट किया जाता है; लौकिक कारणादि सज्ञाओ से कभी इनका निर्देश नही किया जाता (इसका विशेष विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा)।

काव्य पढ़ते हुए अथवा नाटच देखते हुए, इन अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का, गुणप्रधान तारतम्य से, औचित्यपूर्ण योग (सम्यक् योग = सयोग) रसिक की बुद्धि में सहसा प्रकाशित होता है; उनका परस्पर औचित्यपूर्ण सबन्ध उसकी अनुमानपटुता के कारण उसे सहसा (उनके क्रम का कोई ध्यान न रहते हुए ही) प्रतीत होता है; इनकी रसिक की प्रतीति मे एकाग्रता होती है। ये अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव-जो कि रसिक की प्रतीति में एकाग्र हो गये हैं–जिस एक अलौकिक अर्थ को रसिक की अलौकिक तथा निर्विघ्न सवेदना का विषय बनाते है वह अर्थ है रस। यह अर्थ जो कि रसिक की निर्विघ्न चर्वणा का विषय बनता है–चर्वणारूप ही रहता है। चर्व्यमाणता अर्थात् आस्वाद्यता ही इसका सारभूत धर्म होता है। रसिक को प्रतीत होनेवाला यह काव्यार्थ पूर्वसिद्ध नही होता यह तात्कालिक ही होता है तथा चर्वण काल से अधिक कालतक रहता भी नहीं। रसिकगत चर्वणाव्यापार के साथ ही यह उपस्थित होता है, चर्वणाकाल तक ही रहता है तथा चर्वणा के साथ ही समाप्त हो जाता है। रस इस प्रकार चर्वणारूप है, अतएव स्थायी से वह विलक्षण है अर्थात् भिन्न रूप का है जैसा कि अन्य विद्वान् इसे स्थायी मानते हैं, यह स्थायी नही है।

श्रीशकुक आदि का कथन है कि विभावादि पर से अनुमित स्थायी ही रसना व्यापार का विषय होता है, इसलिये यह अनुमित स्थायी ही रस है। किन्तु यह कथन ठीक नही है। स्थायी को ही यदि रसत्व प्राप्त होता हो तब लौकिक व्यवहार में भी स्थायी को रसत्व क्यो न प्राप्त हो? शंकुक आदि के मत में यदि (नटगत) स्थायी को–जिसकी परमार्थतः कोई सत्ता नही है–रसत्व प्राप्त हो सकता है, तब लौकिक स्थायी–जिसकी वस्तुरूप मे सत्ता है–रसनीय होने में क्या आपत्ति है? इसलिये विभावादि से स्थायी की प्रतीति होना अनुमान मात्र है, रस नही है।

अतएव भरत ने भी रससूत्र में स्थायी का निर्देश नही किया, किबहुना यदि उन्होने इसका निर्देश किया होता तो वह शल्यरूपही हो जाता। " स्थायी रसीभूत " यह कथन तो उपचार मात्र है। और इस उपचार के लिये निमित्त यही है कि उस स्थायी के कारण तथा कार्य के रूप मे जो अर्थ लौकिक व्यवहार में हमे ज्ञात रहते है, तत्सवादी अर्थो का—वे काव्य में विभावन-अनुभावनद्वारा चर्वणा के उपयोगी होते है इसलिये विभावादि रूप में आश्रय किया जाता है।

अभिनवगुप्त ने इसीका विवेचन ' ध्वन्यालोकलोचन ' मे भी किया है। वह संक्षेप मे इस प्रकार है—काव्यपठन के समय परगत स्थायी से सबन्धित होने के नाते वर्णित विभावादि की साधारण्य से प्रतीति होते ही, इन विभावादि के लिये उचित, रसिक के हृदयगत वासनारूप सस्कारो का उद्‌बोध हो कर आनन्दमय चर्वणा का उदय होता है। रसचर्वणा के लिये रसिक का हृदयसंवाद होना आवश्यक है। परकीय चित्तवृत्ति का ज्ञान न हो तो यह हृदयसवाद नही हो सकता; तथा परकीय चित्तवृत्ति के कारण और कार्य ज्ञात न हो तो परकीय चित्तवृत्ति का ज्ञान नही हो सकता। इसी कारण से केवल उपचार के " स्थायी रसीभूत " ऐसा कहा जाता है। अतः, स्मृति, अनुभव अथवा लौकिक सवेदना से अलौकिक रसास्वाद सर्वथा भिन्न है।

सहृदय जिसके कि हृदय पर लौकिक अनुमान के संस्कार हुए है—काव्य-पठन में जब निमग्न हो जाता है तब काव्यगत प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष आदि अर्थ उसे प्रतीत होते है। किन्तु तब, पाठक की भूमिका लौकिक अनुमाता के समान तटस्थता की नही रहती। सहृदय की भूमिका पर आरूढ हो कर वह उनका ग्रहण करता है। हृदयसवाद की शक्ति ही सहृदयत्व है। हृदयसवाद के बलपर उसका तन्मयीभवन होता है और तदुचित चर्वणाव्यापारद्वारा वह उनका तत्समकाल तथा अखडरूप मे ग्रहण करता है। अनुमान, स्मृति आदि क्रम से वह जाता ही नही। तन्मयीभवन के लिये उचित विभावादि की चर्वणा ही पूर्ण रूप में अनुभाव होने-वाले रसास्वाद का अकुर है। यह तो कहा ही नही जा सकता कि रसास्वाद मे परिणत होनेवाली यह चर्वणा पूर्वसिद्ध होती है। इसकी पूर्वसिद्धि का कोई प्रमाण नही है। पूर्वसिद्ध न होने से इसकी स्मृति भी असभव है; क्योकि पूर्वसिद्ध वस्तु की ही स्मृति हो सकती है। रसचर्वणा लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणो का भी विषय नही हो सकती। यह चर्वणा केवल अलौकिक विभावादि के सयोग के बलपर ही निष्पन्न हो सकती है, अन्य किसीका यह विषय नही बनती। अतएव यह अलौकिक है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान आदि प्रमाणों से भी व्यवहार में रति आदि

का बोध होता है। किन्तु रत्यादि की इस लौकिक प्रतीति से यह रत्यादि चर्वणारूप प्रतीति सर्वथा भिन्न है। योगज प्रत्यक्ष से भी इस चर्वणाप्रतीति का रूप भिन्न है। मित योगी को परकीय चित्तवृत्ति का केवल तटस्थता से ज्ञान होता है, तथा सब प्रकार की विषयवासनाओ से विनिर्मुक्त पक्व योगी का आनन्दानुभव स्वात्मैकगत मात्र होता है। अतएव रसचर्वणा इनसे भी भिन्न होती है। लौकिक प्रमाणो से होनेवाली रत्यादि की प्रतीति, ज्ञातृगत आसक्ति, तिरस्कार आदि भावनाओ से मलिन रहती है; अपक्व योगी के प्रत्यक्ष मे तटस्थता होने के कारण उसकी प्रतीति मे स्फुटत्वाभाव रहता है, तथा पक्व योगी के एकघनानुभव में विषयावेश के कारण प्राप्त विवशता रहती है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनो प्रकार की प्रतीति में रसिकगत किसी न किसी रसविघ्न की उपस्थिति होने से, रसास्वाद का सौदर्य नही रह सकता। इसके विपरीत, चर्वणाप्रतीति मे पक्वयोगी की प्रतीति के समान स्वात्मैकगतता न होने से विषयावेशविवशता नही रहती; रसिक का आत्मानुप्रवेश होता है इसलिये मितयोगी के समान तटस्थता नही रहती, अतएव ताटस्थ्य से प्राप्त अस्फुटता भी नही रहती; और चूंकि रसिक अपने ही वासनासस्कारो का—जो कि विभावादि के साधारण्य से व्यक्त होने है तथा इसके लिये उचित होते है—आस्वाद करता है, अर्जनादि लौकिक विघ्नो की भी चर्वणाप्रतीति मे सभावना नही रहती। इस प्रकार चर्वणाप्रतीति निर्विघ्न होनेसे इसमें सौदर्य अर्थात् चमत्कार अनुस्यूत रहता है।

विभावादि रस के उत्पत्तिहेतु (कारक हेतु) नही है। इन्हे यदि कारकहेतु माना गया, तो कारणरूप विभावो की उपस्थिति न होने पर भी कार्यरूप रस का अवस्थान होना ही चाहिये। किन्तु ऐसा नही होता। विभावादि जब तक दृष्टि-गत होते है तबतक ही रसचर्वणा रहती है और इनके साथ ही यह नष्ट हो जाती है। विभावादि रस के ज्ञापक हेतु भी नही है। इन्हे यदि ज्ञापक हेतु माना गया, तो इनका लौकिक प्रमाणो में अन्तर्भाव होगा, तथा रस भी प्रमेयरूप समझा जायगा एवम् उसे सिद्धरूप मानना पड़ेगा। किन्तु सिद्धरूप प्रमेयभूत कोई रस ही नही है। फिर ये विभावादि क्या है? इस पर उत्तर यही है कि ये बिभावादि ही हैं। रस विभावादि का कार्य नही है अथवा विभावादि का प्रमेय भी नही है। वह तो एक चर्वणागोचर अर्थ है जो विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। वह एक अलौकिक व्यवहार है जो चर्वणा के लिये उपयोगी होता है। इस पर यदि कोई कहता है कि यह व्यवहार – जो कि कारक तथा ज्ञापक से पृथक् है— लौकिक जीवन में तो कही नही दिखायी देता; तब हमें यह स्वीकार है। हमारा कहना है कि रसप्रतीति एक अलौकिक व्यवहार है, और आपके कथन से

यही सिद्ध होता है इस लिये आपके इस कथन को हम भूषण ही समझते है, न कि दूषण। अभिनवगुप्त ने इस प्रसग मे **पानकरस** का सर्वप्रसिद्ध दृष्टान्त दिया है।

रस यदि किसी प्रमाण का विषय नही होता तब क्या वह अप्रमेय है? यदि कोई ऐसी आपत्ति उठाता है तव अभिनवगुप्त इसका समाधान करते है कि यह तो वस्तुस्थिति ही है। रम्यता सौन्दर्य अथवा आनन्द ही रस का प्राण है; लौकिक प्रमाणो का विषय होना यह तो इसका धर्म नही है।

फिर मुनि ने रससूत्र मे 'निष्पत्ति' शब्द का प्रयोग क्यो कर किया है? अभिवनगुप्त का इस पर कथन है कि **यह निष्पत्ति रस की नहीं है अपितु रस-विषयक रसना की निष्पत्ति है**। विभावानुभावव्यभिचारियो के सयोग से रसिक के हृदय में रसना की अर्थात् चर्वणा की निष्पत्ति होती है। यह चर्वणा ही रस का प्राण है। विभावादि के सयोग से चर्वणा निष्पन्न होती है इस बात पर ध्यान देते हुए, यदि आप उपचार से कहना चाहते है कि रस की भी— जो कि चर्वणा का विषय बनता है तथा चर्वणा ही के अधीन रहता है— निष्पत्ति होती है— तब आप ऐसा कह सकते है। रसना अर्थात् चर्वणा प्रमाणव्यापार नही है अथवा कारक व्यापार भी नही है, किन्तु इसीसे इसे अप्रमाण समझना भी ठीक नही है, क्योकि यह स्वसवेदनसिद्ध अर्थात् स्वानुभवसिद्ध है। यह रसना अर्थात् चर्वणा बोधरूप अर्थात् प्रतीतिरूप ही है, किन्तु यह लौकिक प्रतीति नही है, लौकिक प्रतीति से यह सर्वथा भिन्न है तथा इस भिन्नता का कारण यह है कि इस रसनारूप बोध अर्थात् प्रतीति के जो उपाय है– विभावादि–वे ही मूलत. लोकविलक्षण अथवा अलौकिक होते है। अतएव मुनि के रससूत्र की स्वरसता है—"अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावो के सम्यक् योग से रसना अर्थात् चर्वणारूप प्रतीति निष्पन्न होती है, इस प्रकार की अर्थात् विभावादिसयोगनिष्पन्न रसना को गोचर होनेवाला लोकोत्तर अर्थात् अलौकिक अर्थ ही रस है।"

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का सक्षेप इस प्रकार है— हम नाटक देखते है तब नट के उचित वेषादि के कारण हमारी नट के सबन्ध मे नटत्वबुद्धि आच्छादित होती है। यद्यपि वह राम, सीता आदि नाम लेकर रगमच पर खडा है तथापि हमारी उसके संबन्ध में रामत्वबुद्धि भी स्थिर नही हो पाती। रामादि के सबन्ध हमारे जो पूर्व काल के गहरे संस्कार रूढमूल हुए रहते है वे सामने खड़े नट को राम समझने के लिये हमारे मन की प्रवृत्ति नही होने देते। अतएव पूर्व काल के राम तथा वर्तमान नट – दोनो से सबद्ध देशकाल का तत्क्षण निरास हो जाता है। रोमांचादि का आविर्भाव रत्यादि की प्रतीति करा देता है यह लौकिक व्यवहार का अनुभव तो हमारे नित्य परिचय का रहता ही है। इस लिये नाटक में जब हम

रोमांचादि का ग्राविर्भाव देखते है तब उससे हमें नाटक में भी तत्काल रत्यादि का बोध होता है। किन्तु इस बोध का एक विशेष यह है कि यहाँ की रत्यादि के अलबन ही देशकालव्यक्ति ग्रादि से सीमित न होने के कारण ये प्रतीत होनेवाले रत्यादि भी देशकालव्यक्ति ग्रादि से सीमित नहीं रहते। वे साधारणीभूत अवस्था मे ही प्रतीत होते है। हमारी ग्रात्मा पर भी रत्यादि वासनाग्रो के सस्कार पहले ही से हुए रहते हैं। इस वासनावत्त्व के बलपर हमारी ग्रात्मा का भी उन साधारणीभूत रत्यादि मे अनुप्रवेश होता है। इस अनुप्रवेश ही के कारण, हमे तत्काल होनेवाली रति की प्रतीति तटस्थता से नही होती। उस समय हमारी यह भावना नही रहती कि हमें प्रतीत होनेवाली रति व्यक्तिगत विशेष कारणों का फल है, अतएव ममत्वपूर्वक होनेवाली अर्जनादि की कल्पना (अर्थात् ये कारण रहने चाहिये अथवा प्राप्त होने चाहिये ग्रादि हमारी उनके विषय मे ग्रासक्ति) उस समय नही रहती, अथवा रत्यादि के ये उपाय दूसरो के अधीन है इस कल्पना से होनेवाला दु ख, द्वेष ग्रादि का उदय भी हमारे हृदय में नही होता। इस प्रकार काव्यगत सभी अर्थों के संबन्ध मे तथा हमारी प्रतीति के संबन्ध में भी, हमारें हृदय मे जो स्वत्व–परत्व–मध्यस्थत्व ग्रादि की सीमाएँ रहती है वे नष्ट हो जाती हैं एव हमारे लौकिक परिमित प्रमातृत्व अर्थात् व्यक्तिगत सीमित ज्ञातृत्व का परिहार हो कर तत्क्षण हमे अपरिमित प्रमातृत्व प्राप्त होता है तथा हमारी प्रतीति को भी साधारणीभूत रूप प्राप्त होता है। इस प्रकार हमारा सीमित व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है एवं हमारी प्रतीति भी व्यापक बन जाती है। हमारी इस साधारणीभूत अर्थात् व्यापक, सतानवाही अर्थात् अखड एवं एकघन रसनात्मक संविद् को गोचर होनेवाली साधारणीभूत रति ही शृगार है; इस प्रकार की साधारणीभूत संतानवाही एकघन सविद् को गोचर होनेवाला साधारणीभूत उत्साह अथवा शोक ही वीर अथवा करुण है।

रसिकगत प्रतीति में अथवा इस प्रतीति को गोचर होनेवाली रति ग्रादि में जब तक साधारणीभाव नही ग्राता तबतक रसास्वाद सभव ही नही होता। ग्रौर विभावादि ही एकमात्र उपाय है जिससे कि इन दोनों मे यह साधारणीभाव ग्रा सकता है। विभावादि ही सर्व प्रथम साधारण्य से प्रतीत होते है; तब रत्यादि भी साधारण्य से ही प्रतीत होते हैं। उपाय ही साधारणीभूत होने से पाठक की भी व्यक्तिगत सीमाएँ विगलित हो जाती है तथा उसकी प्रतीति में भी व्यापकता, अपरिमितता तथा साधारण्य ग्रा जाता है। इस अवस्था में ही संतानवाही रसनाव्यापार अर्थात् चर्वणात्मक संविद् निष्पन्न होती है एवम् यह रसनात्मक सविद् ही ग्रास्वादवैचित्र्य के कारण शृगारादि रसरूप मे अनुभव की जाती है।

यह है अभिनवगुप्त की रसविषयक उपपत्ति। प्राचीन साहित्य मीमासको का निर्णय है कि रससूत्र के आधार पर जिन चार आचार्यो ने रस का विवेचन किया है उनमे अभिनवगुप्त का ही विवेचन भरत के अभिप्राय के अनुकूल है। 'काव्य-प्रकाश' के प्रसिद्ध टीकाकार माणिक्यचन्द्र 'सकेत' नामक टीका मे लिखते हैं—

न वेत्ति यस्य गाभीर्य गिरितुङ्गोऽपि लोल्लट ।
तत् तस्य रसपाथोधे. कथं जानातु शङ्कुकः ॥
भोगे रत्यादिभावाना भोग स्वस्योचित ब्रुवन् ।
सर्वथा रससर्वस्वमभाङ्क्षीत् भट्टनायक ॥
स्वादयन्तु रसं सर्वे यथाकाम कथचन ।
सर्वस्व तु रसस्यात्र गुप्तपादा हि जानते ॥

इसी उपपत्ति को मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, प्रभाकर, मधुसूदन, जगन्नाथ आदि उत्तरवर्ती ख्यातिप्राप्त साहित्यमीमासकों ने माना है तथा इसका अपने न्थो मे स्वीकार किया है। सस्कृत ग्रन्थो के आधार पर रसमीमासा करनेवाले आधुनिक अभ्यासक भी इसी उपपत्ति को स्वीकार्य समझते है। किन्तु अभिनवगुप्त की विवेचन की शैली से विशेष परिचय न रहने के कारण, आधुनिक अभ्यासक की धारणा होती है कि इसीसे सारी शकाग्रथियाँ खुली नही होती। जब तक इन शकाओ का निरास नही होता तब तक रस तथा ध्वनि में अन्योन्य सबन्ध आकलन न होगा, एव ध्वनि के विरोध मे स्थित वाद भी ध्यान मे नही आयेंगे। अत एव अगले अध्याय में हम रसविषयक कुछ प्रश्नो का विचार करेंगे।

● ● ●

अध्याय सोलहवाँ
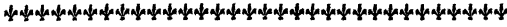
रसविषयक कुछ प्रश्न

रसप्रक्रिया के सबध मे भिन्न भिन्न मत हमने गत अध्याय मे देखे है। उनका समुच्चय से विचार करते हुए उनके विकास के क्रम का अध्ययन करने से पूर्व रस के सबन्ध मे और कई बातो का विचार करना आवश्यक है।

लौकिक तथा अलौकिक

लोकव्यवहार मे जिन बातों का हम अनुभव करते है उन्हीका काव्य में वर्णन रहता है। किन्तु दोनो मे बहुत बड़ा भेद है। लोकव्यवहारगत अर्थों का स्वरूप लौकिक रहता है। किन्तु उन्ही अर्थो का जब काव्य मे वर्णन किया जाता है तब उनका स्वरूप अलौकिक होता है। अर्थ तो समान ही है, किन्तु एक विश्व मे वे लौकिक है तथा अन्य विश्व मे अलौकिक बन जाते है इस कथन का तात्पर्य क्या है? इस बात को समझने के लिए हमें लौकिक तथा अलौकिक मे क्या भेद है यह देखना चाहिये।

लौकिक का अर्थ है लोकप्रसिद्ध अर्थात् लोकविदित। लोकव्यवहार का स्वरूप तथा उसकी विशेषताएँ हमने अपने अनुभव के आधार पर निर्धारित की है। जब हम देखते है कि जिन बातो को हम अनुभव करते है वे इन विशेषो से युक्त है तब हम उन्हे लौकिक कहते है। लोकव्यवहार के मुख्य विशेष ये है—

(१) हमारा सम्पूर्ण जीवन एक व्यापार (activity) है। इस व्यापार के दो प्रकार है— प्रवृत्ति तथा निवृत्ति। इस प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यापार मे व्यक्ति का समूचा जीवन प्रकट होता है। लौकिक जीवन की प्रवृत्तिनिवृत्तियाँ नित्य व्यक्तिसबद्ध रहती है। शास्त्रकारो का कथन है कि " व्यवहारगत 'अर्थक्रियाकारिता' व्यक्ति-

सबद्ध ही होती है। " व्यवहारारगत ये व्यक्तिसबन्ध तीन प्रकार के पाये जाते है। व्यावहारिक अर्थ हमसे सबद्ध हो सकते है अथवा अन्य से सबद्ध हो सकते है। 'अन्य' में शत्रु, मित्र तथा तटस्थ का समावेश होगा। इन भिन्न भिन्न व्यक्तियो के सबन्ध के अनुसार, उस अर्थ के सवन्ध मे हमारी भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ रहेगी। हमसे सबद्ध अर्थो के विषय मे हमारा ममत्व रहेगा; मित्रो से ममत्व होने के कारण तत्सबद्ध अर्थो के विषय में भी ममत्व ही रहेगा; शत्रुसंबद्ध अर्थो के विषय मे हमारे द्वेषादि रहेगे, तथा तटस्थ सबद्ध अर्थो के विषय मे हम उदासीन रहेगे। साराश, व्यवहारगत सभी अर्थ मत्सबद्ध, शत्रुसबद्ध अथवा तटस्थसबद्ध होते है तथा उनके अनुसार उनके विषय मे हमारी हर्षद्वेषात्मक वृत्ति उदित होती है। इस प्रकार, लौकिक व्यवहार का पहला विशेष है अर्थो की व्यक्तिसबद्धता एवम् उनके अनुकूल वृत्त्युदय।

काव्य में भी व्यक्ति के प्रवृत्तिनिवृत्तिमय व्यापार ही का वर्णन रहता है। काव्य पढते समय हमें वह प्रतीत होता है। सभव है कि हमारे व्यवहार के अनुकूल इस काव्यगत व्यवहार को भी हम व्यक्तिसबद्ध समझे। किन्तु इस प्रकार की कल्पना रसास्वाद में बाधक होती है। काव्य में वर्णित व्यवहार प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप ही रहता है, किन्तु इसका विशेष है कि यह व्यक्तिसबद्ध नही रहता। व्यक्तिसबद्धता लौकिक व्यवहार का स्वरूप है, और व्यक्तिनिरपेक्षता काव्य मे वर्णित व्यवहार का स्वरूप है। अतएव काव्यवर्णित व्यवहार लौकिकभिन्न अर्थात् अलौकिक है।

किन्तु यहाँ एक आशका है। लौकिकगत सभी सबद्ध स्व-पर-तटस्थ रूप तीन प्रकारो के अन्तर्गत है। काव्यगत अर्थो की ओर इनमें से किसी भी सबन्ध की दृष्टि से न देखना हो अर्थात् यदि हम कल्पना करते है कि ये अर्थ किसीके नही है, तब इन पर अनस्तित्व की आपत्ति आयेगी। 'असबन्धिनोऽसत्त्वम्' एक नियम है। इस नियम के अनुसार काव्यगत अर्थ असत् निर्धारित हुए, तो आकाशपुष्प की जैसे सुगध नही हो सकती, वैसे ही असत् अर्थों का आस्वाद भी असभव होगा। फिर रसास्वाद कहाँ? इस पर साहित्यशास्त्र का कथन है कि काव्यगत अर्थों को व्यक्तिसबद्ध दृष्टि से न देखते हुए भी इनकी सत्ता सामान्यत्व से प्रतीत हो सकती है। काव्यगत अर्थो की सामान्य रूप में प्रतीति होना रसास्वाद के लिए नितान्त आवश्यक है। मम्मट का भी इसीसे अभिप्राय है जब वे कहते है —"ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सबन्ध विशेषस्वीकार-परिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतेः —" ये मेरे ही है अथवा मेरे नही है, ये शत्रु ही के है अथवा शत्रु के नही है, ये तटस्थ ही के है अथवा तटस्थ के नही है, इस प्रकार काव्यगत अर्थो मे सबन्ध विशेष के स्वीकार अथवा परिहार की कल्पना भी नही रहती। अतएव इनकी प्रतीति भी साधारण्य से होती है।

काव्य पढ़ते समय अथवा नाट्य देखते समय तद्गत अर्थों के दर्शन से पाठक के अथवा दर्शक के वासनारूप सस्कार उद्बुद्ध होते है । ये सस्कार उसके हृदय में पहले ही से स्थिर हुए रहते है । उसके लौकिक जीवन मे ही ये सस्कार स्थिर हुए रहते है, इस लिए लौकिक दृष्टि से ये सस्कार 'स्वगत' तथा 'स्वसबद्ध' भी होते है। काव्यपठन से जब वे उद्बुद्ध होते है तब इस स्वसबद्ध अवस्था में ही उनके उद्बुद्ध होने की सभावना रहती है । और रसास्वाद के समय अपेक्षित यह रहता है कि वे उद्बुद्ध तो हो किन्तु स्वसबद्ध न रहे । यह अवस्था कैसे सभव है ? व्यवहार में तो इन सबन्धो की स्वगतता एक क्षण के लिये भी विगलित नही होती। साहित्यशास्त्र का इस पर कथन है जिन उपायो से (विभावादि से) ये सस्कार उद्बुद्ध होते है उन उपायो के नियतसबन्ध विगलित हो जाते है, तब इन सस्कारो का भी नियतसबद्धत्व विगलित हो जाता है । पाठक के वासनात्मक सस्कारो का उद्बोधन काव्यगत अर्थो से होता है । पाठक को जबतक ये अर्थ सामान्यरूप मे प्रतीत होते है अर्थात् उद्बोधन के इन उपायों की प्रतीति पाठक को जब तक सामान्य रूप मे होती रहती है तब तक इन उद्बुद्ध सस्कारों का व्यक्तिसंबद्धत्व भी विगलित हुआ रहता है ।

उद्बुद्ध संस्कार का विगलित होना ही पाठक की व्यक्तिगत सीमा का विगलित होना है । इस व्यक्तिगत सीमा के विगलित होने का अर्थ है उसे स्वत्व की विस्मृति होना । स्वत्व की विस्मृति होने का अर्थ है स्वत्व का विस्तार होना । मम्मट का कथन है कि रसास्वाद के समय पाठक का 'परिमित प्रमातृत्व' अर्थात् व्यक्तिसबद्ध ज्ञातृत्व विगलित होता है एवम् उसमें 'अपरिमितभाव' आ जाता है । उद्बुद्ध होनेवाला सस्कार मूलत. 'नियतप्रमातृगत' होता है, किन्तु तब भी विभावादि के साधारणत्व के कारण उस प्रमाता का परिमितत्व नष्ट होता है, तथा उसमें अपरिमित भाव का उन्मेष होता है (नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपाय-बलात् विगलितपरिमितभावोन्मिषित ... .अपरिमितभावेन प्रमात्रा) । इस प्रकार रसास्वाद के समय रसिक का उद्बुद्ध सस्कार भी साधारणीभूत होता है एवम् उसका सीमित व्यक्तिभाव भी विगलित होता है। इस अवस्था का अनुभव लौकिक व्यवहार में नही किया जाता । साराश, लौकिक अर्थों का ही काव्य में वर्णन रहने पर भी, काव्य में उनका लौकिक स्वरूप नही रहता, उन अर्थो के द्वारा उद्बुद्ध होने वाले सस्कारो का भी लौकिक स्वरूप नही रहता, तथा रसिक का सीमित व्यक्तिभाव भी नही रहता। काव्यगत अनुभव का यह स्वरूप लौकिक अनुभव से इस प्रकार भिन्न है, अतएव वह अलौकिक है ।

(२) काव्यगत उपायों का स्वरूप भी लौकिक उपायों से भिन्न है। लौकिक

उपायो के सबन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि उनकी सहायता से कार्य सिद्ध होने पर कर्ता को उनकी कोई आवश्यकता नही रहती, अतएव वह उनका त्याग करता है। लौकिक उपायो के सबन्ध मे कहा जाता है —

उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते।
उपायाना हि नियमो नावश्यमवतिष्ठते॥

यह नियम काव्यगत उपायो को लागू नही होता। रसास्वाद मे काव्यगत शब्दार्थ बाह्य नही होते। काव्यनाट्यगत विभावादि रसास्वाद के उपाय तो है, किन्तु रसोत्पत्ति होते ही, लौकिक उपायो के समान, इन उपायों का महत्त्व नही घटता। लौकिक उपायो के समान इनका त्याग नही किया जा सकता। विभावादि नष्ट हुए तो रसास्वाद भी नष्ट ही हुआ। किंबहुना, रसास्वाद विभावादि का ही आस्वाद है। "व्यक्त. स तैर्विभावाद्यै· स्थायी भावो रस स्मृत." इस वचन का यह अर्थ नही है कि विभावादि के द्वारा स्थायी अभिव्यक्त होता है तथा तदुपरान्त उस स्थायी की चर्वणा होती है। विभावादि-अभिव्यक्ति-विशिष्ट स्थायी ही चर्वणा का विषय बनता है। स्थायी के सबन्ध मे अभिव्यक्ति की विशेषणता है इस बात को क्षणभर के लिये भी भुलाया नही जा सकता। रसास्वादकालीन प्रतीति समूहालबनात्मक रहती है। विभावानुभावो की चर्वणा ही के द्वारा, हृदयसवाद—तन्मयीभवनक्रम से स्थायी को आस्वाद्यता प्राप्त होती है (तथाभूतविभावानुभावचर्वणया हृदयसवाद-तन्मयीभवनक्रमात् आस्वाद्यता प्रतिपन्न स्थायी—लोचन)। अतएव रस 'विभावादि-जीवितावधि' है अर्थात् जबतक विभावादि है तबतक ही रहता है, तथा वह 'चर्व्यमाणतैकप्राण' है अर्थात् विभावादि की चर्वणा ही उसका स्वरूप है। पूर्व बताया गया है कि काव्यगत उपाय रस के कारक उपाय अथवा ज्ञापक उपाय नही है। इस प्रकार उपायों की दृष्टि से भी काव्यगत उपाय तथा लौकिक उपायों मे भेद है। अतएव काव्यगत उपाय अलौकिक है।

(३) रस की अलौकिकता का यह भी एक गमक है कि वह लौकिकप्रमाणों का विषय नही बनता। रस लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नही है वह अनुमित नही होता, वह स्वशब्दवाच्य नही है, वह स्मृति के अन्तर्गत नही है। वह केवल अनुभवैक-गम्य है, उसकी सत्ता होने पर भी वह लौकिकप्रमाणगम्य नही है, अत एवरस अलौकिक है।

(४) लौकिक व्यवहार तथा काव्यगत व्यवहार मे स्वरूपगत, उपायगत तथा प्रमाणगत भेद किस प्रकार होता है यह ऊपर बताया गया है। किन्तु इनसे अन्य दृष्टियों से भी इनमे भेद है। पूर्व बताया गया है कि शब्द का सकेत जात्यादिरूप

होता है। जाति तथा व्यक्ति मे अविनाभाव होने से जातिद्वारा व्यक्ति आक्षिप्त होता है। इसे मीमासको के मत के अनुसार लक्षणारूप माना जाय अथवा वैयाकरणो के मत के अनुसार अनुमान रूप माना जाय, किसी प्रकार का मानने पर भी, जाति को लौकिक व्यवहार मे प्रकट होना है, तो व्यक्ति के माध्यम द्वारा ही प्रकट होना चाहिये। लौकिक व्यवहार भेदप्रधान होता है अतएव वहाँ व्यक्तिभाव को प्राधान्य तथा जातिभाव को गौणत्व रहता है। किन्तु काव्य मे व्यक्तिभाव का कोई प्राधान्य नही रहता। काव्यनाटच आदि मे राम एक व्यक्ति न हो कर एक अवस्था का प्रतिपादक होता है (धीरोदात्ताद्यवस्थाना रामादि. प्रतिपादक)। अतएव कालिदासद्वारा 'कुमारसभव' मे वर्णित शिवपार्वती का प्रणय, पुरातन काल मे किये गये शिवपार्वती के विहार का रिपोर्ट अथवा इतिहास नही है। वह सामान्यत्व से प्रतीत होने वाला प्रणयी युगुल का व्यवहार है। अभिनवगुप्त का कथन है कि, 'काव्यादि मे, केवल वाच्य अवस्था मे रामादि का वृत्तान्त ही दिखायी देता है तथा आपातत. वह विशिष्ट देशकालादि से सीमित भी माना जा सकता है, किन्तु परमार्थत. वहाँ व्यक्तिसबद्ध व्यवहार अपेक्षित ही नही रहता। काव्य मे इस व्यवहार को साधारणीभाव ही प्राप्त होता है। अतएव काव्यगत व्यवहारप्रतीति रसिक मे भी व्याप्त हो जाती है।' जाति का प्रकटीकरण व्यक्ति द्वारा न हुआ तो लौकिक व्यवहार सपन्न नही होता तथा व्यक्ति द्वारा जाति की अर्थात् सामान्य की प्रतीति न हुई तो काव्यव्यवहार सपन्न नही होता। इस प्रकार लौकिक व्यवहार तथा काव्यगत व्यवहार मे विवक्षाभेद होने के कारण, काव्यव्यापार अलौकिक है।

(५) काव्यार्थ अर्थात् रस अलौकिक है इस कथन मे और भी एक अभिप्राय है। वह यह कि रस कभी वाच्य नही हो सकता। लौकिक अर्थ वह है जो वाच्य हो सकता है। रस स्वप्न मे भी वाच्य नही हो सकता। अतएव वह अलौकिक अर्थ है। इसको व्यजना के विवेचन मे स्पष्ट किया है ही।

(६) ऊपर बताया जा चुका है कि यद्यपि काव्य मे आपातत: व्यक्तिगत व्यवहार दिखाई देता है, तथापि रसिक को उसकी प्रतीति सामान्यत्व से ही होनी चाहिये। यहाँ एक आशका हो सकती है। नाटचगत प्रसग हम प्रत्यक्ष रूप मे देखते है। काव्यगत अर्थ भी हम 'प्रत्यक्षवत् स्फुट' रूप मे देखते है। तब तो काव्यार्थ प्रत्यक्ष ही का विषय हुआ न ? इस प्रत्यक्ष में भी विषयेन्द्रियसयोग रहता ही है तथा विषयेन्द्रियसयोग लौकिक प्रत्यक्ष का ही विषय है। तब तो यह भी 'लौकिक प्रत्यक्ष' ही हुआ। काव्यार्थ इस प्रकार यदि लौकिक प्रत्यक्ष ही का विषय हुआ तब उसे अलौकिक कैसे माना जाय ? इस आशंका का समाधान इस प्रकार है — रगमच पर हम जिन अर्थो को देखते है वे काव्यर्थ के उपाय है न कि काव्यार्थ।

इन उपायो से हमें काव्यार्थ प्रतीत होता है । हम देखते हैं विभावानुभाव, न कि रस । हम जिन्हे देखते है वे राम, सीता आदि विभाव है, उद्यान चन्द्रोदय आदि भी विभाव ही है, कटाक्ष, आलिगन आदि अनुभाव है । इस विभाव अनुभाव आदि को ही हम प्रत्यक्ष रूप मे देखते है । किन्तु इनसे हमें जो आस्वादमय प्रतीति होती है वह प्रत्यक्ष का विषय नही होती, वह तो अनुभवैकगम्य ही रहती है । इसके अतिरिक्त, ये विभावानुभाव यद्यपि व्यक्तिगतरूप में दिखायी देते है, एव विषयेन्द्रियसयोग के कारण यद्यपि वे लौकिक प्रत्यक्ष का विषय बनते है तथापि इस लौकिक अवस्था में वे आस्वाद्य नही होते । इस लौकिक प्रत्यक्ष के समकाल ही 'जातिलक्षण-प्रत्यासत्ति' के द्वारा हमें उनकी सामान्यत्व से प्रतीति होती है । इसी अवस्था में वे आस्वाद्य होते है । 'जातिलक्षणप्रत्यासत्ति' द्वारा होने वाले इस प्रत्यक्ष ज्ञान ही को न्यायशास्त्र में 'अलौकिक प्रत्यक्ष' की सज्ञा है । तब विभावादि के साधारण्य से होनेवाला ग्रहण भी 'अलौकिक प्रत्यक्ष' ही है, इतनाही नही, कवि अपनी वक्रोक्ति द्वारा अथवा अलकृत वाणी द्वारा जिन अर्थो को प्रस्तुत करता है वे भी उसे 'ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति' से ही प्राप्त रहते है, अतएव कवि का अभिधान भी 'अलौकिक प्रत्यक्ष' ही का विधान रहता है [१], अतएव यद्यपि काव्यगत विभावानुभाव अलौकिक प्रत्यक्ष का विषय बनते है तथापि वे लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नही बनते, अपितु परामार्थतः अलौकिक प्रत्यक्ष ही का विषय बनते है । अलौकिक प्रत्यक्ष का विषय न हुए तो उन्हे विभावत्व ही प्राप्त नही हो सकता ।

---

१. न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्यक्ष के दो भेद हैं— लौकिक प्रत्यक्ष तथा अलौकिक प्रत्यक्ष। इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से होनेवाला प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष है। इन्द्रियार्थसंनिकर्ष लौकिक सनिकर्ष है। 'यह घोड़ा है' यह व्यक्तिविषयक ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष से हुआ है। जाति का अथवा सामान्य का ज्ञान मानसप्रत्यक्ष है। यह भी लौकिक प्रत्यक्ष ही है किन्तु जब कोई अश्वव्यक्ति को लक्ष्य कर के बताता है कि 'यह घोडा है' तब हम वह कथन तज्जातीय सभी व्यक्तियों के संबन्ध में समझते हैं। यहाँ क्या होता है? हमारे समक्ष व्यक्ति है, साथ ही व्यक्ति के आश्रय से जाति भी रहती है। हम जब उस व्यक्ति को देखते है, तभी तदाश्रित जातिद्वारा अन्य सब तज्जातीय व्यक्तियाँ भी वहाँ संबद्ध होती हैं। इस प्रकार जब कि इन्द्रिय का साक्षात् सबन्ध व्यक्ति से रहता है, तभी जातिद्वारा वह सबन्ध सभी से होता है। इस संबन्ध को 'सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति' कहते हैं। इस प्रत्यासत्ति को ही 'अलौकिक सनिकर्ष' कहते हैं। अत एव इस प्रत्यासत्ति से होनेवाला ज्ञान अलौकिकप्रत्यक्ष है। वस्तुतः यहाँ दो प्रत्यक्ष हैं। नेत्र से संबद्ध साक्षात् संयोगद्वारा होनेवाला लौकिक प्रत्यक्ष तथा सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से होनेवाला अलौकिक प्रत्यक्ष। जातिलक्षणाप्रत्यासत्ति से होनेवाली विभावादि की अलौकिकप्रत्यक्षप्रतीति ही साधारण्य से होनेवाली प्रतीति है। अलौकिक प्रत्यक्ष का दूसरा भी एक भेद है। वह ज्ञान-

[अगले पृष्ठपर देखिये]

विभावानुभाव अलौकिक प्रत्यक्ष का विषय होकर ही नही रह जाते, प्रत्युत वे उमकाल ही रसिक के हृदय मे भी व्याप्त हो जाते है, अर्थात् रसिक का भी काव्य गत व्यवहार मे अनुप्रवेश हो जाता है। विभावादि के द्वारा व्यापन अथवा रसिक का अनुप्रवेश केवल काव्य ही मे संभव है, वाङ्मय के अन्य किसी भेद मे वह नही हो सकता। विभावानुभावो का यह अलौकिक प्रत्यक्ष तथा यह अनुप्रवेश दोनो का काव्यगत सबन्ध इतना जुडा हुआ और अव्यभिचारी होता है कि इनके व्यावर्तन की कल्पना नही की जा सकती। न्याय के अलौकिक प्रत्यक्ष को रसिकव्यापन की अथवा अनुप्रवेश की जोड यदि न दी गयी तो रसानुभाव की उपपत्ति ही नही बतायी जा सकती। अतएव कहना पड़ता है कि काव्यव्यवहार अलौकिक है।

रस को जो अनुमेय मानते है तथा रसप्रतीति को जो अनुमिति समझते है वे भी अनुप्रवेश की कल्पना को टाल नही सकते, और मानना पड़ता है कि रसप्रतीति एक अलौकिक अनुमान है। केवल अभिधावादी मीमासको को भी कहना पडता है कि काव्यगत अभिधा का स्वरूप शास्त्रगत अभिधा से भिन्न है। साराश चाहे जितना प्रयास किया जाय काव्यार्थप्रतीति किसी लौकिक प्रमाण के ढाँचे मे नही रखी जा सकती, या तो उसे अलौकिक मानना ही पड़ता है या यदि उसे लौकिक प्रमाणो मे खीच लाना ही हो तो, लौकिक प्रमाणो का ही अलौकिकत्व मानना पड़ता है। अतएव स्वरूप, उपाय, प्रमाण, विवक्षा, प्रत्यासत्ति इनमें किसी भी दृष्टि से काव्यार्थ को देखनेपर भी, यही दिखायी देता है कि काव्यार्थ अलौकिक है।

कारण--अनुमितिलिंग--विभाव

लौकिक जीवन में व्यक्ति जिन अर्थो का अनुभव करता है उन्ही अर्थो का वर्णन काव्य मे रहता है। किन्तु उनका प्रयोजन परस्पर भिन्न होता है। प्रयोजन की इस भिन्नता से ही काव्यगत अर्थो को विभावादि की पृथक् सज्ञाएँ दी जाती हैं। अतएव विभावादि सज्ञाएँ अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुगामी होती हैं। शत्रु को देखते ही

[पीछले पृष्ठसे]

लक्षणप्रत्यासत्ति द्वारा होता है। दूर से आम का फल देखते ही हम कहते है, यह आम का फल मीठा दीखता है। यहाँ आम के फल का साक्षात् संबन्ध आँखों से है किन्तु इससे प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है मिठास का। यह कैसे हुआ? यहाँ आँख का आम से संयोग होते ही उसकी पूर्वानुभूत मिठास भी स्मरण में उपस्थित होती है। वस्तुतः यहाँ होता यह है—(१) यह आम है-(चाक्षुष प्रत्यक्ष), (२) मिठास का ज्ञान (स्मरण), (३) यह आम मीठा है (संयुक्त चाक्षुष प्रत्यक्ष)। यहाँ द्वितीय ज्ञान का विषय तृतीय ज्ञान में आ गया है, 'अतएव यहाँ' 'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष ही वक्रोक्ति का मूल है।

कोई व्यक्ति जब क्रोधित हो जाता है तब उसकी भौहे सिकुड़ जाती है, आँखें लाल हो जाती है, चेहरा फूल जाता है, और शरीर मे कम्प होता है। क्रुद्ध व्यक्ति की दृष्टि से इन बातो का विचार किया जाय तो शत्रु का दर्शन उसके क्रोध का कारण प्रतीत होता है, एवम् भौहे सिकुडना आदि उसके क्रोध का कार्य प्रतीत होता है। मान लीजिये, हम इस व्यक्ति को दूर से देख रहे है। हम देखेंगे कि उसकी भौहे सिकुड गयी है, नेत्र आरक्त हुए है, चेहरा फूल गया है एवं शरीर कपित हो रहा है। इस से हम तर्क करेंगे कि यह व्यक्ति क्रुद्ध हुआ है। यह किस पर और क्यों क्रोध कर रहा है इस विषय मे हमारे मन मे जिज्ञासा उदित होगी। इतने ही में, उस शत्रु को भी हम देखेगें, और हमारा तर्क होगा कि यह व्यक्ति अपने शत्रुपर क्रोध कर रहा है, तथा उसके क्रोध के विषय में हमारी जिज्ञासा शान्त हो जायगी। यहाँ हमने किया हुआ उस व्यक्ति के शत्रु का दर्शन, हमे दिखायी देनेवाली उस व्यक्ति की सिकुडी हुई भौहे आदि हमारे तर्क के लिंग है। अर्थ तो वे ही है किन्तु क्रुद्ध व्यक्ति की दृष्टि से वे कार्यकारणरूप है; तटस्थ की दृष्टि में वे अनुमिति के लिग है। इन दोनो मे इनका स्वरूप लौकिक है।

काव्य मे जब इन्ही अर्थो का वर्णन किया जाता है तब इनका प्रयोजन भिन्न होता है। पात्र की चित्तवृत्ति की निष्पत्ति यह इनका कार्य न होने से ये कार्यकारण रूप नही होते, अथवा पात्र की चित्तवृत्ति का रसिक को केवल ज्ञान करा देने का प्रयोजन न होने से, ये अनुमिति लिगरूप भी नही होते। रसनिष्पत्ति ही इनका प्रयोजन है। रसिक मे रसनाव्यापार निष्पन्न करना ही इनका काव्य मे प्रयोजन होता है। ये अर्थ इस व्यापार को किस प्रकार निष्पन्न करते है? अभिनवगुप्त का इस पर कथन है कि चित्तवृत्ति की उत्पत्ति के लिये व्यवहार मे जो अर्थ कारण होते है, वे ही अर्थ काव्य मे स्थायी का विज्ञान अर्थात् निश्चित अर्थ करा देते है। व्यवहार मे इनका प्रयोजन निष्पत्ति होता है, और काव्य मे इनका प्रयोजन 'विभावन' होता है। अतएव इनके निष्पत्ति कार्य के अनुकूल, व्यवहार मे इन्हे 'कारण' कहा जाता है; और इनके विभावन रूप कार्य के अनुकूल इन्हें काव्य मे 'विभाव' कहा जाता है। (विभावो ज्ञानार्थं, विभाव्यते विशिष्टतया ज्ञायते वागगकृतोऽभिनयः अनेन इति विभाव)। व्यवहार में देखे जानेवाले आरक्त नेत्र तथा कप, पुलक आदि स्थायी के परिणाम अर्थात् कार्य है। किन्तु ये ही अर्थ जब काव्य मे आते है तब इनका प्रयोजन रसिक को चित्तवृत्ति का अनुभव कराने का होता है; अर्थात् अनुभावन इनका काव्यगत कार्य है। अतएव लौकिक मे हम इन्हे 'कार्य' कहते है, परन्तु काव्य में इनके अनुभावन कार्य के अनुकूल हम इन्हें अनुभाव कहते है (यदयमनुभावयति वागगसत्त्वकृतोऽभिनयः, तस्मादनुभाव.)। व्यवहार में देखी जानेवाली

लज्जा, अमर्ष आदि से हमे परकीय चित्तवृत्ति का ज्ञान मात्र होता है। व्यवहार में ये नित्य स्थायी चित्तवृत्ति के साथ पाये जाते हैं, अतएव इन्हे देखते ही परकीय स्थायी का हमें बोध होता है। किन्तु ये ही अर्थ जब काव्य मे आते है तब स्थायी का समुपरजन करते है, अर्थात् स्थायी को आस्वाद्य बनाते है (विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्ति इति व्यभिचारिरण.)। अतएव लज्जादि भावो को व्यवहार मे केवल 'सहकारी' ही कहा जाता है किन्तु काव्य में, इनके समुपरजन रूप कार्य के अनुकूल इन्हे 'व्यभिचारीभाव' कहा जाता है। इस प्रकार, यद्यपि लौकिकगत अर्थ ही काव्य में भी रहते हैं तथापि विभावन, अनुभावन तथा समुपरंजन ही इनके प्रयोजन रहने से इन्हें क्रमश: विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव की सज्ञाएँ दी जाती है। इनका यह कार्य लौकिक नही है, इनका साधाररणीभूत स्वरूप भी लौकिक नही है, इनकी ये सज्ञाएँ भी लौकिक नही है तथा इनका क्षेत्र भी लौकिक नही है, इनका क्षेत्र काव्यनाटच मात्र है; अतएव विभावादि अलौकिक है।

विभावादि के काररण रसिक को जो अनुभावन होता है उसका प्रकार भी अलौकिक ही होता है। व्यवहार में जैसे हमें कार्यकाररण आदि के द्वारा परकीय चित्तवृत्ति का तटस्थता से ज्ञान होता है, वैसे विभावादि द्वारा केवल तटस्थता से ज्ञान नही होता। विभावादि रसिक के समक्ष उपस्थित होते ही, उन उन विभावादि से संबद्ध चित्तवृत्ति में रसिक का तन्मयीभवन होता है। इस प्रकार का यह तन्म-यीभवन ही अनुभावन है (तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेवेह अनुभावनम्-लोचन)। इस अनुभावन मे विभावों के लिये उचित चित्तवृत्ति से सजातीय, रसिक की अपनी चित्तवृत्ति उद्बुद्ध होती है (तत्तच्चित्तवृत्तिभावनया तत्सजातीयस्वीयचित्तवृत्ते रुद्बोधनेनानुभावनम्-बालप्रिया)। यह अनुभावन निर्विघ्न तथा निरपेक्ष होने से ही चर्वरणारूप अर्थात् रसनारूप होता है। व्यवहार में हमें ऐसी प्रतीति कभी नही होती। अतएव काव्यगत अनुभावन एक अलौकिक अनुभव है।

विभावादि के साधारण्य से होनेवाला यह अनुभावन एक अन्य प्रतीति से पृथक् है इस बात ध्यान रखना आवश्यक है। कभी कभी हम देखते हैं कि कोई दुष्ट गरीब तथा निरपराध लोगो को पीडा दे रहे हैं; रास्ते से गुज़रनेवाली स्त्रियाँ आदि को सता रहे है। इस दृश्य को देखते ही हम सोचते है कि 'ऐसे समाज-द्रोही लोगो को शासन होना चाहिये।' और जब हम देखते है कि ऐसे लोगो को शासन हुआ है तभी हमारा मन विश्रान्त होता है। इस प्रतीति का यदि विश्लेषरण किया गया तो हम क्या देखेंगे? हमारी देखी हुई घटना यद्यपि व्यक्तिसबद्ध है तथापि हमने उसका ग्रहरण सामान्यत्व से किया है, अतएव इस एक लौकिक घटना में हमें सभी दुष्टो के व्यवहार की प्रतीति हुई। हमारी यह प्रतीति, तथा 'साब ने सूर्य की

स्तुति की और वह रोगनिमुक्त हो गया' यह सुनकर, 'जो भी कोई इस प्रकार स्तुति करता है वह रोगनिर्मुक्त हो जाता है' यह सामान्य प्रतीति, दोनो सजातीय हैं। नाटचगत विभावादि की प्रतीति भी इसी प्रकार सामान्यत्व से होती है। किन्तु नाटचगत विभाव-प्रतीति जैसी अलौकिक होती है वैसी यह प्रतीति अलौकिक नही होती। इसका कारण यहि है कि जब हमे यह प्रतीति हुई तब हमारा चित्त इस प्रतीति ही में विश्रान्त नही रहा, वह उसकी बाद की क्रिया की ओर दौड़ा। चित्त की इस दौड ने ही हमें लौकिक की ओर खीचा है। अतएव यह प्रतीति लौकिक है। उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार, काव्य अथवा नाटच मे भी यदि दुष्टो ने दी हुई पीडा तथा उनका किया गया शासन वर्णित हो तथा उस नाटच के आस्वाद मे रसिक की प्रतीति उन विभावादि की चर्वणा मे ही विश्रान्त न हो कर, उत्तरकालीन कर्तव्य की ओर उन्मुख होती है तब वह प्रतीति भी लौकिक प्रतीति ही है। इस प्रकार उत्तरकर्तव्योन्मुखता निर्माण करना शास्त्रपुराणादि का प्रयोजन है, काव्य का प्रयोजन नही है। विभावादि के उपस्थित होते ही रसिक चर्वणोन्मुख हो, इसीमे विभावादि का विभावत्व है। रसिक में चर्वणोन्मुखता के स्थानपर उत्तर-कर्तव्योन्मुखता यदि आ गयी तो विभावो का विभावत्व नष्ट हो कर उन्हे लौकिक स्वरूप प्राप्त होता है एवम् रसिक की प्रतीति भी लौकिक ही रह जाती है (इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमान चर्वणाविषयतोन्मुखम्......न च नियुक्तोऽहं करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमद। तत्र उत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। —लोचन)। काव्य तो वही है जो कि रसिक को चर्वणोन्मुख करे, और वह तो प्ररोचना अथवा अर्थवाद है जो उसे उत्तरकर्तव्योन्मुख करता है।

अतएव रसप्रतीति किसी अर्थ को सिद्ध करने का साधन नही है। यह तो अपेक्षा नही की जा सकती कि काव्यपठन से रसिक किसी चीज़ का स्वीकार या त्याग करने के लिये प्रवृत्त हो। किसी क्रिया के लिये पाठक को उन्मुख करना काव्य का प्रयोजन ही नही रहता। कवि का एकमात्र प्रयोजन रहता है, काव्य द्वारा होनेवाली प्रतीति में रसिक काव्यपठन के समय विश्रान्त हो। अतएव कवि ने विभावादि द्वारा अभिव्यक्त किये अभिप्राय में (भाव मे-भावः कवेरभिप्रायः) रसिक-हृदय विश्रान्त होना यही काव्य का प्रयोजन है। रसास्वाद का पर्यवसान अभिप्रेत वस्तु की प्राप्ति में अथवा तद्विषयक कर्तव्य मे नही रहता, अपितु केवल प्रतीति-विश्रान्ति में रहता है; और प्रतीतिविश्रान्ति केवल अभिप्रायनिष्ठ होती है। (काव्य-वाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्युपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते, अपितु प्रतीतिविश्रान्ति-कारिणी, सा च अभिप्रायनिष्ठा एव, न तु अभिप्रेतवस्तुपर्यवसाना – लोचन)।

इसीसे रसप्रतीति तात्कालिक अर्थात् जबतक विभावादि उपस्थित रहते है

तबतक ही रहती है। विभावादि की उपस्थिति से पूर्व चर्वणा की सत्ता नही रहती। एवम् विभावादि के नष्ट हो जाने पर चर्वणा भी नही रहती। विभावादि जबतक उपस्थित है तबतक चर्वणा भी है, तथा विभावादि नष्ट हो गये हैं तब चर्वणा भी नष्ट ही है। विभावादि की उपस्थिति के पूर्व अथवा उत्तर काल से रसचर्वणा का कोई भी सम्बन्ध नही रहता। अतएव, काव्य की दृष्टि से रसास्वाद के उपरान्त रसिक के लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नही रहता। इसीलिये, लौकिक आस्वाद से रसास्वाद सर्वथा भिन्न है। (इह तु विभावादिचर्वणा अद्भुतपुष्पवत् तत्कालमारा एव उदिता, न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनी इति लौकिकास्वादादन्य एवाऽय रसास्वाद। —लोचन)।

साराश, एक ही अर्थप्रयोजनभेद से भिन्नभिन्न कार्य करता है एवम् कार्य के अनुसार भिन्नभिन्न सज्ञाओ से पहचाना जाता है। इसका आलेख इस प्रकार होगा—

रसविवेचन के अध्ययन मे एक बात अवश्य ही ध्यान मे रखनी चाहिये। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, स्थायी आदि का जो विवेचन किया जाता है वह नित्य अपोद्धार बुद्धि से किया जाता है। वस्तुत रसास्वाद रसिक की अखण्ड एकघन प्रतीति है। यह प्रतीति खण्डश नही होती। ये है विभाव, ये रहे अनुभाव, ये सचारी, यह इनका सयोग, और यह रस इस क्रम से रसिक को रसप्रतीति नही होती। रसिक को होनेवाले अखण्ड रसानुभव का विश्लेषण करते हुए जब हम उसका स्वरूप देखने का प्रयास करते है तब अपने अध्ययन की सुविधा के लिये हम इन विभावादि खण्डो की कल्पना करते है। अतएव विभावादि की रसनिरपेक्ष रूप मे सत्ता ही नही है। दूसरी बात यह है कि रसाभिव्यक्ति का परिचय आने

मे नित्य प्रदीपघटन्याय उद्धृत किया जाता है। इस न्याय की सीमा का भी ध्यान रखना आवश्यक है। प्रदीप तथा घट दोनो की परस्पर निरपेक्ष सत्ता होती है वैसे ही विभावादि काव्यनाट्यगत होते हैं तथा स्थायी भाव रसिक के हृदय मे लौकिक अवस्था मे वासनासस्काररूप मे स्थित रहता है. यह भी स्वीकार है। किन्तु जैसे कि बाहर से लाये दीपक के प्रकाश में मूल अवस्था में घट जो है वही प्रकट होता है वैसे रस की अभिव्यक्ति नही होती। विभावादि का उचित सयोग रसिक की प्रतीति मे प्रविष्ट होते ही रसिक के तदुचित वासनासंस्कार का उद्बोधन अथवा प्रकाशन होता है। किन्तु इस प्रकाशित स्थायी के मूल रूप मे पूर्ण रूप से परिवर्तन हो जाता है। वह लौकिक रूप का स्थायी रहता ही नही। विभावादि की अलौकिकता का एव प्रमाता अथवा रसिक के अपरिमित प्रमातृत्व का मूलस्थायी पर सस्कार होने से उस स्थायी के रूप में पूर्णत परिवर्तन हो जाता है तथा वह साधारणीभूत होता है तथा इसी अवस्था में वह चर्वणा का विषय बनता है। 'विभावानुभावो से अभिव्यक्त स्थायी' ऐसा जब कहा जाता है तब जिस अभिव्यक्ति से अभिप्राय रहता है वह स्थायी का उपलक्षण नही रहती, वह स्थायी का विशेषण है इस बात को क्षणभर के लिये भुलाया नही जा सकता। अतएव 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यै' इस वचन का 'विभावाद्यभिव्यक्तिविशिष्ट' यह अर्थ करना पडता है; 'विभावाद्य-भिव्यक्त्युपलक्षित.स्थायी' इस प्रकार अर्थ नही किया जा शकता। रस में समूहा-लबनता है इस बात को विवेचक भूल नही सकता।

रस मे समूहालबनता होने से ही रसिक दर्शक रसप्रयोग से बाहर नही रह सकता। इस सपूर्ण रसव्यापार में रसिक भी एक अपरिहार्य अश है। अतएव उस की अवस्था का एक विशिष्ट स्तर हमें मानना ही पडता है। इस स्तर से यदि उस का भ्रश हो गया तो वह लौकिक मे ही आ जाता है। इतना ही नही, रसिक को रसप्रयोगबाह्य समझकर विवेचक भी रसविवेचन नही कर पाता। रसिक को बाह्य मान कर यदि विवेचक काव्यनाट्य का विवेचन करता है तब वह लौकिक घटना का विवेचन होता है न कि रस का। काव्यगत अर्थो को विभावत्व प्राप्त होता है रसिकानुभूति की दृष्टि से, रसिकनिरपेक्षता से नही। जैसे रसिक को रसप्रयोग से बाह्य समझ कर विवेचक रसप्रतीतिका विवेचन नही कर पाता वैसे ही हम देखते है नाट्य, न कि लौकिक व्यक्तिगत घटना, इस बात को रसिक भी भूल नही सकता। दर्शक यदि इस बात को भूल बैठता है तो लौकिक में ही आ जाता है। फिर उसका आस्वाद भी लौकिक विकारों की प्रतीति के समान सुखदु.खात्मक हो जाता है।

रसिक में तन्मयीभवन की योग्यता होना आवश्यक है। योग्यता के लिये

रसिक म तीन विषयो का होना आवश्यक है। वे है नाटचगत अर्थों का सामान्यत्व से ग्रहण, प्रतीतिविश्रांति तथा अनुमानपटुता। नाटचगत अर्थो का रसिक यदि सामान्य रूप में ग्रहण न कर सका, तो नाटच में व्यक्तिविशिष्ट सबन्धो की प्रतीति की सभावना उत्पन्न होती है एवम् इससे रसविघ्न निर्माण होता है। नाटच अथवा काव्य मे कविद्वारा जो प्रतीति अभिव्यक्त की जाती है उसमें रसिक हृदय की विश्रान्ति होनी चाहिये। इस प्रतीति से कुछ सिद्ध या प्राप्त करना है यह भान रसास्वाद के समय नही रहना चाहिये। यदि यह भान रहा तो रसिकहृदय काव्य-प्रतीति में विश्रान्त नही होता। काव्यनाटचगत प्रतीति स्वयपूर्ण होती है। अतएव इसका आस्वाद भी इसी भाव से लेना आवश्यक होता है। यदि ऐसा न हुआ तो रसास्वाद के समय अन्य वृत्तियाँ भी समकाल ही उफनती है और रसप्रतीति को मलिन करती है। किसी बात के लिये रसिक को उन्मुख करने के लिये विज्ञापन अथवा आकर्षण हो इस लिये कवि काव्य की रचना नही करता। सामान्यत्व से ग्रहण करना तथा काव्य प्रतीति में विश्रान्त होना ये दो धर्म जिस बुद्धि में होते हैं उसीको आनन्दवर्धन 'तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि" कहते है। तन्मयीभवन के लिये आवश्यक तीसरी बात है अनुमानपटुता। यह पटुता न हो तो रसिक को झटिति प्रत्यय अर्थात् तत्कालप्रतीति नही हो सकती। झटितिप्रत्यय न हुआ तो रसिक का रसावेश नही रहता। लौकिक अनुभवदर्शनादि से रसिक को कार्यकारणादि का सबन्ध जैसे ज्ञात होता है उसी क्रम से अनुमानपटुता प्राप्त होती है। हम लोगो में से अनेक ऐसे होते है कि रसिक होकर भी अग्रेजी काव्यनाटच आदि का आस्वाद नही कर पाते इस का कारण यह है कि इनमें वर्णित विभावानुभावो से कौन सी वृत्तियाँ सूचित होती है इसी बात का उन्हे तत्काल ज्ञान नही होता। इन सबन्धो की खोज ही में इनकी बुद्धि व्यग्र हो जाती है और रसप्रत्यय रह जाता है। उन की रसिकता की ठीक वही दशा होती है जो टूटेफूटे बर्तन में रस की होती है। यह तो नही कि रसास्वाद के समय अनुमान नही होता। किन्तु रसिक को जो प्रत्यय होता है वह कभी इतनी शीघ्रता से होता है, कि विभावानुभाव कौनसे है, हमने अनुमान कब किया, साधारणीकरण कब हुआ, अपना सीमित व्यक्तित्व कब विगलित हुआ तथा हम तन्मय कब और कैसे हुए इस बात का रसिक को पता तक नही चलता। उपर्युक्त अर्थ तथा इनका क्रम 'फलानुमेय प्रारभ' के समान आस्वादानुमेय ही रह जाता है। अतएव रसास्वाद को आनन्दवर्धन ने 'असलक्ष्य-क्रमध्वनि' की संज्ञा दी है तथा इस प्रत्यय का वर्णन—

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्या झटित्येवावभासते॥

इन शब्दो में किया है । रसिक को होनेवाला यह झटितिप्रत्यय उतनाही सजीव होता है जितना कि स्वयं रसिक, यह प्रत्यय इतना सजीव होता है कि इससे रसिक का शरीर रोमाचित हो जायेगा, उसकी आँखो से अश्रु बहने लगेंगे, एवम् उसका कठ भी गद्‌गद् होगा । अभिनवगुप्त कहते है कि यह प्रत्यय ही चमत्कार है तथा रोमाचादि का उद्‌भव भी चमत्कार ही है । यह चमत्कार ही चैतन्य, आनन्द तथा समाधान है । चमत्कार, निर्वृति, आनन्द पर्याय शब्द है (आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः ।–लोचन) ।

रसप्रक्रिया का विकास

साहित्य मीमासको के द्वारा की गयी रसप्रक्रिया का विकासक्रम ध्यान मे आने की अब कुछ सुविधा होगी । उदाहरण के द्वारा इस विकास का क्रम देखने का हम प्रयास करें ।

१. अच्छोद सरोवर के समीपस्थित वन में पुडरीक ने महाश्वेता को देखा। पुडरीक के कान में पारिजात की एक मंजरी थी । चारो ओर उसकी सुगंध महक रही थी । महाश्वेता उस मजरी के सबन्ध में जानना चाहती थी । जब पुडरीक ने देखा कि महाश्वेता मजरी चाहती है तब पुडरीक ने वह अपने कान पर से उतार कर महाश्वेता के कान पर रख दी । उस समय पुडरीक के हाथ का स्पर्श महाश्वेता के गाल से हुआ । महाश्वेता का शरीर रोमाचित हुआ और मुख आरक्त हुआ । पुडरीक का शरीर भी उस स्पर्श से पुलकित हुआ और उसकी उँगलियाँ तरल हो कर उनमे से अक्षमाला गिर पडी । यह एक लौकिक घटना है । महाश्वेता की उत्सुकता का कारण है पुडरीक का महाश्वेता को देखना । पारिजात मजरी की सुगध उत्सुकता की वृद्धि का कारण है । महाश्वेता ने, पुंडरीक के पास जाकर, उसके तथा पारिजात मजरी के सबन्ध मे प्रश्न करना यह है इस उत्सुकताका कार्य। महाश्वेता के मन में लज्जा उत्पन्न हुई इसका कारण है पुडरीक का करस्पर्श । इस लज्जा का कार्य है रोमाच तथा मुख की रक्तिमा । इस लौकिक व्यक्तिगत घटना के ये व्यापार इस प्रकार परस्पर कार्यकारण भावसे सबन्ध है ।

२ पुडरीक का मित्र कपिजल पास ही खड़ा है और इस घटना को देख रहा है । पुडरीक तथा पारिजातमजरी के सबन्ध में प्रश्न करती हुई महाश्वेता का हास्य उसकी भावपूर्ण दृष्टि, उसकी भाषण की शैली आदि बाते वह देख रहा है । पुडरीक के चेहरे पर उस समय होनेवाले परिवर्तन, महाश्वेता के कान पर मंजरी रखते समय उसकी दृष्टि मे जो भाव था कपिजल सब देख चुका है । पुडरीक के करस्पर्श से महाश्वेता के गाल भर उभर आये रोमाच तथा मुख की रक्तिमा, तथा

पुडरीक के उँगलियो की तरलता एवम् गिरी हुई अक्षमाला, तथा इस बात का पुडरीक को तनिक भी ध्यान न रहना इन बातो को भी कपिजल देख चुका है। यह सब देख कर कपिंजल का तर्क हुआ कि पुडरीक तथा महाश्वेता का परस्पर प्रेम हो गया है। कपिजल ने जो कुछ देखा उस से उसका यह अनुमान हुआ। अतएव उसके देखे हुए व्यापार, उसके अनुमान के लिंग हैं। यह लौकिक अनुमान है। कपिंजल की भूमिका यहाँ तटस्थ की है। प्रेम के इस प्रसग से कपिजल का कोई सवन्ध नही है। अपने मित्र का किसीसे प्रेम हो गया है इससे कपिंजल आनन्दित तो हुआ ही नही, प्रत्युत यह किस फँदे मे फँस गया है इस विचार से कपिजल दुखी हुआ, और कुछ समय के बाद उसने पुडरीक को समझाया भी।

३ किन्तु जब हम यही प्रसग बाणभट्टकृत कादंबरी मे पढते है अथवा 'शापसभ्रम' आदि किसी नाटच मे देखते है, तब उपर्युक्त दोनो प्रतीतियो से हमे एक भिन्न प्रतीति होती है। इस प्रतीति मे हम तटस्थ नही रहते। इस काव्य से अथवा नाटच से अर्थात् विभावादि से हम तन्मय हो जाते है तथा हमारा अनुप्रवेश होता है एवम् हृदयसंवादपूर्वक तन्मयीभवनसे हम सम्पूर्ण काव्य का अथवा नाटच का आस्वाद लेते है।

उपर्युक्त उदाहरण मे प्रतीतियों का जो क्रम दिया है तथा कारणादि का विभावो में परिवर्तन बताया है, इसी क्रम से साहित्य शास्त्र मे रसप्रक्रिया पर विचार हुआ है। भट्ट लोल्लट की रस प्रक्रिया मे नाटचगत घटना का एक लौकिक घटना की, दृष्टि से विचार किया गया है। उनकी प्रक्रिया मे काव्यगत अर्थो को कारणत्व है, न कि विभावत्व। "विभावै=कार्यैः जनित स्थायिभावः अनुभावैः= कार्यै प्रतीतियोग्य कृत, व्यभिचारिभि = सहकारिभि. उपचित. मुख्यया वृत्त्या रामादौ' – इस प्रकार लोल्लट की प्रक्रिया है। रामादि में स्थायी चित्तवृत्ति उदित होकर, उसका किस प्रकार उपचय हुआ, यह बात इस उपपत्ति से स्पष्ट होती है। भट्ट लोल्लट जानते है कि यह प्रक्रिया लौकिक घटना की है, यह भी वे जानते है कि केवल लौकिक घटना से आनन्द नही होता। अतएव आनन्द के कारण का अनुसधान वे अन्यत्र करते है तथा कथन करते है, कि राम की चित्तवृत्ति यद्यपि नट मे नही है तथापि नट की अभिनयनिपुणता के कारण वह नटगत ही मानी जाती है और इसीसे हमे आनन्द प्राप्त होता है।

श्रीशकुक कृत विवेचन मे दर्शक की भूमिका कपिंजल के समान तटस्थ की है। इनके मत के अनुसार, विभावादि स्थायी की अनुमिति के लिंग हैं। उनका कथन है, "कारणकार्यसहकारिभि कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैः विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः गम्यगमकभावरूपात् सयोगात् अनुमीयमानः स्थायी रसः।" श्रीशकुक

के मत के अनुसार, नाटचगत कारणादि कृत्रिम होते है अतएव इन्हें विभावादि कहते है। एवम् इन से दर्शक स्थायी का अनुमान करता है। श्रीशकुक जानते है कि केवल अनुमान आनन्द का कारण नही हो सकता। किन्तु नाटचगत अनुमान को अनुकरण की भी सहाय्यता है। श्रीशकुक का कथन है कि नट रामगत स्थायी का अनुकरण करता है, और यही रसिक के आनन्द का कारण है।

इससे आगे साख्यो की प्रक्रिया है। इनके मत के अनुसार काव्य में विभावसामग्री ही अन्ततः रस मे परिणत होती है, अतएव नाटच मे वर्णित बाह्य विषय सामग्री ही रस है। इनका कथन है कि, कविद्वारा काव्य मे जो कुछ सुखदु खात्मक वायु-मण्डल अथवा परिस्थिति निर्माण कि जाती है उसके बीज काव्य ही मे होते है। वे विभावो से अकुरित होते है तथा अन्तत. रस मे परिणत होते है।

उपर्युक्त तीनो प्रक्रियाएँ रसिक को विवेचना से बाह्य रखती है। पहली दो प्रक्रियाओ मे रसिक बाह्य तो है ही किन्तु स्थायी भी व्यक्तिनिष्ठ है। साख्यो की प्रक्रिया मे रस का बीज काव्यगतविषयसामग्री मे ही माना है, एवम् बताया गया है कि बाह्यविषयगत स्वभावभूत सुखदु ख ही रस मे परिणत होते है। इस मत के अनुसार, आन्तर स्थायी बाह्य परिस्थितिका परिणाम है। इसी मत मे सर्वप्रथम माना गया है कि विभावादि का तथा स्थायी का व्यक्तिगत सबन्ध विगलित हो कर वह काव्यगत हुआ है। किन्तु रसिक अभी बाह्य ही है।

इसके अनन्तर भट्टनायककृत विवेचन आता है। सर्वप्रथम भट्टनायक ने ही विभावादि का साधारणीकरण सिद्ध किया। उन्होने माना है कि रसभावना विभावादि के साधारण्य से होती है। तथा उन्होने ही रस का भोक्ता होने के नाते रसिक को भी विवेचन में स्थान दिया। किन्तु काव्यद्वारा भावित रस का भोग रसिक स्वहृदय मे किस प्रकार करता है इसका ठीक विवेचन वे नही कर पाये। त्रैगुण्य-युक्त अन्त.करण के दृति–विस्तार विकास के रूप मे रसास्वाद का स्वरूप विषद करने का उन्होने प्रयास किया। किन्तु इसीसे, उनके कथित भोग में आनन्त्यदोष आ गया। अभिनवगुप्त इस सबन्ध मे कहते हैं– 'सत्त्वादीना च अगागिभाववैचित्र्यस्य आनन्त्यात् दृत्यादित्वेन आस्वादगणना न युक्ता।'

अभिनवगुप्तने इन सारे दोषो का निरास किया। उन्होंने विभावादि की अलौकिकता सिद्ध की, विभावन, अनुभावन तथा समुपरजन ही इनके कार्य क्यो हैं यह भी विशद किया तथा हृदयसवाद-तन्मयीभवन के क्रम से चर्वणानिष्पत्ति किस प्रकार होती है यह बताते हुए एवम् विभावादिनिष्पन्न चर्वणा को गोचर होनेवाला भाव ही रस है यह दर्शाते हुए चर्व्यमाणता अथवा अस्वाद्यता के आधार पर अपनी

उपपत्ति विशद की। इस उपपत्ति से रसास्वाद का स्वरूप तो स्पष्ट हुआ ही, साथ ही यह भी निश्चित हुआ कि रसास्वाद की सत्ता काव्य नाटच के क्षेत्र मे ही क्यो है और लौकिक व्यक्तिगत व्यवहार मे कैसे नही है। अभिनवगुप्त ने इस प्रकार काव्यनाटच की विशिष्टता का प्रस्थापन किया। रसप्रक्रिया का विकासक्रम सक्षेप मे इस प्रकार है।

'स्थायिविलक्षणो रस:'

अभिनवगुप्त के, 'रस स्थायी नही है, अपितु स्थायिविलक्षण' इस कथन का अर्थ अब स्पष्ट होगा। अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती भाष्यकार, रसीभूत होनेवाले स्थायी को व्यक्तिसबद्ध मानते थे। लोल्लट के मत के अनुसार उपचित होनेवाला स्थायी, मुख्य वृत्ति से रामगत तथा गौण वृत्ति से नटगत है। शकुक के मत के अनुसार नट रामही के स्थायी का अनुकार करता है। इस प्रकार का व्यक्ति-सबद्ध लौकिक स्थायी कितना ही उपचित क्यो न हो, रस मे परिणत कैसे हो सकता है? और यदि इस लौकिक स्थायी की परिणति रस मे होती हो तब तो यह भी मानना पडेगा कि व्यवहार में भी रस का अनुभव होता है। किन्तु ऐसा तो कोई मान ही नही सकता। वस्तुस्थिति यह है कि लौकिक स्थायी रस में परिणतही नही होता। भरतमुनि को भी रस का यह स्वरूप अभिप्रेत नही है। अतएव उन्होने रससूत्र में स्थायी का निर्देश नही किया। यदि निर्देश किया होता तो वह शल्यरूप ही हो जाता। अतएव अभिनवगुप्त को लौकिक स्थायी रसत्व से अभिप्रेत नही है। व्यक्तिगत स्थायी की उत्पत्ति तथा परिपोष करनेवाले अर्थ जब काव्यनाटच मे प्रकट होते है तब उन्होंने कारणत्वादि की भूमिका का त्याग किया रहता है। उस समय वे विभाव के रूप मे उपस्थित होते हैं तथा विभावनादि कार्य करते है। इससे विभावादि–उचित रसिकगत वासनासस्कार उद्‌बुद्ध अथवा अभि-व्यक्त होता है। हृदयसवादतन्मयीभवन से उद्‌बुद्ध होनेवाला यह वासनासस्कार लौकिक स्थायी नही है। आपातत वह लौकिक स्थायी के समान दीखता है किन्तु वस्तुत अलौकिक वासनासस्कार होता है। मधुसूदन सरस्वती ने, स्पष्ट रूप मे, दोनो मे भेद दर्शाया है। वे कहते हैं—

> काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्या स्थायिन. सन्ति लौकिका।
> तद्‌बोद्धृनिष्ठास्त्वपरे तत्समा अप्यलौकिका.॥ (भ. र ३।४)

'काव्यार्थ में पाये जानेवाले रत्यादि स्थायी शुद्ध लौकिक होते है (अर्थात् उनका इस रूप में वर्णन किया जाता है जैसा कि वे रामादि के अपने है), परन्तु काव्यार्थ के आस्वाद के समय प्रमाता में उद्‌बुद्ध होनेवाले अन्य स्थायी यद्यपि पात्रगत स्थायी के समान दिखाई देते है तथापि वे अलौकिक रहते है।'

अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही कहा है कि स्थायी से अभिप्राय है—लौकिक की अपेक्षा से स्थायी (लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावा: ।) उनका विचार है कि लोक की अपेक्षा से उपचित होनेवाला स्थायी रस नही है। उनके मत में रस 'स्थायिविलक्षण' है । यह तो उपचार मात्र है जो कि 'स्थायी रसीभवति' कहा जाता है । (इस उपचारका स्वरूप पूर्व बताया जा चुका है) । अभिनवगुप्त के इस विशिष्ट दृष्टिकोन पर ध्यान देने से उनके रसविवेचन का क्षेत्र भी स्पष्ट हो जाता है। काव्य का परिशीलन करने मे अथवा नाटक देखने में, रसिक का जो अनुभव होता है, उस अनुभव का स्वरूप तथा प्रक्रिया बताना—यही है रसविवेचन का क्षेत्र । रसविवेचन का विषय रसिकास्वाद है, न कि व्यक्तिगत मनोविकार। हाँ इतना भर अवश्य है कि व्यक्तिगत मनोविकारो का ज्ञान कवि को काव्यरचना में, नट को अभिनय करने मे, तथा रसिक को अनुमानपटुता प्राप्त करने में उपयोगी सिद्ध होगा। भरत ने भी स्थायी का विवेचन इसी प्रयोजन से किया है । अभिनवगुप्त का कथन है—"न अज्ञातलौकिकरत्यादिचित्तवृत्ते. कवे: नटस्य वा तद्विषयविशिष्टविभावाद्याहरण शक्यम् इति स्थायिन उद्दिष्टा.। — लौकिकरत्यादि चित्तवृत्तियो का ज्ञान यदि न हो तब कवि के लिये अथवा नट के लिये तदुचित विशिष्ट विभावादि का प्रकाशन असभव होगा इसी लिये भरतमुनि ने स्थायी भावो का परिगणन किया है।" और यह सत्य भी है। भरत ने स्थायी भावो के स्वरूप की विवेचना नही की। बस इतनाही बताया है कि कौन कौन से विभावानुभावों के द्वारा उनका अभिनय करना चाहिये, इससे स्पष्ट है कि रस-विवेचनका विषय लौकिक मनोविकार न होकर रसिकास्वाद ही है। पूर्व बताया जा चुकाही है कि वासनासस्कार-जो कि रसिक के चित्त मे उद्बुद्ध होकर उसकी चर्वणा का विषय बनता है—अलौकिक होता है । अतएव अभिनवगुप्त कहते है कि रस स्थायी नही है, प्रत्युत स्थायिविलक्षण है । पूर्ववर्ती भाष्यकारों के मत के अनुसार उपचित अथवा अनुमित स्थायी रस है, इसके विपरीत अभिनवगुप्त के मत के अनुसार विभावादि के द्वारा निष्पन्न चर्वणा को गोचर होनेवाला तदुचित अलौकिक वासनासस्कार रूप अर्थ ही रस है। यही है दोनो मतो में भेद।

रस: इति क: पदार्थ: ?—आस्वाद्यत्वात्

रस एक निर्विघ्न चर्वणात्मक संविद् है। अर्थात् इसका स्वरूप अन्तत. बोध अथवा प्रतीति का ही है। अभिनवगुप्त ने लोचन में कहा है—"चर्वणा अपि बोधरूपा एव"। यहाँ एक आशका होती है कि काव्य के अनुशीलन के समय निष्पन्न आनन्दमय प्रतीति को 'रस' की संज्ञा क्यों कर दी जाती है ? इस आशंका

का समाधान साहित्यशास्त्र मे इस प्रकार किया गया है — विभावानुभावव्यभिचारी के सयोग से निष्पन्न होनेवाली प्रतीति अलौकिक रहती है। अलौकिक अर्थ की कुछ कल्पना दृष्टान्तद्वारा ही हो सकती है। भरत ने इसके लिये 'सार' ही दृष्टान्त दिया है। व्यजन (मसाला), ओषधि (इमली, हलदी आदि) तथा द्रव्य (गुड आदि) आदि वस्तुओं की उचित योजना हुई और इन्हे पक्वावस्था प्राप्त हुई अर्थात् इनका ठीक तरह से पाक सिद्ध हुआ कि इनसे एक अतीव आस्वाद्य रस निष्पन्न होता है जो इन द्रव्यो से भिन्न होता तथा 'षाडव' आदि नामो से पहचाना जाता है। इसी तरह, विविध विभावानुभावों का रसिकबुद्धि में उचित रूप में सयोग होनेपर उनके द्वारा एक अर्थ जो प्रत्यक्षवत् अभिव्यक्त होता है, तथा जिसे लौकिक दृष्टि से स्थायी कहते है— रस्यमान अर्थात् आस्वाद्य रूप में निष्पन्न होता है। यहाँ विभावादि की सम्यग् योजना पाकस्थानीय है। काव्यगत रसोचित शब्द रचना के लिये शास्त्रकारो ने 'काव्यपाक' शब्द का ही प्रयोग किया है [२], विभावादि व्यजनौषधिस्थानीय है, तथा अभिव्यक्त होनेवाला स्थायिकल्प [स्थायी-सदृश] वासनासस्कार रसस्थानीय है। दोनों का समानधर्म है आस्वाद्यता अथवा रस्यमानता। भेद यही है कि दृष्टान्तगत 'सार' रूप रस एक लौकिक वस्तु है, किन्तु प्रकृत दार्ष्टान्तिकगत रसरूप काव्यार्थ अलौकिक है एवम् काव्यकुशल ही इसे निष्पन्न कर सकते है। अतएव भरतमुनि ने 'रसः इति कः पदार्थः ?' इस प्रकार प्रश्न उपस्थित करते हुए उसका उत्तर दिया है—'उच्यते। आस्वाद्यत्वात्।' इसका अर्थ यह है— देखा जाता है कि काव्यशास्त्र के विद्वान् काव्य द्वारा होनेवाली प्रतीति के लिये 'रस' शब्द का प्रयोग करते है। रस शब्द, माधुर्य, पारद, सार, जल आदि शब्दों का वाचक है। फिर काव्यार्थप्रतीति के लिये प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोग होने का क्या निमित्त है? भरत का इसपर उत्तर है कि, "आस्वाद्यत्व' ही इस शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है।" अर्थात् आस्वादनक्रिया ही इसका प्रवृत्तिनिमित्त है। किन्तु यहाँ एक और आशंका उपस्थित होती है। आस्वादन रसनेन्द्रियजन्य ज्ञान है। काव्यार्थज्ञान ऐसा नही है। वह तो मानसैकगम्य है। इसका समाधान यह है कि काव्यार्थप्रतीतिक्रिया पर रसनेन्द्रियजन्य ज्ञान का उपचार किया गया है। इस उपचार का बीज है सादृश्य। यह सादृश्योपचार भरत ने इस प्रकार दर्शाया है— "यथा नानाव्यजनसस्कृतमन्न भुजाना रसानास्वादयन्ति सुमनस. पुरुषा हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यजितान् वागगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनस. प्रेक्षका. हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति, तस्मात् नाट्य-

---

२. यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं काव्यशास्त्रनिष्णाताः काव्यपाक प्रचक्षते ॥

रसा· इति अभिव्याख्याता·।" यहाँ भोग्य, भोक्ता, फल आदि के साम्य पर से काव्यार्थप्रतीतिरूप व्यापारपर अर्थात् क्रिया पर रसनाव्यापार का इस प्रकार उपचार किया गया है—

	भोग्य	भोक्ता	फल	व्यापार
१	व्यजनसस्कृत अन्न	सुमनस् अर्थात् समाहितचित्त पुरुष	हर्ष-तृप्ति	रसना (आस्वादन)
२	विभावादिव्यजित स्थायी	सुमनस् अर्थात् एकाग्र तथा निर्मल हृदय रसिक	हर्ष-तृप्ति	निर्विघ्न सविद् (आस्वादन)

वास्तव मे आस्वादन रसनेन्द्रिय का व्यापार नही है, रसनेन्द्रिय का व्यापार तो केवल भोजन है। आस्वादन एक मानसव्यापार है तथा इसका फल है हर्ष और तृप्ति। भोजन तथा आस्वादन के व्यापारो मे यह जो भिन्नता है इसीसे भरत का अभिप्राय है यह उनके शब्दप्रयोग 'भुजाना आस्वादयन्ति' से स्पष्ट है। यह मानस व्यापार ही काव्य में आविकल रूप में रहता है (न रसनाव्यापार: आस्वादनम्, अपि तु मनस एव, स च अत्र अविकलोऽस्ति)। आस्वादन व्यापार का फल है, आल्हादन तथा तर्पण (तृप्ति)। तर्पण का अर्थ है सब इन्द्रियों का समकाल सतोष। काव्यार्थप्रतीति के साथ ही रसिक को अल्हादन तथा तृप्ति की प्राप्ति होती है। अतएव इस प्रतीति पर ही आस्वादन का उपचार किया गया है। यदि चित्त समाहित न हो तो भोजन मे भी यह आस्वादनव्यापार नही रह सकता तथा काव्यार्थप्रतीति भी चित्त यदिनिर्मल और एकाग्र न हो तो नही हो सकती, यही भरत ने, दोनो के संबन्ध मे 'सुमनसः' शब्द का प्रयोग करते हुए दर्शाया है। इस उपचार के लिये भरत ने परम्परा का आधार दिया है। तथा इसी आधार पर उन्होंने 'आस्वाद्यत्वात्' यह उत्तर भी दिया है। केवल इसी आधार पर कि लौकिक अनुभव मे·यह आस्वादनव्यापार विचारतः रसनाव्यापारोत्तर रहता है, इसे रसनाव्यापार तथा इसीसे काव्यार्थ को रस कहा जाता है।

इसका अर्थ यह होता है कि अभिनवगुप्त रसनाव्यापार को, आस्वाद्यता को अथवा चर्वणाव्यापार को (ये सब पर्याय शब्द है) रस का भेदक लक्षण इस लिये मानते हैं कि काव्यार्थ को रसत्व आस्वाद्यता के कारण प्राप्त होता है तथा आस्वाद्यता विभावादि के उचित योग के कारण प्राप्त होती है। काव्यार्थ को रसत्व कब प्राप्त होता है ? जब वह आस्वाद्य होता है तब। वह आस्वाद्य कब होता है ? जब वह अलौकिक विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है तब। काव्यार्थ यद्यपि लौकिक अर्थ के समान दिखाई देता है तथापि विभावादि

अलौकिक उपायो से वह अभिव्यक्त होता है इस लिये वह आस्वाद्य अर्थात् रसनीय होता है, और इसीलिये वह लौकिक अर्थ न हो कर लोकोत्तर अर्थ है। अतएव काव्यगत रसना यद्यपि अन्य प्रतीतियो के समान एक प्रतीति है तथापि उपायो की अलौकिकता के कारण एक अलौकिक प्रतीति है। अभिनवगुप्त कहते है— " रसना च बोधरूपा एव किन्तु बोधान्तरेभ्यो' लौकिकेभ्यो विलक्षणा एव, उपायानां विभावादीना लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसयोगात् रसना यतो निष्पद्यते, ततः तथाविधरसनागोचरः लोकोत्तरोऽर्थः रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।"

' नाट्ये एव रसः न तु लोके '

इस प्रकार का अलौकिक प्रतीतिरूप रस काव्य तथा नाट्य मे ही रह सकता है, लौकिक व्यवहार में नही। भरत ने रस को ' नाट्यरस ' कहा है। अभिनवगुप्त ने इसका व्याख्यान "नाट्ये एव रसः, न तु लोके" किया है। अभिनवगुप्त ने यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात सूचित की है। रसास्वाद के समय लौकिकप्रतीति तथा नाट्यप्रतीति दोनो मे भ्रान्ति (Confusion) नहीं होनी चाहिये। जहाँ इस प्रकार भ्रान्ति हुई कि रसविघ्न निर्माण हो जाता है। अभिनवगुप्तद्वारा निर्दिष्ट रसविघ्न इस भ्रान्ति ही के रूप है। रसास्वाद के समय नाट्य तथा लोक के भिन्न स्तरों का विवेक जो दर्शक नहीं रख पाते उनमे देशकालविशेषावेश अथवा निजसुखादिविवशीभाव दिखाई देता है। उनके परिमित प्रमातृत्व का परिहार नहीं हुआ रहता। ऐसे पाठक अथवा दर्शक शृंगार से सुख पायेंगे किन्तु करुण से इन्हे दुःख होगा; और बीभत्स तो वे पढ या देख भी नही सकेंगे। इन लोगों को सविद् निर्विघ्न न होने से तब रसना, आस्वाद्यता अथवा चर्वणा निष्पन्न ही नही होगी; फिर काव्यार्थ का रसत्व कहाँ ?

" आनन्दरूपता सर्वरसानाम्। "

रस ' सुख ' रूप है अथवा ' सुखदु.ख ' रूप है इस विषय को लेकर आजकल बहुत कुछ लिखा जाता है। इस संबन्ध में साहित्यशास्त्र की क्या भूमिका है इसका यही विचार करना उचित होगा। अभिनवगुप्त रस को आनन्दरूप मानते है। " सर्वे अमी सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्य एकघनस्य प्रकाशस्य आनन्दसारत्वात्। अन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् सुखस्य। अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैः दु खस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेन उक्तम् रजोवृत्तिता वदद्भि· **इति आनन्दरूपता सर्वरसानाम्।** " अभिनवगुप्त का कथन है कि सब रस सुखप्रधान ही है। क्यों कि स्वसविद् की चर्वणा ही उनका स्वरूप है। यह चर्वणा एकघन तथा

प्रकाशमयी (बोधरूप) होती है अतएव आनन्द ही इसका सारभूत तत्त्व है। एकघन निर्विघ्न सविति मे ही रसिक का हृदय विश्रान्त हो सकता है। हृदय की अन्त-रायशून्य अर्थात् निर्विघ्न विश्रान्त अवस्था ही सुख का स्वरूप है। दु ख विश्रान्ति रूप हो ही नही सकता। साख्यदार्शनिको का कथन है कि दु·ख रजोवृत्ति का धर्म है। इसमे, उन्होने चाञ्चल्य ही को दु ख का स्वरूप बतलाया है। रसास्वाद के समय रसिक का चित्त एकघनसविति में विश्रान्त होता है। तब रसिक के हृदय में किसी भी प्रकार की चचलता नही रहती। अतएव सब रस आनन्दरूप ही रहते है। रसास्वाद लौकिक हर्षशोकआदि का अनुभव नही है, प्रत्युत स्वसवेदना का आस्वाद है, एवम् यह अनुभव आनन्दरूप ही होता है।

करुण रस की समस्या को भी अभिनवगुप्त ने आँखो से ओझल नही होने दिया। यह तो उनके पूर्वकाल ही से समस्या चली आई थी कि ' करुण से आनन्द कैसे होता है '? अनुकरणवादियो का इसपर कथन था कि करुण से भी आनन्द होना तो नाटचरस का एक अलौकिक विशेष है। अभिनवगुप्त का इस पर विचार था कि यह समस्या ही उपस्थित नही होती। क्यों कि लौकिक जीवन में भी यह तो नियम नही है कि शोक से दु ख ही होगा। हमारे अथवा हमारे मित्र के शोक से हमें दुःख अवश्य होगा; किन्तु शत्रु के शोक से हमें आनन्द भी होगा, तथा किसी अन्य व्यक्ति के शोक के विषय में तो हम उदासीन ही रहेगे। साराश, शोक यदि स्वगतसबन्ध से सीमित न हो, तब उसका दु·ख से कोई सबन्ध नही बताया जा सकता। और रस तो व्यक्तिसबन्ध के परे है। इस लिये, ' शोक सुखहेतु कैसे होता है ' यह प्रश्न ही ठीक नही है। अनुकरणवादियो के उत्तर का भी कोई अर्थ नही है। यह भी कोई उत्तर है कि, ' नाटचभावो से आनन्द होना तो इनका स्वभाव ही है '। अभिनवगुप्त की मान्यता है कि रसिक आस्वाद करता तो सवेदना का ही आस्वाद करता है, यह सविद् आनन्दरूप ही होती है (अस्मन्मते तु संवेदनमेव आनन्दघनम् आस्वाद्यते। तत्र का दु·खाशका ?)। सवेदना के आस्वाद में दुःख कहाँ ? उचित विभावादि की चर्वणा से हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रम द्वारा लोकोत्तर काव्यार्थ की निर्विघ्न प्रतीति ही रस का स्वरूप है, अतएव यहाँ दु·ख के लिये अवसर ही नही। बस, इतना ही है कि रति, शोक आदि वासनासस्कारों के तत्कालीन उद्बोध के कारण इस एकघनसवेदनास्वाद मे वैचित्र्य निर्माण होता है। तथा यह वासनासस्कारों का उद्बोधन लौकिक कारणो से नही होता, अपि तु अभिनयादि-व्यापार ही से होता है। (केवल तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापार-स्तदुद्बोधने च अभिनयादिव्यापारः)।

अतएव अभिनवगुप्त विवेचन की सुविधा के लिये रस के सामान्य लक्षण तथा विशेष लक्षण इस प्रकार दो भेद करते हैं। भरत को भी रस का सामान्य लक्षण तथा विशेष लक्षण रूप विभाग अभिप्रेत है। रससूत्र में उन्होने रस का सामान्य लक्षण किया है तथा इसके उपरान्त उसका स्वरूप विशद किया है। सामान्य विवेचन के उपरान्त, ' अब हम विभावानुभावसयुक्त रसो के लक्षणो तथा निदर्शनो का व्याख्यान करते है।' कहते हुए विशेष लक्षणो को आरभ किया है, तथा शृगार आदि के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव मात्र का निर्देश किया है। भरत के इस वचन की सगति अभिनवगुप्त ने इसी अभिप्राय से बताई है। वे कहते है,— "मुनि अब विशेष लक्षण बताना चाहते है, विशेष लक्षण सजातीय व्यवच्छेदक होता है, एव सामान्यलक्षण विजातीय व्यवच्छेदक होता है। विशेष लक्षण सामान्य के विशेषरूप निदर्शन ही होते है। अतएव विशेष लक्षण के कथन मे सामान्य लक्षण का निर्देश, योजना तथा उदाहरण आताही रहता है। भरतकृत विशेष लक्षण इसी स्वरूप के है। स्थायी भावो के जिनका कि लोक में चित्तवृत्ति के रूप में अनुभव किया जाता है— यद्यपि विविध रूप है, तथापि वे सभी नाटच मे रसिक की मनोविश्रान्ति का एकायतन होकर रस को प्राप्त करते है। कवि तथा नट द्वारा निर्मित उचित विभावादि के कारण इन्हे काव्य तथा नाटच में रसत्व प्राप्त होता है। अतएव विभावादि के औचित्य से अर्थात् सम्यग्योजना से स्थायी को रसता अर्थात् आस्वाद्यता प्राप्त होती है; फिर वह स्थायी लौकिक दृष्टि से चाहे सुखरूप हो अथवा दुःखरूप हो।" विभावादि का सम्यग् योग रसिक मे चर्वणा अर्थात् रसनाव्यापार निष्पन्न करता है एवम् यह व्यापार एकघन सविद्विश्रान्तिरूप ही रहता है; अतएव यह आनन्दरूप ही है।

परन्तु जिन का विचार है कि लौकिक स्थायी स्वरूपत ही रसरूप बन जाता है, वे सभी रसों को आनन्दरूप नही मान सकते। इनके मत के अनुसार स्थायी या तो रामादि से सबद्ध रहता है या वह स्वगत अर्थात् स्वसंबद्ध रहता है। इन्हें प्रतीत होता है कि विभावादि के कारण या तो रामादि का स्थायी परिपुष्ट हुआ है या इनके व्यक्तिगत मनोविकार उत्कट हुए है। इससे, वे शृगारादि रसो को सुखरूप समझते हैं, और करुणादि को दुख रूप। रस सुखरूप है अथवा दु खरूप इस प्रश्न का उत्तर, रस 'स्थायिविलक्षण' है अथवा 'स्थायी' है इस प्रश्न के उत्तर पर अवलंबित है। यदि आप 'स्थायिविलक्षणो रस' मानते हैं, तब इस उपपत्ति के अनुसार एकघन सविद्विश्रान्तिरूप होने से रस आनन्दमय ही है। यदि आप 'स्थायी रसः' मानते है, तब इस उपपत्ति के अनुसार लौकिक स्थायी स्वरूपतः ही उपचित होता है, अतएव रस दुखदुःखात्मक ही है। साहित्यशास्त्र में

ये दोनो परम्पराएँ स्पष्ट रूप मे दिखाई देती हैं।

आनन्दवादी तथा सुखदुःखवादियों की भिन्न परम्पराएँ

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण मे 'सुखदु.खात्मको रस.' कहा है। इन ग्रन्थकारो को 'परम्परा से विद्रोही' आदि उपाधियाँ दे दे कर आधुनिक काव्यमीमासको ने इनकी बडी सराहना की है। इसका अर्थ केवल यही है कि जो लोग आज रस की सुखदु खरूपता प्रतिपादन करना चाहते है उन्हे सस्कृत ग्रन्थों मे इन दोनो का आधार मिल गया। वस्तुस्थिति यह है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र एक परम्परा के प्रतिनिधि है, तथा यह परम्परा उन लोगो की है जो उपचयवादी अर्थात् 'स्थायी रस.' मानते थे। इन ग्रन्थकारो का रस लक्षण तथा इस पर इनका विवेचन पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि ये उपचयवादी हैं। इनका रसलक्षण है—

स्थायी भावः श्रितोत्कर्षः विभावव्यभिचारिभि.।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रस. ॥

स्थायी भाव-जिसका कि विभाव तथा व्यभिचारीभावो से परिपोष हुआ है—जब स्पष्ट अनुभावों के द्वारा साक्षात्कारित्व से निर्णीत होता है, तब रसपदवी को प्राप्त करता है। यह रस सुखदुःखात्मक है। शृगार, हास्य, वीर, अद्भुत, तथा शान्त रस इष्ट विभावादि के द्वारा उपनीत होते है अतएव वे सुखकर हैं। करुण, रौद्र बीभत्स तथा भयानक अनिष्ट विभावादि के द्वारा उपनीत होते है अतएव दु.खरूप है। इस कारिका की वृत्ति में, इन्होंने स्पष्ट ही, "उपचय प्राप्य रसरूपेण रत्यादिर्भवति इति भावः," तथा "व्यभिचारिभि .... परिपोषणाच्च श्रितोत्कर्ष" कहा है। इससे स्पष्ट है कि नाटचदर्पणकार 'उपचयवादी' है। इनका कथन है कि लौकिक अवस्था में जो सुखदु खात्मक भाव होता है वह उसी रूप मे परिपुष्ट होता है और इस परिपुष्ट अवस्था ही मे वह रसनीय होता है अतएव यह रस है। नाटचदर्पणकार की स्वीकृत रस की सुखदु खात्मकता उनके उपचयवाद के अनुकूल ही है। इनकी वृत्ति पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि इनका किया रसानुभव का विवेचन लौकिक स्तर से ही किया गया है।

रस की सुखदु खात्मकता प्रतिपादन करनेवालों मे नाटचदर्पणकार सर्वप्रथम नही है। भोज ने 'रसा हि सुखदु.खावस्थारूपा' कहा है। नाटचदर्पणकार से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व भोज का समय है। भोज से पूर्व भी ऐसे ग्रन्थकार थे जो कि रस की सुखदु खात्मकता स्वीकार करते थे। अभिनवगुप्त ने एक मत उद्धृत किया है जिसे वे साख्यो का बताते हैं। इस मत के अनुयायी भी रस को सुखदु.ख-स्वभाव ही मानते थे। उन्होंने भी रसविवेचन मे परिपोष भाव ही स्वीकार किया है। साराश, अभिनवगुप्त के पूर्व भी रस को उभयविध माननेवालों की एक परम्परा थी ही।

हम इसके भी पूर्व जा सकते है । वामन ने अपने ग्रन्थ मे एक श्लोक उद्‌धृत किया है —

करुणप्रेक्षणीयेषु सप्लव. सुखदु खयोः ।
यथानुभवत॰ सिद्ध तथैवोज प्रसादयो. ॥

इस श्लोक मे वामन कहते है कि करुण नाटच मे रसिक सुखदु खो के सप्लव को अनुभव करते है । यहाँ उन्होने सुखदु खवादियो की एक परम्परा की ओर अगुलि-निर्देश किया है । अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि लोल्लट के परिपोषवाद का यदि स्वीकार किया जायें तो ' करुणादौ प्रत्युत दु.खप्राप्ति. ' होती है । साराश, ' परिपोषवाद ' तथा ' रस का सुखदु.खरूपत्व ' इन दोनो मे अन्योन्यसबन्ध दिखायी देता है । अनुकरणवादि भी इसी निर्णय पर आ पहुँचते है । साराश, रसविवेचन के विकास मे दो स्वतन्त्र परम्पराएँ दिखायी देती है । एक परम्परा मे ' स्थायी रसो भवति ' माना गया है और दूसरी परम्परा मे ' स्थायिविलक्षणो रस ' माना गया है । पहली परम्परा में स्थायी व्यक्तिसबद्ध है तथा इसका परिपोष ही रस है, इस प्रकार रसस्वरूप माना गया है । विभावादि इस स्थायी के परिपोष की कारणादि सामग्री है । इससे इनकी उपपत्ति मे स्थायी के लौकिक स्तर का त्याग नही होता । इतनाही नही, इनकी मान्यता है कि लौकिक स्थायी का ही स्वरूपतः परिपोष रस है । इसलिये इनकी दृष्टि से रस भी लौकिक ही है । तब इस रस का स्वरूप तो सुखदु.खात्मक ही रहेगा । फिर करुण मे आनन्द का अश कहाँ से आता है ? इसपर इनका उत्तर है कि या तो यह नाटचभावो का स्वभाव ही है; या नट का अभिनिवेश अथवा अनुकृतिकौशल ही आनन्द का कारण है; अथवा नाटचदर्पणकार के मत के अनुसार कविगतशक्ति अथवा नटगतशक्ति का वह चमत्कार है । दूसरी परम्परा ' अभिव्यक्तिवादियो ' की है । इनके मत के अनुसार रस स्वरूप चर्वणात्मक है तथा वह निर्विघ्नसविद्‌विश्रान्ति की अवस्था है । रसिक का हृदयसवाद इस आस्वाद का अर्थात् चर्वणा का बीज है । अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप में ' हृदयसंवाद आस्वाद. ' कहा है । रसिक का यह हृदयसवाद लौकिक भूमिका पर नही होता । प्रत्युत, रसिक की लौकिक भूमिका विगलित न होना एक रसविघ्न है । इस प्रतीति के उपाय भी अलौकिक है । इतना ही नही इन विभावादि उपायों के द्वारा अभिव्यक्ति होनेवाला काव्यार्थ भी लोकोत्तर होता है । कहा तो जाता है कि, ' स्थायी रसत्व को प्राप्त होता है,' किन्तु लौकिक रूप में वह रसपदवी को प्राप्त नही होता । केवल इतना ही है कि काव्यगत अलौकिक उपायों का (विभावादि का) लौकिक कारणादि से संवादित्व रहता है, इससे लौकिक कारणों से संबद्ध लौकिक स्थायी का अलौकिक काव्यार्थपर उपचार

किया जाता है। अन्यथा, रसाभिव्यक्ति एक अलौकिक व्यवहार है। 'लौकिक विश्व' तथा 'रसविश्व' का स्तर एक ही नही है। लौकिक विश्व प्रवृत्तिनिवृत्ति रूप है, अतएव व्यक्तिसबद्ध है एवम् सुखदु खात्मक है। 'रसविश्व' प्रतीतिविश्रान्ति' रूप है, अतएव साधारण्यसबद्ध है एवम् विश्रान्तावस्था के कारण ही आनन्दरूप है। इनके मत के अनुसार, रसास्वाद 'आनन्दघनसवेदना का ही आस्वाद' है; विभावादि वैचित्र्य से इसमें वैचित्र्य आ जाता है एवम् यही रसभेद का कारण है।

रसविचार की इन दो दृष्टियो के कारण इनके रसानुभव के विश्लेषण मे भी भिन्नता आ गयी है। अभिनवगुप्त आदि अभिव्यक्तिवादियो के मत के अनुसार रसास्वाद एक झटितिप्रत्यय है। विवेचन की सुविधा के लिये इसमे कुछ क्रम बताया जा भी सकता है, किन्तु वह केवल अपोद्धारबुद्धि से बताया गया क्रम है। रसास्वाद वस्तुत. विभावोपस्थिति के समकाल ही अखडरूप मे किया जाता है। झटितिप्रत्यय न होना रसास्वाद के लिये विघातक है। बिभाव का साक्षात्कार होते ही रसना-व्यापार निष्पन्न होता है। अनुभवन के कारण तटस्थपरिहार होता है एवम् अभि-नयन के कारण स्वात्मैकगतविश्रान्ति होती है। व्यभिचारीभावो के द्वारा रसना को समुपरजनमूल वैचित्र्य प्राप्त होता है। ये सब व्यापार उपस्थितिसमकाल ही होते है एवम् रसिक को सहसा निर्विघ्नसविद्विश्रान्ति का लाभ होता है। यह सविद्-विश्रान्ति ही आनन्द है। अभिनवगुप्त शृगारविवेचन में कहते है, 'कविना उपनि-बद्धै· नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतै. (विभावै:) सम्यक् अविघ्नभोगात्मक: सभोगो रस उत्पद्यते। झटित्येव, न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते, रसनाक्रिया निष्पद्यते, अपि तु प्रथमावसरे। स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव। तस्य प्रथमकक्ष्यायामेव गोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभि रसै रसना आभिमुख्यं नीयते। अत एव ते अभिनया अनुभावाश्च । . . अनुभावकत्वेन ताटस्थ्यपरिहार । आभिमुख्य-नयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशकानिरास । एव विभावसमये एव रसनीयस्य व्यभिचारिण स्वामेव रसनीयता चित्रयन्त सातिशयं पुष्यन्ति।" रसप्रत्यय झटितिप्रत्यय है एव एकघनसविच्चर्वणारूप है, इसीलिये निर्विघ्नावस्था मे आरभ से अन्ततक आस्वाद्य होता है।

इसके विपरीत उपचयवादियो के मत के अनुसार स्थायी से लेकर रसत्वतक एक क्रम है। विभावो के द्वारा स्थायी उत्पन्न होता, अनुभावो के कारण प्रतीति-योग्य होता है। एव व्याभिचारी भावो के कारण उपचित होता है। इस उपचय के अन्तिम क्षण में इसे रसत्व प्राप्त होता है। स्थायी का उपचय ही न हुआ तो वह भाव ही रह जाता है, एवम् आवश्यक मात्रा में उपचय न हुआ तो इसमें मन्दतरता अथवा मन्दतमता आ जाती है (इन सब बातो की विवेचना पूर्व की जा चुकी है)।

उपचयवादियो की इस उपपत्ति के अनुसार, रसप्रतीति—जैसा कि अभिनवगुप्त ने दृष्टान्त दिया है–गमन क्रिया के समान पर्यत में आनेवाली अवस्था है। यहाँ झटितिप्रत्यय के लिये कोई अवसर नही है। इससे यहाँ अखडसविद्‌विश्रान्ति सभव नही। अतएव, पात्रगत रस, नटगत रस, रसिकगत रस, इस प्रकार लौकिक भूमिका पर उन्हे आना पड़ता है एवम् रस की उभयविधता का स्वीकार करना पड़ता है।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र मे दो भिन्न परम्पराएँ है एवम् इन दोनो के अनुयायी भी अनेक हे। केवलानन्दवादी परम्परा के अनुयायी तो बताये जा सकते है, किन्तु सुखदु:खवादी परम्परा के अनुयायियो के सबध मे कुछ अनुमान करना पड़ता है। एक एक ग्रथकार की उपपत्ति के अनुसार तर्क करने पर इनके सबन्ध में भिन्न रूप मे कुछ अदाज किया जा सकता है —

(१) परिपुष्टिवादियो की सुखदु खवाद की परम्परा –
दण्डी, वामन, लोल्लट, श्रीशंकुक, साख्यवादी, भोज, रामचद्र-गुणचन्द्र।

(२) अभिव्यक्तिवादी अथवा चर्वणावादियो की केवलानन्दवाद की परम्परा–
ध्वनिकार-आनन्दवर्धन, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, प्रभाकर, मधुसूदन सरस्वती, जगन्नाथ।

इन दोनों परम्पराओ को देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है। केवलानन्द-वादी ध्वनिमत को मानते हैं एव सुखदु.खवादियो को ध्वनि-तत्त्व स्वीकार नही है। भट्टनायक आपातत. भोगवादी तो हैं, किन्तु उनके स्वीकृत भावना तथा भोगीकरण के व्यापारों का स्वरूप वस्तुत: व्यजनाव्यापारात्मक ही है यह अभिनवगुप्त ने दर्शाया है। अतएव वे ध्वनिवादियो के निकट हैं।

इन दोनो पक्षों मे ग्राह्याग्राह्यविवेक करने का यहाँ अवसर नही है। क्यो कि दोनो की भूमिकाएँ परस्पर भिन्न है। हमारा अपना विचार है कि अनेक कारणो से अभिनवगुप्त का विवेचन स्वीकार्य है। इनकी उपपत्ति के कारण ही सभी काव्यांगो की व्यवस्था हो सकती है। अतएव इससे अपरिहार्य रूप मे सबद्ध आनन्दवाद ही हम ग्राह्य समझते हैं। इन कारणों की मीमांसा का यहाँ कोई प्रयोजन नही है, और हमारा यह हठ भी नही है कि दूसरों को भी इसी पक्ष का स्वीकार करना चाहिये। किन्तु, जो आधुनिक विमर्शक सस्कृत ग्रन्थों के आधार पर साहित्य-विवेचना करना चाहते है, उनसे हम मित्रभाव से एक विनय करते है। वह यह है कि उपर्युक्त दोनो दृष्टिकोन मूलत. पृथक् है इस बात को वे सदा दृष्टि में रखे। 'स्थायी रसः' यह परिपोषवाद का विचार रस की सुखदु खात्मता में पर्यवसित होता है, तथा 'स्थायिविलक्षणो रसः' यह संविच्चर्वणावादियों का विचार रस की आनन्दरूपता मे परिणत होता है। आधुनिक विमर्शक जब रसमीमासा करते है तब

अभिनवगुप्त की सविच्चर्वणारूप प्रक्रिया को स्वीकार्य मानते है किन्तु इसीके साथ अपरिहार्यरूप मे आनेवाली रसो की आनन्दरूपता का वे स्वीकार नही करते। रस-प्रक्रिया का अध्याय समाप्त कर के जब वे 'काव्यानदमीमासा' का आरम्भ करते है तब परिपोषवाद की मान्यताओ को स्वीकार करके वे रस की सुखदु.खात्मकता निर्धारित करते हैं। इससे उनकी विवेचना मे पूर्वापरसंगति नही रहती। उनकी अभिमत रसप्रक्रिया तथा उन्हे अभिप्रेत रसास्वाद का स्वरूप – इन दोनो मे मेल नही रहता, इससे उनका पूरा रसविवेचन ही आकुल हो जाता है। कोई यह तो नहीं कहता कि रस की सुखदु खात्मकता सिद्ध करना ठीक नही है, किन्तु यदि सिद्ध ही करना हो तब रसप्रक्रिया के लिये भी, बिना किसी हिचकिचाहट, उन्हे परिपोषवाद का आश्रय प्रकट रूप मे करना चाहिये। अभिनवगुप्त की उपपत्ति के अनुसार, रस-स्वरूप 'स्थायीविलक्षण' है, तथा चर्वणा अर्थात् आस्वाद्यता ही रस का भेदक लक्षण है, तथा इसका स्वीकार करने से रस की आनन्दरूपता को भी विवश होकर स्वीकार करना पडता है। सुखदु.खवादी विवेचको को रस की अलौकिकता का तो त्याग करना पडता ही है, किन्तु उसके साथ ही अभिव्यक्तिमत तथा व्यजनाव्यापार का भी त्याग करना पड़ता है। सस्कृत ग्रथो से मनचाहे अंश ला ला कर एकत्रित करना और शास्त्रीय विवेचना मे व्याकुलता निर्माण करना ठीक नही है। प्राचीन ग्रन्थकारो मे यह चचलता नही पायी जाती। 'सुखदु खात्मको रस ' कहते हुए नाट्यदर्पणकार ने अपने विवेचन मे प्रकटरूप में परिपोषवाद ही का स्वीकार किया है। यह तो क्या, जिस जिस ग्रन्थकार ने रस के सुखदु खात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया उसने ध्वनिमत तथा चर्वणवाद का आश्रय ही नही किया। तो अपना विवेचन लौकिक प्रमाणों की सहायता से ही किया। अलौकिक व्यजनाव्यापार उन्होने माना ही नही। उन्होंने रसप्रक्रिया का लौकिक भूमिका पर ही विवेचन किया एवम् काव्यानन्द के कारण का अन्यत्र अनुसन्धान करने का प्रयास किया। किन्तु उन्होने शास्त्र को व्याकुल नही किया।

रस का सामान्य लक्षण तथा विशेष लक्षण

"अलौकिक चर्वणाव्यापारगोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस ," "सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस·," "विभावादिभिः सामाजिकधियि सयोगमासादितवद्भि· अलौकिकनिर्विघ्न सवेदनात्मकचर्वणागोचरता नीतोऽर्थ , चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी, स्थायिविलक्षण एव रसः", इस प्रकार तीन स्थानो में अभिनवगुप्त ने रस का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है। 'आस्वाद्यता' ही रस का भेदक लक्षण है।

रस भी प्रतीति रूप ही है, किन्तु 'आस्वाद्यता' रूप उपाय के कारण यह प्रतीति अन्य प्रतीतिविशेषो से भिन्न है। आस्वाद्यमानता अथवा चर्वणात्मकता की दृष्टि से सब रस तथा भाव एक ही है। अतएव अभिनवगुप्त ने इसे 'सामान्य रस' अथवा 'महारस' कहा है, और बताया है कि शृंगारादि रस इस एक महारस के विशेष निष्यन्द है। एक ही रस के ये विशेष भेद विभावानुभावो के सयोग विशेष के कारण होते हैं। किन्तु विभावादि का यह सयोजन केवल अर्थात् निरपेक्ष नही होता। लौकिक दृष्टि से यह किसी सचारी भाव का अथवा स्थायी का अभिव्यजक होता है। इसके अनुरूप ही भाव तथा विशेष रस इस प्रकार सामान्य रस के विभाग किये गये है। भावो मे भी इनके उदय, सधि, शान्ति, शबलता आदि अवस्थाविशेष उस उस प्रसग मे आस्वाद्य होते है अतएव इनके अनुरूप भावोदय, भावशान्ति आदि भेद माने गये है। इसी प्रकार विशेष रसो मे भी रति, हास, शोक आस्वाद्य होते है तब इनके अनुरूप शृगार हास्य, करुण आदि भेद किये गये है। रति, हास, शोक आदि स्थायी भावो को आस्वाद्यता प्राप्त होने के लिये विभावानुभावों के साथ ही संचारी भावो का भी सयोग आवश्यक होता है। इसका अर्थ यह है कि, जहाँ स्थायी भाव आस्वाद्य होता है वहाँ व्यभिचारी भावो की निरपेक्ष आस्वाद्यता नही रहती। किन्तु कवि के काव्य मे, विशेष कर मुक्तक मे, केवल व्यभिचारी भाव भी निरपेक्ष रूप मे आस्वाद्य हो सकता है। जहाँ स्थायी आस्वाद्य रहता है वहाँ रसध्वनि होता है, एवं जहाँ व्यभिचारी भाव स्वतन्त्ररूप मे आस्वाद्य रहता है वहाँ भावध्वनि होता है। इन सब विभागो का आलेख इस प्रकार होगा—

अब ध्यान मे आयगा कि, 'काव्यस्यात्मा ध्वनि.' अथवा 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' इस प्रकार जब काव्य का वर्णन किया जाता है तब इसमे क्या आशय रहता है। ये लक्षण, रस के सामान्य स्वरूप को लक्ष्य कर के बनाये गये हे। रसात्मक बाक्य का अर्थ है आस्वाद्यमान होनेवाला अर्थ। यह अर्थ लौकिक प्रमाणो का विषय नही है अपितु लौकिक व्यजनाव्यापार द्वारा ही प्रतीत होता है-यह आशय इन वचनों की पृष्ठभूमि मे रहता है, एवम् ग्रन्थकार वृत्ति मे इसे विशद भी करते हैं।

शृगारादि विशेष रसो का पूर्णतया तभी उत्कर्ष होता है, जब कि विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावो का काव्य मे समप्राधान्य रहता है। यह स्थिति मात्र नाट्य मे हो सकती है, अतएव रस का वास्तविक परमोत्कर्ष नाट्य ही में देखा जाता है। महाकाव्यादि प्रबधो मे भी रसोत्कर्ष नाट्य के समान ही प्रतीत होता है किन्तु इस के लिये रसिक को चाहिये कि प्रबन्धार्थ की प्रत्यक्षवत् कल्पना कर सके। मुक्तक मे सामान्यत· भावप्रतीति स्वतंत्ररूप में आस्वाद्य होती है। किन्तु कभी कभी इस में विशेष रस की भी प्रतीति हो सकती है। परन्तु मुक्तक में रसास्वाद प्राप्त करने के लिये रसिक की विशेष योग्यता आवश्यक है। मुक्तक मे विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव इनमे से सभी का वर्णन नही रहता। कभी विभावप्राधान्य रहता है, और कभी अनुभावप्राधान्य ही रहता है। तब पूर्वापर सदर्भ की उचित कल्पना करते हुए, कविद्वारा अकथित, किन्तु आस्वाद के लिये आवश्यक अर्थों का योग न किया जायँ तो मुक्तक मे रसप्रत्यय नहीं हो सकता।

साहित्यशास्त्र मे इस प्रकार नाटच को सम्मुख रखते हुए रसविवेचन किया गया है। किन्तु वह नाट्य तक ही सीमित नही है। आस्वाद्य होनेवाले किसी भी प्रकार के काव्य के बारे मे वह लागू किया जा सकता है। क्योंकि 'रसनाव्यापार-गोचरता' अथवा 'आस्वाद्यता' का धर्म सभी काव्यप्रकारो मे अनुस्यूत रहता है। अतएव अभिनव गुप्त कहते है कि, रसभावादि सभी प्रकार के काव्यार्थ एकही महारस के निदर्शन है।

रसो का स्थायीसंचारीभाव

साहित्यशास्त्र मे रसो का स्थायीसचारीभाव अथवा अगागिभाव भी प्रबधगत काव्य अर्थात् नाटच तथा महाकाव्य की दृष्टि से बताया गया है। नाटच मे अथवा महाकाव्य में, प्रसग के अनुसार अनेक रस रहते है, किन्तु सभी का प्राधान्य नहीं रहता। नाटच का जो नेता हो उसी का कायिक, वाचिक, तथा मानसिक व्यापार सपूर्ण नाटच में व्याप्त रहता है। अन्य सभी पात्रो के व्यापार नायक के व्यापार

के ग्रानुषगिक एवम् उसके ग्रनुसारी रहते हैं। वह चित्तवृत्ति ही स्थायी चित्तवृत्ति है जो नेता के व्यापार मे ग्रभिव्यक्त होती है एवम् सपूर्ण नाटच मे ग्रनुस्यूत होकर प्रतीत होती है। इस चित्तवृत्ति का ग्रनुबधी रस ही स्थायी रस है। ग्रन्य पात्रो की चित्तवृत्तियाँ एवम् तदनुबन्धी रस सचारी होते हैं। भरत ने कहा है—

> बहूना समवेताना रूप यस्य भवेद् बहु ।
> स मन्तव्यो रस स्थायी शेषा. सचारिणो मता. ।।

उत्तररामचरित के प्रथम ग्रक के कुछ ग्रश मे शृगार है, चौथे ग्रक के कुछ ग्रश मे रौद्र है। एवम् पाँचवे ग्रक मे वीर रस है। किन्तु करुण सपूर्ण नाटक मे ग्रनुस्यूत है तथा प्रतीत होता है कि शृगारादि ग्रन्य रस ग्रन्तत. करुणपर्यवसायी ही हैं। ग्रतएव इस नाटक मे करूण ही स्थायी रस है तथा शृंगारादि ग्रन्य रस सचारी हैं। शृगार, वीर ग्रादि रसो की ग्रपनी ग्रपनी निरपेक्ष सत्ता होने पर भी कवि की कृति मे इनमे से किसी एक रस का प्राधान्य तथा ग्रन्य रसो का ग्रगत्व रहता है। जब वे ग्रगित्व से ग्रास्वाद्य होते है तब उनमे स्थायित्व होता है। जब वे ग्रगत्व से ग्रास्वाद्य होते हैं तब उनमे सचारित्व रहता है। परन्तु लज्जा, ग्रमर्ष ग्रादि कभी स्थायी नही हो सकते। वे नित्य सचारी ही रहते हैं। इस लिये, मुक्तक ग्रादि मे जब वे स्वतत्र रूप मे ग्रास्वाद्य होते हैं तब उन्हे भावध्वनि ही कहा जाता है।

भरत ने ग्राठ स्थायी भाव तथा तैंतीस संचारी भावो का निर्देश किया है। स्थायी भाव नाटच मे जब ग्रगत्व से ग्राते हैं तब सचारी ही बनते हैं। इसका ग्रर्थ यह होता है कि भरत द्वारा निर्दिष्ट भावो मे से सभी ग्रर्थात् एकतालीस सचारी हो सकते हैं किन्तु स्थायित्व केवल रति, उत्साह ग्रादि ग्राठ (ग्रथवा शातवादियो के ग्रनुसार नौ) भावो का ही होता है।

रस और पुरुषार्थनिष्ठा

यहाँ सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है कि इन ग्राठ ग्रथवा नौ ही भावो का स्थायित्व क्यो कर हो ? ग्रन्य भावो का भी क्यो नही ? ग्रभिनवगुप्त का इस पर कथन है—" नाटच में ग्रथवा प्रबन्ध मे कवि नायक का वाङ्मन कायरूप व्यापार वर्णन करता है। यह व्यापार ग्रनन्त. किसी ग्रभिप्रेत व्यापार मे परिणत होता है। यह ग्रर्थ है पुरुषार्थ। कविद्वारा वर्णित इस पुमर्थसाधक व्यापारही को 'वृत्ति' की भी सज्ञा दी जाती है। काव्य मे वर्णनीय वृत्तिरूप ही रहता है; किंबहुना, काव्य में वृत्तिशून्य वर्णनीय ही नही रह सकता। ग्रतएव भरत ने 'सर्वेषाम्

एव काव्याना मातृका वृत्तयः स्मृता·।' कहा है। (व्यापार· पुमर्थसाधको वृत्ति·। स च सर्वत्रैव वर्ण्यते इत्यतो वृत्तय काव्यस्य मातृका इति—[उच्यते] न हि किंचिद्व्यापारशून्य वर्णनीयमस्ति)। इसका अर्थ यह है कि, प्रबन्धगत प्रधान नेता का सम्पूर्ण व्यापार पुमर्थ ही मे पर्यवसित होता है, एवम् इसके अनुरूप नेता की चित्तवृत्ति भी पुरुषार्थनिष्ठ ही रहती है। सपूर्ण प्रबन्ध मे व्याप्त नायकव्यापार द्वारा यह चित्तवृत्ति अभिव्यक्त होती है, इस लिये यह सपूर्ण प्रबन्ध मे अनुस्यूत रहती है, और इसीसे यह स्थायी भी होती है। इस प्रकार के भाव केवल आठ (अथवा नौ) ही हैं अतएव स्थायित्व भी इन्हीका हो सकता है। अभिनवगुप्त ने "तत्र पुरुषार्थनिष्ठा काश्चित् सविद इति प्रधानम्" कहा है, एव रत्यादि आठ भावों की पुमर्थनिष्ठा दर्शाते हुए, अन्तत "स्थायित्वं तु एतेषामेव" यह परिणाम निकाला है। नाटच के अथवा प्रबन्धकाव्य के आस्वाद मे रसिक की सविद्विश्रान्ति भी पुरुषार्थनिष्ठ भाव मे ही होती है, अन्य भावो मे निरपेक्षरूपमे सविद्विश्रान्ति नही होती।

नाटच में अभिव्यक्त रत्यादि की पुमर्थनिष्ठा अभिनवगुप्त ने एक और रूप में भी विशद की है। रति, हास, शोक आदि चित्तवृत्तियाँ मानव मे जन्मत ही होती हैं। मानव का सपूर्ण जीवन इन चित्तवृत्तियो की प्रतीतियो से ही व्याप्त रहता है। इन चित्तवृत्तियो से विरहित मानव ही नही होता। हाँ, यह हो सकता है कि, कोई चित्तवृत्ति किसी व्यक्ति में अल्प हो और किसी अन्य व्यक्ति में अधिक हो, किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय से सबद्ध हो और किसी की अनुचित विषय से सबन्ध हो। इनसे किसी एक वित्तवृत्ति का कवि अपने काव्य में पुरुषार्थनिष्ठा होने के नाते वर्णन करता है एवम् अन्य चित्तवृत्तियो का इससे उचित रूप मे मेल करता है। कवि नाटच में अथवा प्रबन्ध में किसी भी वृत्ति का वर्णन करता हो, यदि वह पुरुषार्थनिष्ठ न हो तब वह अनुस्यूत नही हो सकती अथवा वह आस्वाद्य भी नही हो सकती।

रतिशोकादि आठ भाव तथा ग्लानिशकादि तैतीस भावो मे और भी एक भेद है। रतिशोकादि वृत्तियाँ मानव के हृदय मे वासनासस्काररूप मे निरपेक्षतय स्थित रहती हैं। ग्लानि, शका आदि भाव कारण वश आते जाते रहते है। अतएव वासनात्मक होने के कारण रत्यादि का मानव हृदय मे लौकिक दृष्टि से भी स्थायित्व है, तथा ग्लानि शका आदि की आपेक्षिक रूप मे केवल नैमित्तिक सत्ता है। नाटच मे अथवा प्रबन्धगत काव्य मे इन सचारी भावो की स्थायीमुख से ही आस्वाद्यता रहती है; स्थायीनिरपेक्ष आस्वाद्यता नही रहती और स्थायीवृत्ति भी जब नेता के पुरुषार्थनिष्ठ नाटचव्यापी व्यापारद्वारा अभिव्यक्त होती है तभी

आस्वाद्य होती है। अतएव नाट्य म पुरुषार्थनिष्ठ वृत्ति का ही स्थायित्व तथा उसी की आस्वाद्यता रहती है।

रसो का भरतकृत उत्पाद्योत्पादक भाव भी पुरुषार्थनिष्ठ ही है। शृगार के विरोध मे बीभत्स तथा वीर के विरोध मे रौद्र इस प्रकार रसो के युग्म है। इन मे शृगार तथा वीर नायकगत और रौद्र तथा बीभत्स प्रतिनायकगत भावो का अभिव्यजन है। शृंगार तथा वीर चतुर्वर्ग से अनुकूल रूप मे सबधित रहते है, और रौद्र तथा बीभत्स प्रतिकूलरूप मे सबधित रहते है। नाटचगत हास्य रस शृगार के आभास से सबद्ध रहता है; करुण रौद्र का अवश्यभावी फ़ल होता है, वीर की पूर्णता अद्भुत को उत्पन्न करती है; और बीभत्सजनक विभाव भयानक को भी निर्माण करते है इस प्रकार नाट्य मे शृगारादि का हास्यादि से हेतुहेतुमद्भाव रहता है। ये आठों रस नाट्य मे अथवा प्रबन्ध मे पुरुषार्थ से निबद्ध हो कर ही निष्पन्न होते है।

इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि स्थायी की पुरुषार्थनिष्ठता तथा रसो का उत्पाद्य-उत्पादक भाव—दोनो की विवेचना नाटच अथवा प्रबन्ध गत स्थायी रस की दृष्टि से ही की गयी है। अभिनवगुप्त ने स्थान स्थान पर कहा है कि नाटचगत स्थायी को पुरुषार्थनिष्ठा के कारण ही आस्वाद्यता प्राप्त होती है, और अठारहवे अध्याय मे दशरूप विभाग की भी पुरुषार्थनिष्ठता सिद्ध की है। रसो का उत्पाद्य-उत्पादक भाव भी भरत ने रस का नाटचगत सबन्ध दर्शाने के लिये ही निर्दिष्ट किया है। भरत का कथन है कि नाटचगत रसो के इस सबन्ध पर ध्यान देकर ही नाट्य अभिनीत करना चाहिये। अतएव नाटचगत अथवा प्रबन्धगत स्थायी रस का निकष आस्वाद्यता के साथ ही पुरुषार्थनिष्ठा भी है। किबहुना, नाटचगत अथवा प्रबन्धगत नेता का व्यापार पुरुषार्थनिष्ठ न हो, एवम् इस व्यापार मे स्थायी अभिव्यक्त न हो तो स्थायी को आस्वाद्यता ही प्राप्त नही होती।

नाटचगत रसो की पुरुषार्थनिष्ठा से ही भरत का अभिप्राय है। उनका कथन है कि नाट्य मे "क्वचिद्धर्म, क्वचित् क्रीडा, क्वचिदर्थ, क्वचिच्छम।" का दर्शन रहता है। इनमे सभी पुरुषार्थ सम्मिलित हैं। पुरुषार्थ है पुरुष का स्वयप्रार्थित अर्थ। इस स्वयप्रार्थित अर्थ का साधनभूत अर्थ भी पुरुषार्थ कहलाता है। पुरुषार्थलक्षण है,–'स्वयप्रार्थितवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताशालित्व पुरुषार्थत्वम्।' तथा जैमिनि ने पुरुषार्थ का स्वरूप, "यस्मिन् प्रीति- पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात्" (मी. सू. ४।१।२) इस प्रकार बताया है। यह पुरुषार्थ जीवन मे चतुर्विधरूप ही है तथा कोई भी मानवव्यापार चतुर्वर्ग से किसी एक से अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप

में सबद्ध रहता ही है। उद्भट ने भी नाटचगत रस की पुरुषार्थनिष्ठा तथा उसके अनुकूल दशरूपविभाग दर्शाया है। अभिनवगुप्त ने रस की पुरुषार्थनिष्ठा स्थान स्थान पर विशद की है। इतना ही नही, भक्ति को स्वतन्त्र रस का स्थान देने में, मधुसूदन सरस्वती को भी प्रथम 'भक्ति एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ है' यह सिद्ध करना पडा, तभी भक्ति को वे रसत्व दे सके इस बात का भी स्मरण रखना आवश्यक है।

शृगारादि आठ रस है जो नायक के पुरुषार्थनिष्ठ व्यापार मे अभिव्यक्त होते है और इसलिये नाटच अथवा प्रबन्ध मे वर्णित रहते है। शान्त रस नाटच तथा काव्य मे भी फल रूप मे आता है। अतएव अभिनवगुप्त कहते है कि इतने ही विशेष रस हैं। भट्ट लोल्लट का कथन है कि रस यद्यपि अनन्त हो सकते है तथापि विद्वज्जन इन आठ अथवा नौ रसो को ही नाटचरस मानते है तथा उन्होने इनकी सख्या सीमित की है, अतएव इतने ही नाटच रस है। अभिनवगुप्त इस कथन से सहमत नही है। उन्होने अपना मत स्पष्टरूप में अकित किया है—"एते नवैव रसा पुमर्थोपयोगित्वेन रजनाधिक्येन वा इयतामेव उपदेश्यत्वात्। तेन रसान्तर-सभवेऽपि पार्षदप्रसिद्ध्या सख्यानियम, इति यदन्यैरुक्तम्, तत्प्रत्युक्तम्।"

भरत ने नाटच के सम्बन्ध मे जो कहा है वही महाकाव्य अथवा प्रबन्धगत काव्य के लिये भी सत्य है। अतएव महाकाव्यगत रस की कसौटी भी आस्वाद्यता और पुरुषार्थनिष्ठा ही है। अतएव साहित्यमीमासक कहते है कि महाकाव्य 'चतुर्वर्गफलोपेत' तथा 'रसभावनिरन्तर' होना चाहिये। मुक्तक में भी जब कभी रस ध्वनित होता है तब यह पुमर्थनिष्ठा गृहीत रहती है।

प्रबन्धगत रस की कसौटी का इस प्रकार द्विविध स्वरूप होने से रसमीमासको के समक्ष कला तथा जीवन मे सबन्ध क्या है इस विषय मे प्रश्न नही निर्माण हुए। पुमर्थ की कसौटी के कारण रस जीवननिष्ठ रहा, तथा आस्वाद्यत्व की कसौटी के कारण अन्य वाङ्मय से काव्य की विशेषता प्रस्थापित की गयी।

रस तथा भाव में परस्पर सबन्ध

नाटचगत रस तथा भाव में परस्पर सबन्ध क्या है यह भी एक रसविषयक प्रश्न है। इसका उपन्यास भरत ही ने किया है—"किं रसेभ्यो भावानामभि-निर्वृति. उत भावेभ्यो रसानामिति।"—नाटचगत रस से भावो की निष्पत्ति होती है अथवा भावो से रसो की निष्पत्ति होती है? इस प्रश्न के विचार मे दूसरों के मतो का प्रथम निर्देश करते हुए अभिनवगुप्त ने अन्त मे अपना मत भी निर्दिष्ट किया है। इन मतो का सक्षेप नीचे दिया जाता है।

एक मत है कि नटाश्रित रस के कारण रसिक में भावनिष्पत्ति होती है। उदाहरण के लिये, नटगत करुण से रसिकगत शोक जागृत होता है एवम् इस शोक का विभावादि से परिपोष होने पर रसिक में भी रस निष्पन्न होता है। इस प्रकार रस तथा भाव एक दूसरे को कालभेद से निष्पन्न करते हैं। अनेक विद्वान् यह भी कहते हैं कि–राम तथा नट में पहले ही से भाव रहता है। इसका उपचय होने पर रस होता है तथा रस का अपचय होने पर भाव होता है। ये दोनों मत उपचयवादी अथवा परिपोषवादियो के हैं। अभिनवगुप्त इस पक्ष को मानते नही क्योकि उनके मत मे रस का यह स्वरूप ही नही है।

श्रीशकुक का कथन है — नाटचप्रयोग के समय हम नटगत रसपर से रामादि के भावों का अनुमान करते है (रसेभ्यो भावा); किन्तु नाटचाचार्य की शिक्षा के अनुसार नट जब मूल प्रकृति का अनुकरण करता है तब नटगत भाव के रस होते है (भावेभ्यो रसा); इस प्रकार भरत द्वारा उपस्थित किये गये दोनो पक्ष हो सकते है। अभिनवगुप्त का कथन है कि यह भी मत ठीक नही है; क्योकि दर्शक की प्रतीति मे, यह अनुकर्ता नट तथा यह अनुकार्य राम इस प्रकार विभागप्रतीति ही नही रहती।

अभिनवगुप्त के मत में भरत के इस प्रश्न का स्वरूप ही कुछ दूसरा है। वह इस प्रकार है—रस के कारण भाव (विभावादि) सपन्न होते है, अथवा भाव (विभावादि) के कारण रस सपन्न होते है? अथवा वे अन्योन्यजनक है? इन प्रश्नो के निर्माण होने का कारण यह है कि भरत न कथन किया है, विभावादि से रसनिष्पत्ति होती है। तब विभावादि का रस की दृष्टि से पूर्ववर्तित्व हुआ। किन्तु व्यवहार मे विभावानुभावो की वास्तविक सत्ता ही नही रहती। जिन्हे हम विभावानुभाव कहते हैं वे तो प्रत्यक्ष व्यवहार में कार्यकारण होते हैं। जब इनका उपयोग रस के अर्थात रसनाव्यापार के लिये किया जायगा तभी इनको विभावानुभावत्व प्राप्त होगा, इससे पूर्व नही। इस दृष्टि से विभावादि की अपेक्षा रस का पूर्ववर्तित्व है। अच्छा भावादि से रस और रसादि से भाव इस प्रकार कहने पर इतरेतराश्रयत्व का दोष होता है।

इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—काव्यगत विभाव प्रतीत न हुए तो रस निर्माण ही नही होता। इससे यह स्पष्ट है कि रस से भावनिष्पत्ति नही होती। 'भाव' शब्द के अर्थ से भी यही प्रतीत होता है। भावलक्षण है कि भाव वे होते हैं जो विविध अभिनय से संबद्ध होने पर अर्थात् अभिनयद्वारा हृदयगत होने पर रस बनते हैं। जिस प्रकार नानाविध व्यंजनद्रव्य (मसाला) अन्न में रुचि उत्पन्न करते है उसी प्रकार विभावादि के अभिनयद्वारा ही काव्यार्थ आस्वाद्य होता है।

तब भावरहित रस हो ही नही सकता (न भावहीनोऽस्ति रसः)। किन्तु यह भी सत्य है कि रस के अतिरिक्त अन्यत्र अर्थात् लौकिक व्यवहार में विभावादि की सत्ता नही रहती (न भावो रसवर्जित)। फिर यह कूट सुलझे कैसे? इस पर उत्तर है कि रस तथा भाव द्वारा परस्पर सिद्धि अभिनय के आश्रय से होती है। (परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्)। रस तथा भाव दोनो का आश्रय अभिनय है। लौकिक कारण ही विभाव बनते है। कब? अभिनय की भूमिका पर, अन्यत्र नही, और अभिनय रसाभिमुख ही रहता है। साराश, अभिनय रूप एक ही क्रियाद्वारा रस तथा भाव दोनो की परस्पर सिद्धि होती है। इसमें इतरेतराश्रय का दोष नही हो सकता। जैसे व्यजनद्रव्य का सयोग अन्न में स्वादुत्व लाता है तथा व्यजनद्रव्य को भी आस्वाद्य बनाता है, वैसे ही एक ही अभिनय क्रिया के कारण, भाव से रस अर्थात् रस्यमानता निर्माण होती है, एवम् इस रस्यमानता से ही कारणादि को विभावत्व प्राप्त होता है। एक ही आश्रय पर एक ही क्रियाद्वारा इतरेतराश्रयत्व हो तो वह दोष है, किन्तु एक ही आश्रय पर क्रियाभेद से अन्योन्याश्रयत्व हो तो वह दोष नही होता। उदाहरण के लिये, पट की अपेक्षा से ततुओ का कारणत्व है और ततुओं की अपेक्षा से पट का कार्यत्व है। इसमें इतरेतराश्रयत्व दोष नही है, ऐसा ही रसभावो का भी है। रस की अपेक्षा से लौकिक कारणों का विभावत्व है, तथा विभावादि की अपेक्षा से रस की निष्पत्ति है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि भाव से रस निष्पन्न होता हो, तब 'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थ. प्रवर्तते' बिना रस के कोई भी नाटचगत अर्थ प्रवर्तित नही होता — यह भरत ने क्यों कर कहा है? इसका समाधान इस प्रकार है —

> यथा बीजाद्भवेत् वृक्षो वृक्षात् पुष्प फल ततः।
> एव मूल रसा सर्वे तेभ्यो भावा प्रवर्तिता.॥

बीज जैसे वृक्ष का मूल होता है, वैसे ही कविगत साधारणीभूत सवेदन ही काव्यव्यापार का तथा नटव्यापार का मूल है। **कविगत साधारणीभूत संवेदना ही परमार्थत· रस है**। इस कविगत रस के कारण ही सम्पूर्ण काव्यव्यापार प्रवर्तित होता है। कविगत रस ही की नाटच अथवा काव्यद्वारा रसिक को हृदयसवादबल से प्रतीति होती है, इस प्रतीति मे वह विश्रान्त होता है — यह अनुभव करने के उपरान्त, अपने अनुभव को जब वह अपोद्धारबुद्धि से (विश्लेषण करने के हेतु) देखता है तब उसे विभावादि का बोध होता है एवम् कवि के प्रयोजन मे, काव्य-नाटच मे, तथा सामाजिक की प्रतीति मे विभावादि की ही सत्ता उसे दिखायी देती है। (कविगतसाधारणीभूतसविन्मूलश्च काव्यपुर.सर. नटव्यापारः। सर्वा सवित्

परमार्थतो रस । सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चात् अपोद्धारबुद्ध्या तत्प्रतीतिः इति प्रयोजने, नाट्ये, काव्ये, सामाजिकधियि च त एव । —अ. भा.)। साराश, काव्यगत सपूर्ण व्यापार का उद्गम कविगत साधारणीभूत संविद् में ही होता है।

कविरसिकसवाद

अभिनवगुप्त ने यहाँ हमे काव्यप्रतीति के उद्गम के पास ही लाया है। काव्य के सबन्ध में उन्होने हमे यहाँ दो महत्त्व की बाते कथन की है। काव्य मे कविगत साधारणीभूत सवित् व्याप्त रहती है। यह कविगत सवित् ही परमार्थत रस है। काव्यनाटच मे जो व्यक्ति हम देखते हैं वह इस सवित् को रसिक तक पहुँचाने का कविका साधन है, और इसी हेतु कवि इसे उत्पन्न करता है। यह व्यक्ति माधव के समान कविकल्पित हो सकती है, अथवा कवि द्वारा रामादि के समान इतिहास से भी ली जा सकती है। कुछ भी हो, अपना साधारणीभूतप्रत्यय रसिक तक सक्रान्त करने का एक माध्यम इसी रूप मे कवि इसका उपयोग करता है। अतएव इसे 'पात्र' की संज्ञा है। (अतएव पात्रमिति उच्यते)। कवि का यह प्रत्यय उसका व्यक्तिगत मनोविकार नही है अथवा यह उसका व्यक्तिगत सुखदु ख भी नही है। साधारण्य की भूमिका पर प्रतीत यह उसकी अनुभूति है। अपने लौकिक जीवन मे कवि जो कुछ देखता है अथवा अनुभव करता है उसे वह उसी रूप मे रसिक के समक्ष प्रस्तुत नही करता। उसे उसी रूप मे प्रस्तुत करना काव्य ही न होगा। वह तो केवल 'काव्यानुकार' होगा। यह अनुकार तो 'आलेख्यप्रख्य' अथवा 'रसजीव-रहित प्रतिकृति' है। वह सजीव काव्य नही है। कवि का लौकिक अनुभव उसकी प्रतिभा के प्रभाव से निखर उठता है। कवि के व्यक्तिबन्ध अथवा उसकी "परिमित प्रमातृता" मे यह प्रतीति फँसती नही। कवि अपने प्रतिभाबल से अपने अनुभव को व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठाता है, एवम् उसे साधारण्य की भूमिपर लाता है। यह साधारण्य भी परिमित नही रहता। कवि का साधारणीभूत अर्थ इतना व्यापक बनता है कि सारे विश्व मे वह व्याप्त हो सके। अभिनवगुप्त ने इस सबन्ध मे कहा है—"स्वात्मद्वारेण विश्व तथा पश्यन्।" यह प्रतीति रसिक तक सक्रान्त करने के लिये जिस चीज को वह उठाता है वह भी साधारणीभूत ही रहती है। इन साधारणीभूत उपायो की चर्वणा से आस्वाद्य बना हुआ उसका अनुभव, लौकिक अनुभव ही नही रहता। वह उसकी आत्मा में ही व्याप्त हो जाता है, उसका भावजीवन इस अनुभव से सराबोर हो जाता है तथा इसी अवस्था में अकृतकता से अर्थात् सहज रूप में (कृत्रिमता का स्पर्श भी न होते हुए) यह

अनुभव उसके शब्दो के द्वारा अभिव्यक्त होता है। कवि का भावजीवन जबतक इस अनुभव से पूर्णतया व्याप्त नही होता तबतक यह शब्द द्वारा बाहर भी नही आता। (यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्–भट्टनायक)। कवि के शब्दार्थ लौकिक ही रहते है, किन्तु वे उसके अनुभव से इस प्रकार सन जाते है कि, जैसे किसी के अकृत्रिम विलाप से अथवा प्रशसावचनो से शोकवृत्ति अथवा आदरवृत्ति प्रतीत होती है वैसे ही कवि की इस अकृत्रिम वाणी से उसकी विश्वव्यापक प्रतीति अभिव्यक्त होती है।

कवि के काव्य का निर्माण कैसे होता है इसकी कुछ कल्पना इस से की जा सकती है। ध्वन्यालोक के 'शोक· श्लोकत्वमागत.' इस वचन के व्याख्यान मे यह अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है। पाठक इसे मूल से ही समझ ले। मूल भाग यहाँ उद्धृत करने के मोह का विस्तार भय से सँवरण करना आवश्यक है।

दूसरी महत्त्व की बात यह है कि रसिकगत प्रतीति भी कविगत प्रतीति ही रहती है। कविका साधारणीभूत प्रत्यय तथा रसिक को काव्यपठन से प्राप्त साधारणीभूत प्रत्यय एक ही अर्थात् एक जातीय ही होते है। यही हृदयसवाद अथवा वासनासवाद है। सवाद का स्वरूप है, "एकत्र दृष्टस्य अन्यत्र तथा दर्शनं सवाद।" नाटकगत नायक इस वासनासवाद का माध्यम है। कवि का अनुभव नायकद्वारा रसिकतक सक्रान्त होता है। कवि, नायक तथा रसिक के अनुभव की जाति, दर्जा और स्तर एक ही होता है। भट्टतौत कहते है। — "नायकस्य कवे श्रोतु समानोऽनुभवस्तत.।" रसिक का हृदयसवाद कवि से होता है। "कविसवित् ही परमार्थत रस है एवं रसिक को इसकी प्रतीति होती है।" इन शब्दो में अभिनवगुप्त ने हृदयसवाद का स्वरूप कथन किया है।

रसविश्व

भट्टतौत कहते है, "कवि तथा श्रोता दोनो का समान अनुभव रहता है," अभिनवगुप्त अभिनवभारती मे कहते है, "कविर्हि सामाजिकतुल्य एव," तथा लोचन के आरभ मे उन्होने कहा है कि सरस्वती का तत्त्व "कवि सहृदयात्मक" होता है। कवि से लेकर सहृदयतक एक ही विश्व है तथा यह इन दोनो मे व्याप्त है। यही रसविश्व है। भरत के बीजवृक्ष दृष्टान्त को विशद करते हुए अभिनवगुप्त इस रसविश्व की कल्पना स्पष्ट करते है। वे कहते है —

"एव मूलबीजस्थानीय कविगतो रस, ततो वृक्षस्थानीय काव्यम्, तत्रपुष्पस्थानीय अभिनयादिनटव्यापार', तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वाद.। तेन रसमयमेव विश्वम्।"

इस अलौकिक रसविश्व का विवेचन लौकिक विश्व के व्यक्तिगत स्तर से करना तथा रसास्वाद को व्यक्तिगत मनोविकार समझते हुए इस विकार की उत्कटता के द्वारा रसस्वरूप विशद करना कहाँतक ठीक होगा, पाठक स्वय निर्णय करे। अभिनवगुप्त भी जानते थे कि रसविवेचन मे इस प्रकार भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु उन्हे अपेक्षित है कि ऐसी भ्रान्ति न हो। रसविश्व की साधारणीभूत प्रतीति के स्तर से लौकिक नियतनिष्ठता के स्तर पर पाठक किसी भी कारण से आ सकता है। विभावो के स्थान मे कारणत्व का गन्ध मात्र इस भ्रान्ति के लिये पर्याप्त है। अतएव अभिनवगुप्त बारबार कहते है कि, 'रसिक जन, विभावादि अलौकिक है, इन्होने कारणत्वादि की लौकिकभूमि अतिक्रान्त की है; विभावन-अनुभावन-समुपरजन ही इनका काव्यगत प्रयोजन है। यह प्रयोजन भी अलौकिक है तथा इनकी विभावादि सज्ञाएँ भी अलौकिक है। रसिक के पूर्वकालीन कारणादि सस्कारो पर ही विभावादि का उपजीवन है, तथापि विभावनादि प्रयोजन ही इनका काव्य मे भेदक लक्षण (आख्यापन) है; अतएव यह भेदकावस्था रसावस्था मे कभी आँखो से ओझल न हो इसीलिये साहित्यशास्त्र में इन्हे विभावादि की ही सज्ञाएँ दी गयी है।"— "लौकिकी कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तै, विभावन—अनुभावन—समुपरजकत्व-मात्रप्राणै, अलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भि, प्राच्यकारणादिसस्कारोपजीवना ख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यै"—

• • •

अध्याय सत्रहवाँ
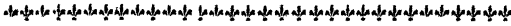
ध्वनि के विरोधक

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा ।
अर्थापत्ति क्वचित्तन्त्र समासोक्त्याद्यलकृति ॥
रसस्य कार्यता भोगः व्यापारान्तरबाधनम् ।
द्वादशेत्थ ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तय ॥
— जयरथ

पूर्वगत दो अध्यायो में रसविवेचन का स्वरूप बताया गया है। रसविवेचन नाटचशास्त्रातर्गत रसविवेचन का आनुषगिक है तथापि वह केवल नाटच तक ही सीमित नही है। वह काव्य के सबन्ध मे पूर्णतया लागू हो सकता है। भरत के नाटचरस काव्यरस भी है; तथा काव्यगत अर्थ भी 'नाटचायमान' होकर रसिक के अन्तश्चक्षु के सामने काव्यगत भाव 'प्रत्यक्षवत् स्फुट' रूप मे साक्षात्कृत होते है।

शब्दार्थमय काव्य मे भी रसप्रतीति होती है। इस, रसिक के अनुभव से सिद्ध भूमिका का स्वीकार करने पर, काव्यगत शब्दार्थो का रस से सबन्ध स्पष्ट हो जाता है। काव्यगत सभी अर्थ रसोन्मुख बनते है; वक्रोक्ति भी रसनिरपेक्ष नही रह सकती; अलकार भी रसपरतत्र बनना आवश्यक होता है, काव्यगत प्रत्येक छोटी मोटी बात, तद्वत् वर्ण, छन्द, नाद, रस को उपकारक होने चाहिये; इन सभी का रसौचित्य की दृष्टि से सनिवेश किया जाना चाहिये; और साहित्यमीमासक को भी रसप्रतीति की दृष्टि से ही इन सबका विवेचन करना पड़ता है। महाकवियों के काव्य मे प्रतीत होनेवाले इस रसोचित शब्दार्थसंनिवेश का स्वरूप विशद करने मे,

लौकिक शब्दशास्त्र (व्याकरण), वाक्यशास्त्र (मीमासा), तथा प्रमाणशास्त्र (न्यायशास्त्र) का अशतः उपयोग होता है, किन्तु अन्ततक इनका साथ नही रह सकता। इससे, इस "रसोचित शब्दार्थसनिवेश" का एक पृथक् शास्त्र ही बन जाता है तथा चारुत्वप्रतीति का — जिस का शब्दार्थद्वारा बोध होता है— विवेचन करना इस शास्त्र का प्रयोजन है। शब्दार्थद्वारा चारुत्वप्रतीति होने के लिये शब्दार्थो मे परस्पर संबन्ध किस रूप मे होना चाहिये, उनमें कौनसी और किस रूप की विशेषताएँ होती हैं, आदि बिषयो का विवेचन, महाकवियो की कृतियो के तथा सहृदय रसिको के अनुभव के आधारपर करना ही इस शास्त्र का कार्य है। "चारुत्व-प्रतीतिशास्त्र" जब अपना यह कार्य प्रारंभ करता है तब शब्दार्थों से सबद्ध अन्य शास्त्रो से उसका सघर्ष होता है। भामह के समय इस सघर्ष का स्वरूप क्या था इस पर पूर्वार्ध मे विवेचन किया गया है। ध्वनिकार के काम मे इस सघर्ष को तीव्रता प्राप्त हो गयी थी। इस सघर्ष की अग्निपरीक्षा मे ध्वनिमत अन्तत सफल रहा तथा अलकारशास्त्र मे सदा के लिये प्रस्थापित हो गया।

ध्वनिमत का आविर्भाव होते ही इस पर चारो ओर से आक्रमण हुआ। इसमें, मीमासक, नैयायिक, वैयाकरण तथा इनके साथ ही कई आलकारिको ने भी यथासभव भाग लिया। इसे ठीक तरह से समझने के लिये — ध्वन्यालोक, लोचन, वक्रोक्तिजीवित, शृगारप्रकाश, सरस्वतीकठाभरण, व्यक्तिविवेक, अभिधावृत्ति-मातृका, प्रतिहारेन्दुराजकृत उद्भट पर टीका, अभिनवभारती के कुछ अध्याय तथा मम्मटकृत काव्यप्रकाश— इन ग्रन्थो का परिशीलन तो करना ही पड़ता है। अलकार शास्त्र के इस काल मे किये गये विवेचन मे क्या क्या पृथक् भेद थे और प्रत्येक ग्रन्थकार अपना विचार किस आग्रह से प्रस्तुत करता था यह इस परिशीलन से स्पष्ट होगा। इन सब वादो को यहाँ उद्धृत करना अत्यत असभव है। आनन्दवर्धन से मम्मट तक लगभग २०० वर्षो मे साहित्यमीमासा मे विचार की दृष्टि से जो आदोलन हुआ उसी का स्थूल रूप मे यहाँ परिचय देने का निम्नाकित प्रयास है।

ध्वनि के विरोधक

जयरथ का कथन है कि ध्वनि के विरोध में कुल बारह मत थे। मूल कारिकाएँ — जिनमे इनका एकत्र निर्देश है— ऊपर दी गयी हैं। ये द्वादश मत है—

१. मीमांसकों का कथन था कि ध्वनि अथवा व्यंजना रूप पृथक् व्यापार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, ध्वनि का अन्तर्भाव 'तात्पर्यशक्ति' में होता है।

२ कोई मीमासक ऐसे थे जो कि, 'यत्पर शब्द. स शब्दार्थ.' इस न्याय के आधार पर, ध्वनि का अन्तर्भाव अभिधा मे ही करते थे ।

३ } लक्षणावादी, जो कि ध्वनि का अन्तर्भाव द्विविध लक्षणा में ही
४ } मानते थे ।

५. } नैयायिक, जो कि ध्वनि का अन्तर्भाव दो प्रकार के अनुमान मे ही
६. } मानते हैं ।

७ साहित्यविमर्शक जो कि ध्वनि को तत्र का ही (उभय अर्थो मे बोलने का) एक और प्रकार कहते थे ।

८. ऐसे विमर्शक जिनके मत के अनुसार ध्वनि का समावेश अर्थापत्ति में है।

९ आलंकारिक जो कि समासोक्ति, पर्यायोक्त आदि अलकारो मे ही ध्वनि का अन्तर्भाव करते थे ।

१० प्राचीन काव्यशास्त्री, लोल्लट तथा उनके अनुयायी जिनकी मान्यता थी कि रस विभावादि का कार्य है ।

११. भट्टनायक तथा उनके अनुयायी— इनका विचार था कि रस ध्वनित नही होता अपितु भोगीकरण रूप व्यापार द्वारा इसका अनुभव किया जाता है ।

१२. 'ध्वनि अनिर्वाच्य है' इस विचार का एक पक्ष (व्यापारान्तरबाधनम्)

उपर्युक्त मतो से अनेक मतो का परीक्षण, पूर्वगत अध्यायों मे प्रसगवश किया जा चुका है । तीसरे और चौथे मत के अनुसार ध्वनि का अन्तर्भाव द्विविध लक्षणा मे ही होता है । लक्षणा के दो भेद है—द्वितीय लक्षणा तथा विशिष्ट लक्षणा । लक्षणा का प्रयोजन लक्षणा मे अन्तर्भूत क्यों नही हो सकता, तथा इसलिये व्यजनाव्यापार स्वीकार करना आवश्यक क्यो होता है इसका विवेचन लक्षणा के अध्याय मे किया जा चुका है । सातवे मत के अनुसार ध्वनि तन्त्र ही का एक भेद है । इस मत के अनुसार ध्वनि तथा श्लेष एक ही हो सकते हैं । ध्वनि तथा श्लेष दोनो एकाकार क्यो नही हो सकते यह अभिधामूलव्यंजना के विचार मे सक्षेपत दर्शाया गया है । दसवाँ लोल्लट का तथा ग्यारहवाँ भट्टनायक का मत रसविवेचन मे निर्दिष्ट किया गया है । पाँचवाँ तथा छठा मत अनुमानवादियो का है । इस पक्ष की मान्यता के अनुसार ध्वनि अनुमान मे ही अन्तर्भूत है । शकुक— जो कि रस को अनुमित मानते थे— इस मत के आचार्य थे । शकुक का विचार तथा इसकी आलोचना पूर्व की गयी है । अभिनवगुप्त के बाद तथा मम्मट से पूर्व महिमभट्ट नाम के एक आलंकारिक हो गये । उन्होंने अपने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में यह दर्शाने का प्रयास किया है कि सभी ध्वनि भेदों का अन्तर्भाव अनुमान ही मे

होता है। किन्तु इनके विचार के दोष मम्मट ने काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास में तथा 'शब्दव्यापारविचार' मे भी दर्शाये है। यहाँ एक अडचन पाठको के विचार के लिये प्रस्तुत करना उचित होगा। जयरथ ने कारिका मे 'द्विधा अनुमिति' अर्थात् 'दो प्रकार के अनुमान' का निर्देश किया है। ये दो अनुमान प्रकार कौनसे है इस बात का निर्णय प्रकृत लेखक नही कर सका। डॉ राघवन् ने अपने शृगार-प्रकाश पर लिखे प्रबन्ध मे अनुमान के दो प्रकार— स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान सूचित किये है। किन्तु, कई कारण है कि जिन से लगता है कि ये दोनों भेद यहाँ अपेक्षित नही है। श्री आनन्दप्रकाश दीक्षित ने अपने 'रस की व्याख्याओ के दार्शनिक आधार' इस लेख मे (आलोचना, त्रैमासिक, अक्तूबर १९५३), शकुक के मत के विवेचन मे 'पूर्ववत्' तथा 'शेषवत्' इन अनुमानो का प्रयोग सिद्ध किया है। सभव है कि ये दोनो अनुमान अपेक्षित थे, किन्तु इस विषय मे निर्णय करना कठिन है। आठवे मत के अनुसार ध्वनि का अर्थापत्ति मे अन्तर्भाव होता है। यह मत किस का है बताया नही जा सकता। अर्थापत्ति अनुमान ही का प्रकार विशेष है, और 'अर्थापत्ति से ध्वनि भिन्न क्यो है, यह अभिनवगुप्त ने लोचन मे दर्शाया है।

अभाववादी

ध्वनिकार के समय ही दो पक्ष थे— एक पक्ष ध्वनि का अन्तर्भाव अलकार ही में करते थे और दूसरा पक्ष ध्वनि को अनिर्वचनीय बताता था। इनका निर्देश प्रथम ध्वनिकारिका मे किया गया है।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व
तस्याभाव जगदुरपरे, भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचा स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्

यहाँ 'तस्याभाव जगदुरपरे' इस अश मे निर्दिष्ट है अभाववादी आलंकारिक। ध्वनि को भाक्त बनानेवाले है लक्षरणावादी, तथा तृतीय चरण मे अनिर्वचनीय-वादियो का निर्देश है।

अभाववादियों का कथन है— काव्यसौंदर्य का जब विश्लेषरण किया गया तब उसमें गुरण, अलंकार, रीतियाँ, उपनागरिकादि वृत्तियाँ आदि वस्तुएँ प्राप्त हुई। इनके अतिरिक्त ध्वनि नामक कोई चीज नही देखी गई। अच्छा जितनी सौदर्य-कारक बातें पायी गयी है उन सभी का अन्तर्भाव पर्यायोक्त, समासोक्ति आदि अलकारों में ही हुआ दिखायी देता है। इन से ध्वनिबादियों ने एक अंश उठा लया एवम् उसीको ध्वनि नाम देते हुए वे आनन्दवश नाचने लगे है कि, "हमने

कुछ नई बात खोज निकाली है"। अभिवनगुप्त के निर्देश के अनुसार 'मनोरथ' नाम का कवि था जिसने यह आलोचना की है। इस पर आनन्दवर्धन का कथन है कि, "समनासोक्ति आदि कतिपय अलकारो मे व्यग्य है अवश्य, किन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण है। वह ध्वनिकाव्य नही है। ध्वनि तभी होता है जब कि व्यग्यार्थ प्रधान रहता है। इसके अतिरिक्त, कुछ अलकारो मे ध्वनि है, इस पर से यह कहना उचित नही होता कि सम्पूर्ण ध्वनि अलंकारो मे ही अन्तर्भूत हो जाना है। ध्वनि का विषय अलकारो से बहुत ही अधिक व्यापक है। वैसे ही लक्षणामूल ध्वनि लक्षणापर आधारित रहता है, इस से सम्पूर्ण ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा मे नही किया जा सकता। लक्षणा ध्वनि का लक्षण नही हो सकती। हॉ, कतिपय ध्वनिभेदो का वह उपलक्षण हो सकती है। अनिर्वचनीयवादी तो अपनी 'शालीनबुद्धि' के कारण ध्वनि का लक्षण नही कर पाते। उनके लिये हम ध्वनि-स्वरूप विशद करेगे। किन्तु ध्वनि को अनिर्वचनीय कहने मे यदि उनका अभिप्राय यह है कि, 'ध्वनि का स्वरूप लोकोत्तर है,' तब हमे कोई आपत्ति नही।–"

दीर्घ-अभिधावादी

प्रभाकर मीमासक दीर्घ-अभिधावादी है एव वे अन्विताभिधानवाद के समर्थक है। इन की मान्यता है कि, 'यत्पर शब्दः स शब्दार्थ' अर्थात् शब्द का अन्तत जहॉ पर्यवसान होगा वही उस का वाच्यार्थ होगा। अपने कथन की पुष्टि के लिये वे धनुष से चलाये गये बाण का उदाहरण लेते हैं। 'सोयमिषोरिव दीर्घ दीर्घ तरो व्यापार'– जैसे धनुष्य से चलाया गया बाण एक ही वेग रूप व्यापार से कवच का भेद करता है, मर्मच्छेद करता है तथा अन्त मे प्राणहरण भी करता है; वैसे ही शब्द का एक ही अभिधारूप व्यापार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यग्यार्थ सभी का बोध कराता है। अतएव इनका मत है कि व्यजनाव्यापार स्वीकार करने की आवश्यकता नही है। अभिनवगुप्त इसपर कहते है कि मीमासक जिस दीर्घतर व्यापार को स्वीकार करते है, वह एक ही व्यापार है अथवा अनेक व्यापारो का समूह है? वह एक ही तो नही हो सकता, क्योकि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ–जो परस्परभिन्न है—एकही व्यापार के विषय कैसे हो सकते है? यदि मान लिया कि अनेक व्यापारों का यह समूह है, तो ये सभी व्यापार सजातीय नही हो सकते, क्योकि इनके विषय सजातीय नही है। और इन व्यापारो को सजातीय मान भी लिया, तो मीमासको के एक दूसरे नियम, 'शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापारभाव.' का बाध होगा। अतएव इन व्यापारो को विजातीय ही मानना पडेगा, और इन व्यापारो को बिजातीय मानने से ध्वनिपक्ष आ ही जाता है; क्योंकि फिर वह एक ही दीर्घ-

व्यापार नही रहता। अच्छा, इस व्यापार को दीर्घ कहने मे यदि 'झटितिप्रत्यय होना' यह अभिप्राय है तब जिस व्यग्यार्थ के झटिति प्रत्यय के लिये आप अभिधा को दीर्घ मानते हैं, उसमे अभिधा का सकेत नही रहता। तब अभिधा से उसका प्रत्यय ही कैसे हो सकता है ? इस मत का खण्डन काव्यप्रकाश मे भी विस्तार से किया गया है। पाठक अवश्य देखें·

तात्पर्यवाद

ध्वनिकार के, सब से बड़े विरोधक है, तात्पर्यवादी भाट्ट मीमासक। लोचन से प्रतीत होता है कि ये मीमासक अभिहितान्वयवादी थे और इन्हे प्राभाकर तथा वैयाकरणो की भी सहायता थी। आनन्दवर्धन का इन्होने विरोध तो किया ही है, किन्तु बाद में भी धनिक तथा धनजय ने इस पक्ष की दशरूप मे पुष्टि की। ध्वन्यालोक मे किया गया तात्पर्यवादियो का खडन (तृतीय उद्योत) तथा दशरूपावलोक मे किया गया ध्वनिमत का खडन—दोनो को साथ साथ पढने से, इनके विरोध का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यहाँ इसका सपूर्ण विवेचन करने के लिये अवसर नही है; किन्तु संक्षेप मे इसका स्वरूप हम देख ले।

तात्पर्यवादियों का कथन है—तात्पर्यशक्तिद्वारा ही ध्वनि का ग्रहण होता है, अतएव ध्वनिरूप पृथक् व्यापार मानने की आवश्यकता नही है। काव्यार्थ में वाच्यार्थ से पृथक् रूप मे जो अर्थ प्रतीत होता है वह प्रधान होगा अथवा गौण होगा। जब वह प्रधान होता है, तब वाक्यार्थ की अन्तिम विश्रान्ति उसीमे होने से, वह उस वाक्य का तात्पर्य ही तो है। इसलिये उसका ग्रहण तात्पर्यशक्ति से ही होता है। इसके लिये पृथक् व्यापार मानने की आवश्यकता ही क्या ? हाँ, यह तो ठीक है कि इस तात्पर्यग्रहण की क्रिया में एक पृथक् अर्थ (वाच्यार्थ) मध्यम अवस्था में पाया जाता है। किन्तु वह तात्पर्यप्रतीति के उपाय के रूप मे रहता है। जैसे कि पदार्थप्रतीति वाक्यार्थप्रतीति का उपाय है, वैसे ही ये मध्यगत वाक्य तात्पर्यप्रतीति के उपाय है।

इसपर आनन्दवर्धन कहते है, "शब्द का वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ एक ही नही होते। इन से प्रथम अर्थ शब्द का वाच्यार्थ होता है, किन्तु द्वितीय अर्थ प्रथम अर्थ की अवगमन शक्ति से ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त, वाचकशक्ति तो केवल शब्द ही में हो सकती है, किन्तु अवगमनशक्ति संगीत आदि अवाचक स्वरो में भी रह सकती है। और तो क्या, शरीरचेष्टा से भी अभिप्राय व्यक्त हो सकता है। 'अनया मृगाक्ष्या कटाक्षेणाभिप्रायोव्यंजितः' यह वाक्य दर्शाता है कि कटाक्षद्वारा अभिप्राय व्यक्त हुआ है। तब अवगमनशक्ति और वाचकशक्ति एक ही है इस कथन

मे क्या अर्थ रहा ? और तात्पर्यशक्ति–जो वाच्यार्थ ही से सबद्ध रहती है–अवगमन-व्यापार तथा व्यंजनाव्यापार दोनों को अन्तर्भूत कर लेती है–इस कथन मे भी क्या सार रहा ?

तात्पर्यवादी इसपर कहते है कि ध्वनिवादी, प्रथम प्रतीत अर्थशक्ति मे ही तात्पर्यशक्ति को सीमित क्यो मानते हैं ? यह तो नहीं कि प्रथम अर्थ मे ही तात्पर्य शक्ति रुक जाती है। वक्ता का अन्तिम अभिप्राय जब तक ज्ञात होता है–तात्पर्य-शक्ति का विस्तार है। जहाँतक आवश्यक हैं वहाँतक तात्पर्यशक्ति का विस्तार होता है, इसलिये पृथक् 'ध्वनिव्यापार' मानने की कोई आवश्यकता नही है। तात्पर्यवादी ध्वनिवादी से पूछते हैं –

'एतावत्येव विश्रान्ति तात्पर्यस्येति कि कृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतय् ।'

ध्वनिवादि कहते है कि वक्ता का अभिप्राय वाक्यद्वारा ध्वनित होता है। किन्तु यह अभिप्राय तात्पर्यार्थ मे ही आ जाता है। "गामानय" इस वाक्य का तात्पर्य वाच्यार्थ ही मे विश्रान्त हुआ है। किन्तु "दरवाजा ... ..दरवाजा ...." आदि जब कहा जाता है तब 'दरवाजा खोल दो' अथवा 'दरवाजा बद कर दो' इस रूप का वक्ता का अभिप्राय हम प्रसग के अनुसार समझ लेते है। यह तो तात्पर्य ही है। इस लिये, व्यजकत्व तात्पर्य से भिन्न नही है। अतएक व्यजनाव्यापार मानने की कोई आवश्यकता नही है।–'तात्पर्यनातिरेकाच्च व्यजकत्त्वस्य न ध्वनिः।"

ध्वनिवादियों का सब से प्रबल आधार है रसास्वाद। इनका कथन है कि रसास्वाद की उपपत्ति के लिये ध्वनिस्वीकार आवश्यक है। किन्तु तात्पर्यवादी कहते हैं कि रसास्वाद भी तात्पर्य ही में आ जाता है। वाक्य का पर्यवसान नित्य क्रिया मे होता है। 'गाम आनय" इस वाक्य का पर्यवसान बैल को ले आने की क्रिया मे होता है। "दरवाजा......दरवाजा..... " इस वाक्य का पर्यवसान वक्ता के अभिप्राय के अनुसार, दरवाजा बन्द करने की अथवा खोलने की क्रिया में होता है। वैसे ही विभावादि का पर्यवसान "आस्वाद क्रिया"मे होता है। मीमासको के मन्तव्य के अनुसार वाक्यार्थ का पर्यवसान क्रिया मे ही होता है इसलिये रसास्वाद भी तात्पर्यशक्ति मे ही अन्तर्भूत होता है। इस बात को सिद्ध करने के लिये वे भट्टनायक के भोगीकरण का आधार लेते हैं। इसपर ध्वनिवादियो का कहना है कि ऐसा मान लेने से यह भी मानना पडेगा कि रस अभिधा तथा तात्पर्य की शक्तियों द्वारा ही प्रतीत होता है, और तब रस की स्वशब्दवाच्यता भी मानना अवश्य होगा। तात्पर्यवादी अपने ही हठ पर डट कर, रस की स्वशब्दवाच्यता भी स्वीकार कर लेता है। उसके ध्यान मे नही आता कि, स्वशब्दवाच्यता एक रसदोष है।

ध्वनि तथा तात्पर्यवाद के क्षेत्र एक दूसरे से इतने सटे हुए है कि ध्वन्यालोक का एक अभिनवगुप्तपूर्व टीकाकार अपनी टीका मे ध्वनि का तात्पर्य से समीकरण कर देता है। "यस्तु ध्वनिव्याख्यानायोद्यत तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत्, स नास्माक हृदयमावर्जयति।" और, "यस्तु अत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वनन मन्यते, न स वस्तुतत्त्ववेदी।" इस प्रकार इस टीकाकार के मत का अभिनवगुप्त ने उल्लेख किया है और इस मत के विषय मे प्रतिकूलता दर्शायी है। भोज ने तो, "तात्पर्यमेव वचसि ध्वननमेव काव्ये" इस प्रकार दोनो मे समन्वय करते हुए "चैत्रवैशाख" और "मधुमाधव" के समान इन्हे पर्याय ही निर्धारित किया है। वे कहते है :—

> अदूरविप्रकर्षात्तु द्वयेन द्वयमुच्यते।
> यथा सुरभिवैशाखौ मनुमाधवसज्ञया ॥

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ध्वनि और तात्पर्य परस्पर पर्याय है, तब आनन्दवर्धन का यह आग्रह क्यो है कि 'ध्वनि' एक पृथक् व्यापार मानना चाहिये? यदि भोज का यह कथन कि व्यवहार मे जिसे तात्पर्य कहा जाता है उसीको काव्य मे ध्वनि कहा जाता है – सत्य है तब यह क्या केवल शब्द ही का भेद है? अथवा तात्पर्य से ध्वनि को भिन्न मानने मे ध्वनिवादियो का कुछ दूसरा अभिप्राय है? इन प्रश्नों का उत्तर खोजना चाहिये।

ध्वनिवादी और ध्वनिविरोधको मे भूमिका भेद

आनन्दवर्धन का "तात्पर्य" और धनिक का "तात्पर्य" इनमे बहुत बडा भेद है। आनन्दवर्धन की तात्पर्य की कल्पना शास्त्रीय है। तात्पर्यशक्ति के प्रयोग के विषय मे मीमासा की जो सीमाएँ है उनका आनन्दवर्धन बडी सतर्कता से पालन करते है। अर्थप्रतीतिके विषय मे मीमासा मे अभिधा–तात्पर्य–लक्षणा इस प्रकार क्रम दिया गया है। अभिधा से पदार्थो की सामान्यावगति होती है तथा तात्पर्य से उनकी विशेषावगति होती है। इस विशेषावगति मे यदि बाध हुआ तभी लक्षणा प्रवृत्त होती है, अन्यथा नही। इस प्रकार तात्पर्य यदि लक्षणातकही नही जा सकता तब व्यजना को–जो कि लक्षणा से भी आगे है–कैसे स्पर्श कर सकता है। आनन्दवर्धन ने अभिधा–तात्पर्य तथा लक्षणाकी इन शास्त्रीय सीमाओ का ठीक ठीक पालन किया है, और इसीलिये उन्हे काव्यार्थ की उपपत्ति के लिये व्यजनारूप स्वतन्त्र व्यापार मानना पड़ा। (तस्मात् अभिधा–तात्पर्य–लक्षणाव्यतिरिक्त: चतुर्थोऽसौ व्यापार: ध्वननम्–लोचन)। धनिक ने ध्वनि का तात्पर्य मे अंतर्भाव करने मे तात्पर्यशक्ति

का विस्तार तो किया, इसमे, जिस शास्त्र के आधारपर यह किया जा रहा है उसकी सीमा का अतिक्रमण हो रहा है इस बात का उन्हे ध्यान न रहा। और यह दोष धनिक ने अकेले ने नही किया है। मीमासा के क्षेत्र मे ही काव्यार्थ को ठूँस ने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक मीमासक ने यह दोष किया है। मीमासको ने तीन पृथक् वृत्तियो का स्वीकार किया है–अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा। उनके परस्पर भिन्न क्षेत्र भी निर्धारित किये। किन्तु अन्विताभिधानवादी लक्षण का क्षेत्र वाच्यार्थ से पूर्व ही मानते है इस बात के आधार पर भट्ट लोल्लट आदि ने दीर्घ–अभिधा का स्वीकार किया और अभिधा को सीधे व्यजनातक पहुँचाया। इसमे उन्होने सकेत मे जो नियम है उन सब को एक ओर कर दिया। धनिक ने अभिहितान्वयवादियो थे सबन्ध से तात्पर्यवृत्ति का स्वीकार किया और उसीका व्यजना तक विस्तार किया। किन्तु इसमें तात्पर्य के बाद आनेवाली लक्षणा का उन्हे ध्यान नही रहा। इस प्रकार अभिधावादी तथा तात्पर्यवादी दोनो ने जिस शास्त्र के आधार से विवेचन किया उसीकी सीमाओ का स्वयम् ही अतिक्रमण किया। लक्षणावादियो ने भी यही दोष किया है। व्यजना को लक्षणा के अन्तर्गत बताते हुए द्वितीय लक्षणा अर्थात् विशिष्ट लक्षणा का उन्होने स्वीकार किया। किन्तु इसमे या तो अनवस्था दोष होता है या ज्ञान और फल के नियम का भग होता है, इस बात की ओर उनका ध्यान नही रहा। नैयायिक भी व्यजना को अनुमानविशेष बनाते रहे और इसमें अनुमान के आधार-भूत लिगलिगीसबन्ध की ओर वे ध्यान न दे सके। मम्मट ने शब्दव्यापारविचार में स्पष्ट रूप मे कहा है–"न हि वाच्यव्यग्ययो· प्रतिबन्धग्रहे किचित् प्रमाणमस्ति।" साराश, इन सभी साहित्यमीमासको ने व्यजना का स्वीकार न करने के आग्रह से अपने ही शास्त्रो को व्याकुल किया।

आनन्दवर्धन ने यह दोष नही किया। पद-वाक्य-प्रमाणो से उन्होने जिन जिन कल्पनाओ को लिया उनकी शास्त्रीय सीमाओ का उन्होने रच मात्र भी अतिक्रमण नही किया। अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा, अनुमान आदि सभी का उपयोग उन्होंने शास्त्र की सीमा मे रहकर किया और जहाँ इनकी गति रुक गयी वहाँ केवल काव्यैक-गत व्यजनाव्यापार का स्वीकार किया। इससे, अन्य सबन्धित शास्त्रो को व्याकुल न करते हुए भी काव्य की विशेषता का वे प्रस्थापन कर सके। काव्यमीमासको पर आनन्दवर्धन का यह बड़ा भारी उपकार है।

कवित्वबीजम् प्रतिभानम्

ध्वनिविरोधको ने काव्यार्थ को लौकिक प्रमाणो की तथा लौकिक व्यापारो की सीमाओ मे लाने की चेष्टा की और आनन्दवर्धन ने व्यजनाव्यापार मानते हुए

काव्य को अलौकिकता का प्रतिपादन किया। काव्यार्थ जैसे अलौकिक है वैसे ही व्यजनाव्यापार भी अलौकिक है। व्यजनाव्यापार का क्षेत्र काव्य ही है, काव्य से बाहर व्यजनाव्यापार का स्थान नही है। तात्पर्यादि को जैसे अलौकिक काव्यार्थ का आकलन नही हो सकता वैसेही व्यजना को भी लौकिक व्यवहार मे स्थान नही दिया जा सकता। ऐसा करना भी दोष ही होगा। अलौकिक काव्यार्थ की प्रतीति करानेवाला व्यंजनाव्यापार भी अलौकिक ही है।

व्यजना तथा काव्यार्थ की इस अलौकिकता का क्या कारण है ? लौकिक विषय काव्य के क्षेत्र मे आते ही अलौकिक किस कारण बनते है ?—इसका एकमात्र उत्तर है—प्रतिभा। प्रतिभा ही काव्यार्थ को अलौकिक बनाती है और प्रतिभाही ध्वनन का अर्थात् व्यजना का भी प्राण है। अभिनवगुप्त स्पष्ट ही कहते है,—'प्रतिपतृप्रतिभासहकारित्व हि अस्माभि ध्वननस्य प्राणत्वेन उक्तम्।' कवि के समान रसिक के लिये भी प्रतिभा आवश्यक है। लौकिकपदार्थ कविकी प्रतिभा मे से उज्ज्वल हो कर रसिक के समक्ष प्रस्तुत होते है और रसिक भी प्रतिभाबल से उनका ग्रहण करता है तभी रसनिष्पत्ति संभव होती है; इसमें विशेष यह है कि कवि की और रसिक की भी प्रतिभा नवनवोन्मेषमुक्त ही होती है। भेद इतना ही है कि कवि की प्रतिभाकारक (कारयित्री) रहती है और रसिक की प्रतिभा भावक (भावयित्री) रहती है।

आनन्दवर्धन का विशेष यह है कि अपने विवेचन मे उन्होने प्रतिभा के इस अश की ओर किंचिन्मात्र भी अनवधान नही होने दिया। ध्वनिविरोधको ने काव्य का विवेचन तद्गत प्रतिभा को वर्जित करते हुए किया। अतएव उनका सभी विवेचन—रसविवेचन भी, केवल लौकिक के स्तर पर रहा। ध्वनिवादियो ने काव्यार्थ को प्रतिभा से अविच्छिन्न रूप मे देखा। अन्य बिमर्शको ने काव्यार्थ को प्रतिभा से अलग किया और फिर उसका विश्लेषण किया। दोनो के विवेचन में यह महत्त्वपूर्ण भेद है।

कवि अपनी प्रतिभा से लौकिक अर्थ को अलौकिक के स्तरपर उठाता है एव रसिक भी प्रतिभाबल से हो अलौकिक मे प्रवेश करते हुए उसका आस्वाद लेता है। जब तक प्रतिभा के वलय मे है तबतक ही काव्यार्थ की अलौकिकता है। अतएव प्रतिभा ही काव्यहेतु है। बिना प्रतिभा के, लौकिक अर्थ मे काव्यार्थत्व नही आता, और खीचातानी करके लाने की चेष्टा यदि की गरी तो वह उपहास-विषय बन जाता है। (या विना काव्य न प्रसरेत्, प्रसृत वा वा उपहसनीय स्यात्)। अतएव, 'कवित्वबीजं प्रतिभानम्' कहा जाता है। प्रतिभा के तेज से उज्ज्वल बनी हुई प्रत्येक लौकिक वस्तु आस्वाद्य बन जाती है। प्रतिभा के स्पर्श से रति के

समान शोक भी आस्वाद्य तथा आनन्दमय होता है, और बीभत्स भी आस्वाद्य हो कर रस पदवी प्राप्त करता है। अतएव, मम्मट ग्रन्थ के आरम्भ ही में कहते हैं कि सुखदुःखमोह आदि से भरपूर यह ब्रह्मा की त्रिगुणात्मक सृष्टि कविवाणी के माध्यम से जब प्रकट होती है तब 'ह्लादैकमयी' बनती है।

अध्याय अठारहवाँ

गुणालंकार

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृता ।
अगाश्रितास्त्वलकारा मन्तव्या कटकादिवत् ।।
— ध्वन्या २।६

काव्य का सारभूत अर्थ रस है। रस की संज्ञा यहाँ सामान्य रस के अर्थ मे प्रयुक्त है तथा इसमे विशेष रस, भाव, उनके आभास, भावसधि आदि सभी असलक्ष्यक्रम ध्वनिक्षेपो का अंतर्भाव किया गया है। शब्दार्थो मे रसादि अभिव्यक्त होते हैं अतएव रस तथा शब्दार्थ मे व्यंग्यव्यजक सबन्ध है। कविद्वारा काव्य मे प्रयुक्त शब्द वस्तुत. लौकिक ही रहते है, किन्तु कविप्रतिभा से जब वे प्रकाशित होते है तब उन पर गुणालकारों के सस्कार होते है। इन सस्कारों से ही इनमे व्यजकता का सामर्थ्य आता है। लौकिकगत शब्दार्थो का यदि रस मे पर्यवसान होना आवश्यक है तब गुणालकार ही इनका माध्यम है। अतएव वामन कहते है — "गुणालकारसंस्कृतयोरेव शब्दार्थयो काव्यशब्दोऽयं प्रवर्तते।"

किन्तु वामन के मत के अनुसार गुण तथा अलंकार दोनों शब्दार्थो के धर्म हैं। दोनों मे भेद केवल यही है कि गुण शब्दार्थो के नित्य धर्म है और अलकार अनित्य धर्म है। आनन्दवर्धन ने रस तथा शब्दार्थ में जीवशरीरसबन्ध माना है [१] और बताया है कि गुण रसाश्रित है तथा अलंकार शब्दार्थाश्रित है।

---

१. रस और शब्दार्थों में जीवशरीरसबन्ध क्यो मानना चाहिये, गुणगुणिसबन्ध अथवा धर्म-धर्मिसंबन्ध क्यों माना नहीं जा सकता, इसका विवेचन आनन्दवर्धन ने ध्वनिकारिका ३।३३ की वृत्ति में किया है। जिज्ञासु अवश्य देखें। इसका यहाँ विस्तार नहीं किया जा सकता।

गुण रसधर्म है

आनन्दवर्धन के पूर्व गुण शब्दार्थो के साक्षात् धर्म माने जाते थे। भामह कहते है—"श्रव्य नातिसमस्तार्थ काव्य मधुरमिष्यते।' शब्दो की श्रव्यता, असमस्तता आदि को ही माधुर्य कहा जाता था। परन्तु आनन्दवर्धन ने दर्शाया कि गुण शब्दार्थो से साक्षात् सबद्ध ही नही है। उन्होने दर्शाया है कि, श्रव्यत्व धर्म माधुर्य के लिये आवश्यक है, वैसे ही वह ओजस् के लिये भी आवश्यक है (श्रव्यत्व पुनरोजसोऽपि साधारणम्)। और समासयुक्त रचना ओज ही का साधारण धर्म नही है। उन्होने यह भी दर्शाया है कि शृगार की रचना मे अर्थात् माधुर्य मे कई बार समासयुक्त रचना पायी जाती है। अतएव गुणो को शब्दार्थो का धर्म नही माना जा सकता।

आनन्दवर्धन कहते है कि गुण रसो के धर्म है। माधुर्य शृगार ही का धर्म है। विप्रलम्भ, करुण तथा शान्त मे इसकी प्रकृष्ट प्रतीति होती है। ओजस् रौद्रादि का धर्म है। माधुर्य और ओजस् मूलत चित्त की दृति और दीप्ति के रूप है। रस चित्तवृत्ति रूप है। शृगारादि के आस्वाद के समय चित्तदृति रसिक को प्रतीत होती है तथा वीरादि के आस्वाद के समय चित्तदीप्ति का वे अनुभव करते है। इस प्रकार, दृति और दीप्ति आस्वादरूप चित्तवृत्ति ही के विशेष है। प्रसाद भी रसधर्म ही है। काव्य से रसिक के हृदय में उचित रूप मे रस का समर्पित होना ही प्रसाद है। यह समर्पण हृदयसवाद के कारण होता है और चित्त की निर्विघ्न अवस्था न हो तो हृदयसवाद नही होता। चित्त की निर्विघ्न अवस्थाही प्रसन्न अवस्था अर्थात् प्रसाद है। इस अवस्था मे ही रसिक में हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रम से रसावेश हो सकता है। इस प्रकार प्रसाद भी चित्तधर्म ही है। इस तरह गुण आस्वादरूप चित्तवृत्ति के विशेष है। रसिक के आस्वाद के ये विशेष आस्वाद्य रस पर उपचरित हुए है एव वहाँ से वे व्यजक शब्दार्थो पर उपचरित हुए है (तं च प्रतिपत्त्रास्वादमया, तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे, ततश्च तद्व्यजकयो शब्दार्थयो.। लोचन)। अतएव गुणो को शब्दार्थधर्म मानना उपचारमात्र है [२]

---

२. साहित्यशास्त्रान्तर्गत रीतियों का यहाँ पृथक् रूप में विवेचन नहीं किया है। रीतियों का कुछ विचार पूर्व वामन तथा कुन्तक के प्रसंगसे पूर्वार्ध मे किया है। इसके अतिरिक्त, 'वैदर्भी रीति' नामक पृथक् प्रबन्ध मे हमने रीतियो का विवेचन किया है। (देखिये—तरुण भारत–मराठी, दीपावलि विशेषाक, १९५०)। स्थल के अभाव के कारण यह सम्पूर्ण विवेचन यहाँ प्रस्तुत करना असभव हुआ।

अलंकारों की रसव्यंजकता

अलकार शब्दार्थाश्रित है और उन्हीसे शब्दार्थो मे व्यजकता का सामर्थ्य आ जाता है। रस अभिव्यक्त होने के लिये काव्य को आरम्भ मे वाच्यार्थ अथवा वाच्य का आश्रय करना ही पडता है। यह वाच्य रसाभिव्यक्ति के लिये समर्थ होना चाहिये। वाच्यार्थ मे यह सामर्थ्य अलकारो से आता है। यही एक अन्य प्रकार से कहा जा सकता है। वाच्य के लौकिक रूप मे से रस अभिव्यक्त नही होते। रसाभिव्यक्ति के लिये वाच्यार्थ को लौकिक से भिन्न अर्थात् लोकोत्तर रूप धारण करना पडता है। यह लोकोत्तर रूप ही वाच्यार्थ का अलकृत रूप है। रसावेश मे प्रतिभावान् कवि जो रचना (शब्दप्रयोग) करता है उस रचना (शब्दयोग) मे से निर्माण होनेवाला वाच्यार्थविशेष ही अलकार है। इसको 'उक्तिविशेष' भी कहा जाता है। रसयुक्त काव्य की रचना करते समय प्रतिभावान् कवि की रचना मे अलकार आप ही प्रकट होते हैं। आनन्दवर्धन कहते है कि इस अवस्था मे अलकार कवि के समक्ष 'अहम्पूर्विकया' उपस्थित होते है। इस प्रकार काव्य मे आये अलकारो का रस के साथ अतरंग सबन्ध रहता है। अतएव रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से अलकारो को केवल बाह्य समझने की आवश्यकता नही है। (अलकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतस प्रतिभानवत: कवे: अहपूर्विकया परापतन्ति।...युक्त चैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्या.। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दै· तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा. एव रूपकादयोऽलकारा। तस्मान्न तेषां बहिरगत्व रसाभिव्यक्तौ)।

इसका अर्थ यह है कि काव्यरचना के समय रसाभिव्यक्ति और अलकारों की सृष्टि—दोनो कवि के एक ही प्रयास से सिद्ध होनी चाहिये। तभी वह अलकार उस रस से, अंतरगसबद्ध होकर व्यंजनक्षम हो सकता है। यदि ऐसा न हुआ और अलकार के लिये कवि को यदि पृथक् यत्न करना आवश्यक हुआ, तब कवि का अवधान रस में नही रह पाता और केवल अलकारो की ही रचना में लगा रहता है। इस अवस्था मे रचा अलकार रस से अतरगसबद्ध नही रहता। बाह्य हो जाता है। यह अलंकार रसव्यजक तो रहता ही नही, प्रत्युत रस को बाधक होता है। किसी समय वह रस को बाधक न भी हुआ तो रस में गौणत्व अवश्य लाता है। उदाहरण से यह स्पष्ट होगा —

> कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
> निपीतो नि श्वासैरयममृतहृद्योऽधररस ।
> मुहु· कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्प स्तनतटी
> प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ।।

कोई नायिका ईर्ष्यावश रूठ गयी। हस्ततल पर कपोल रखे रहने से कपोल पर लिखित चदन की रचना (पत्रावली) धुल गयी थी; दीर्घ नि श्वासो के कारण अधर सूख गये थे, और दुख को हृदय ही मे दबाये रखने से वक्ष स्थल में स्पन्दन हो रहा था। उसका अनुनय करता हुआ नायक कहता है—"तुम्हारे कपोल पर लिखित चन्दनरचना हस्ततल ने प्रोञ्छित की है; अमृततुल्य अधर रस के निश्वासो ने पान कर लिया है; बाष्प भर तुम्हारे गले लगा है; और इससे तुम्हारा वक्षस्थल तरलित हो रहा है। यह क्रोध ही तुम्हे प्रिय हो रहा है, हम नही। कमाल का तुम्हारा हठ भी है।"—यह एक चाटूक्ति है। प्रसग है ईर्ष्याविप्रलभ का; नायिका के मिलन के लिये नायक उत्सुक हो उठा है किन्तु अड़गा है क्रोध का। इस क्रोध का वर्णन करने मे, श्लेष के आधार से कवि ने इस पर नायक की कृति (कपोल-स्पर्श, चुम्बन, आलिगन आदि) का आरोप किया है और इसमे, कवि के प्रयास के बिना ही व्यतिरेक की छाया आ गयी है। यह व्यतिरेक यहाँ रस में विघ्न तो करता ही नही, परन्तु ईर्ष्याविप्रलम्भ को और भी आस्वाद्य बनाता है, और हमे बडा अचम्भा होता है कि नायिका के मान के वर्णन में कवि श्लेप और व्यतिरेक कैसे सिद्ध कर पाया। यही अलंकारों का वैचित्र्य है। पूर्वार्ध मे उद्धृत कालिदास का श्लोक—"चलापागा दृष्टिम्" भी—जिस मे भ्रमरस्वभावोक्ति अलकार है—रसाभिव्यजक अलकार का अच्छा उदाहरण है। इस श्लोक की प्रत्येक कल्पना दुष्यंत की अभिलाषा को अधिकाधिक अभिव्यक्त कर रही है। ये दोनो उदाहरण अलकारो की रसव्यंजकता दर्शाते है। कवि ने रसावेश में शब्दरचना की है उसके द्वारा प्रकट वाच्यार्थ ने यहाँ आप ही अलकारों का रूप धारण किया है। अलकार की सृष्टि के लिये कवि को पृथक् यत्न करने की आवश्यकता नही रही।

इन श्लोको की तुलना मे निम्न पद्य देखिये—

> स्रस्त स्रग्दामशोभा त्यजति विरचितामाकुल केशपाश.
> क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दत पादलग्नौ।
> व्यस्त कम्पानुबंधादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्या.
> क्रीडन्त्या पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षम्॥

यह पद्य रत्नावली नाटिका से है। वसन्तोत्सव के समय युवतियों की क्रीडा उदयन देख रहे है। तब अपने मित्र से वे कहते है—"कष्टपूर्वक रची हुई यह फूलो की माला, केशपाश आकुल होने से गिर रही है, ये दोनों नूपुर इस मद्य से उन्मत्त यवति के पैरो मे लगे क्रन्दन कर रहे है। और स्तन भार से मध्यभाग भंग होगा इसकी तनिक भी चिन्ता न करती हुई, क्रीडा मे निमग्न इस युवति का हार, पीड़ा से मानो छाती पीट रहा है।" वसंतोत्सव के शृंगार पूर्ण दृश्यो का वर्णन

करने मे, कवि ने उत्प्रेक्षा के अधीन हो कर शोक के विभानुभाव उपस्थित किये है। वे मूल रस के निश्चय ही बाधक हुए है। यहाँ कवि ने अलकार तो पाया है किन्तु रस को खो दिया है। ऐसे अलकार रस से अतरगसबद्ध नही रह सकते। वे बाह्य होते हैं।

अब स्पष्ट होगा कि रस के परिपोष में साधक अलकार किस सरलता से सिद्ध होते है और कोरी कल्पना के अधीन हो कर कवि ने निर्माण किये अलकार रस के बाधक कैसे होते है। यह सब ध्यान मे रखते हुए आनन्दवर्धन कहते है —

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य सोऽलकारो ध्वनौ मत॰ ॥ (२।१६)

कभी कभी कविद्वारा निर्मित अलकार, यद्यपि रसाभिव्यजक नही रहता, तथापि रस मे बाधक भी नही होता। यह अलकार सर्वथा अनावश्यक होता है। ऐसा अनावश्यक अलकार भी समय मे काव्य मे नष्ट नही होता। उदाहरण के लिये—

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिक न।
मानसमुपैति केय चित्रगता राजहसीव ॥

'रत्नावली' मे सागरिका का चित्र देख कर उदयन की यह उक्ति है। उदयन कहते हैं, "कमलो को हलका-सा धक्का देती हुई और रह कर पखों को फडफडाती हुई, मानस सरोवर मे चित्रगतिसे सचार करनेवाली राजहसी के समान, लीलया कमल से खेलती हुई मुझ से स्नेह दर्शाकर मेरे मन को आकृष्ट करनेवाली यह चित्रगत युवति कौन हो सकती है?"— यहाँ, श्लेषपर आधारित उपमा शृंगार मे बाध तो नही लाती, किन्तु वह उसे पुष्ट भी नही करती। कवि के मन मे एक कल्पना स्फुरित हुई और उसने निविष्ट कर दिया। ऐसा अलकार भी रसव्यंजक नही रह सकता। अतएव रसमय काव्य मे यह भी बाह्य है।

सारांश, काव्यरचना के समय रसकवि को अलकारों के विषय मे समीक्षा रखनी ही चाहिये। उचितानुचितविवेक ही इस समीक्षा का स्वरूप है। रस कवि मे उचितानुचितविवेक कैसे रहता है इस बात को उदाहरण के साथ विवेचित करते हुए आनन्दवर्धन कहते है,— काव्य मे रसानुगुण रूप मे आये हुए अलंकार ही शब्दार्थो में व्यंजकता का सामर्थ्य निर्माण करते हैं। किन्तु इस सीमा का यदि त्याग किया गया और कवि कल्पना तथा अलकारों के वश में हो गया तब उसका प्रयास निश्चय ही रसभग का कारण होता है।" (स एवमुपनिबध्यमानोऽलकारो रसाभिव्यक्ति हेतु॰ कवेर्भवति। उक्त प्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभगहेतु. सपद्यते)।

‘ अनौचित्य ही काव्यदोष है ’

अलकारो का उचित सनिवेश ही लौकिक शब्दार्थो मे व्यजकशक्ति लानेका एकमात्र उपाय है। औचित्य ही रस का परमरहस्य है और अनौचित्य ही रसभग करनेवाला एकमात्र दोष है। आनन्दवर्धन कहते है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

क्षेमेन्द्र इसी को दृष्टान्त द्वारा और स्पष्ट करते है। ‘औचित्यविचारचर्चा’ मे वे कहते है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता—
मौचित्येन विना रतिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणा ॥

मेखला और हार अलकार तो है, और शौर्य तथा करुणा भी गुण है; किन्तु मेखला को कंठ मे अथवा हार को कटि मे धारण करने से, अथवा शरणागत पर शौर्य और शत्रु पर करुणा करने से, हँसी ही उडायी जायेगी। औचित्य न हो तो गुण और अलकार भी शोभा नही पायेगे।

महाकवियो के काव्य मे भी कभी कभी रसभग के प्रसग दिखाये पाये जाते है। इस का कारण यदि देखा गया तो पता चलेगा कि उस समय उनका रस मे अवधान न रहकर वे बाह्य कल्पना के वश मे हो गये हो। इसीको आनन्दवर्धन ‘असमीक्ष्यकारिता’ कहते है। महाकवियों के काव्य मे प्रतीत असमीक्ष्यकारिता की चर्चा करने का यह स्थान नही है। ग्रन्थ मे यत्र तत्र ऐसे उदाहरण दिये गये है इस लिये कि किसी बात को उदाहरण द्वारा विशद करना था— इसके लिये कोई और गति न थी। अन्यथा, आनन्दवर्धन का कथन, “अपनी सहस्रावधि सूक्तियो द्वारा जिन्होने अपनी महत्ता प्रमाणित की है एवम् हमे भी सभ्य बनाया है, उन महात्माओ के, किसी प्रसगवश किये दोषों का नित्य उद्घाटन करना, हमारी अपनी दोषैकदृष्टि का प्रदर्शन मात्र है।” सर्वथा सत्य है।

काव्य का नूतन वर्गीकरण

इस प्रकार, आनन्दवर्धन ने, विविधकाव्यागो की रसमुख से व्यवस्था की तथा रस के प्रधानगुणभाव के अनुसार काव्य के तीन भेद निर्धारित किये—

(१) वह काव्य प्रकार-जिस मे रसादि ध्वनि का ही प्राधान्य है तथा वाच्य-वाचकों के वैचित्र्य का, रस की दृष्टि से गौणभाव है। काव्य का यह उत्तम प्रकार है। साहित्यशास्त्र मे इसे '**ध्वनिकाव्य**' कहा जाता है।

(२) जिसमें रसादिव्यग्य तो है, किन्तु वाच्यवाचक सौदर्य की अपेक्षा उसकी गौणता है एव वह रसादिव्यग्य अन्तत वाच्यवाचक सौदर्य ही का परिपोष करता है। काव्य का यह मध्यम प्रकार है। इसे '**गुणीभूतव्यंग्य**' कहा ज्ञाता है।

(३) काव्य का वह भेद जिसमे रसाभिव्यक्ति कवि का प्रयोजन ही नही है, और वाच्यवाचक ही के सौदर्य पर कवि बल देता है यह काव्य का कनिष्ठ प्रकार है और इसे '**चित्रकाव्य**' की सज्ञा दी जाती है।

ध्वनिकाव्य

पूर्व ध्वनि का स्वरूप विशद करते हुए, ध्वन्यालोक की कारिका 'यत्रार्थ शब्दो वा'— उद्धृत की गयी है। इस कारिका मे कथित लक्षण ही ध्वनिकाव्य का अर्थात् उत्तम काव्य का लक्षण है। पूर्वगत अध्यायो मे ध्वनिकाव्यो के अनेक उदाहरण दिये गये है। रस, भाव, इनके आभास, भावोदय आदि के उदाहरण, ध्वनिकाव्य ही के उदाहरण है। इनमे प्रतीत होनेवाला रसादि ही काव्यात्मा है। जब ध्वनिकार 'काव्यस्यात्मा ध्वनि:' कहते है तब उनका इस रसादिध्वनि से ही अभिप्राय है।

गुणीभूतव्यंग्य

गुणीभूतव्यग रूप काव्यभेद मे रस अथवा भाव ध्वनित होता है। परन्तु रसिक की हृदयविश्रान्ति इस रसादि मे नही होती, अपि तु व्यंग्यार्थ से अधिक आस्वाद्य बने हुए वाच्यार्थ के चारुत्व में होती है। गुणीभूत व्यग्य के उदाहरण-स्वरूप निम्न पद्य दिया जा सकता है—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डा॥

"यह तो लावण्य की एक विलक्षण नदी ही उभर आयी है। आश्चर्य है, क्योकि इस लावण्य की नदी में चन्द्रमा के साथ कमल अवगाहन कर रहे है, और इधर दो गजकुम्भ जलसे बाहर आ रहे है; इनके अतिरिक्त, कदलीस्तम्भ और मृणालदण्ड दे भी दिखाई रहे है"— इस पद्य में सिन्धु (नदी) शब्द से लावण्य

की परिपूर्णता, उत्पलशब्द से कटाक्षच्छटा, 'शशि' शब्द से मुख, द्विरदकुभ से स्तन-द्वय, कदली से ऊरुद्वय, तथा मृणालदण्डसे बाहुद्वय ध्वनित होते है। यहाँ लक्षणामूल अत्यततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है और यह ध्वनि 'अपराहि केयम्—यह कोई दूसरी ही दिखायी दे रही है' इस वाच्याश को अधिक सौदर्यशाली बना रहा है। इसमे व्यग्यकी अपनी शोभा नही है। यह व्यग्य वाच्यांश को सुंदर बना रहा है और वाच्य ही (उस युवति का अपरत्व) हमे अधिक प्रतीत होता है। चन्द्रमा और कमल—जो कभी एकसाथ नही रहते—यहाँ एकत्र है। गजकुभ तो दिखायी दे रहे है, किन्तु इनके द्वारा सूचित हाथी ने अवगाहन करते हुए कदली और मृणाल का नाश क्यो नही किया इस बातपर आश्चर्य होता है। इस प्रकार के ध्वनिवलय ज्यो ज्यो हमे प्रतीत होते है त्यों त्यो इस लावण्य नदी की विलक्षणता (वाच्याश) अधिकाधिक सुदर लगती है, यह वाच्यार्थ का सौन्दर्य अन्तत विस्मय को उत्पन्न करता है तथा अभिलाषा का विभाव बनता है। यहाँ एक बात का स्मरण रहे, यह पद्य यदि पृथक् रूप में लिया जाय, तब इसका वाच्यार्थ लक्षणामूल ध्वनि से अधिक सुदर दीखता है। किन्तु फिरभी, जिस प्रसग मे यह पद्य अनुगत है, तद्गत रसध्वनि की दृष्टि से इस सुदर वाच्यार्थ की भी गौणता ही है। इस पद्य मे अन्तत सूचित होनेवाली अभिलाषा, शृगार का व्यभिचारी भाव है। गुणीभूत व्यग्य के सभी प्रभेदो मे यही होता है। वह अन्तत किसी रस का कोई भाव सूचित करता ही है। क्योकि रसभावविरहित काव्यप्रकार वस्तुत सभव नही है।

चित्रकाव्य

उपर्युक्त दोनो काव्यभेदो से शेष काव्य चित्रकाव्यान्तर्गत है। वह काव्य, जिसमे विशेष रूप व्यग्य का प्रकाशन नही होता एव जिस मे वैचित्र्य केवल वाच्यवाचक ही से सबद्ध रहता है—चित्रकाव्य है। ऐसा काव्य केवल 'आलेख्य-प्रख्य' अर्थात् उत्तम काव्य की जीवरहित प्रतिकृति मात्र है। दुष्कर यमकादि युक्त छद, तथा व्यग्यसस्पर्शविरहित उत्प्रेक्षादि अलकार इस काव्य के उदाहरण है। आनन्दवर्धन ने कहा है कि वास्तव मे, यह तो काव्य ही नही है, काव्य का अनुकार मात्र है। (न तन्मुख्य काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ)।

यहाँ शका उठ सकती है कि इस स्थिति मे काव्य का 'चित्रकाव्य' रूप कोई भेद भी हो सकता है? रसभावविरहित काव्यप्रकार ही सभव नही है। विश्व की किसी भी वस्तु का कवि ने वर्णन किया तो काव्याग रूप मे वह किसी न किसी रस का अथवा भाव का विभाव बनती ही है। इस स्थिति मे, काव्य का रसभाव-विरहित 'चित्र' भेद कैसे माना जा सकता है? इसपर आनन्दवर्धन कहते है—

"आप ठीक कहते है। वस्तुत रसभावविरहित काव्यप्रकार सभव नही है। किन्तु यह भी सत्य है कि ऐसा भी देखा जाता है जब कि कवि रसभावो की विवक्षा न रखते हुए काव्यरचना करते है, काव्यगत शब्दो का अर्थ विवक्षासापेक्ष रहता है। अतएव, ऐसे काव्य की जहाँ कवि को ही रसाभिव्यक्ति अपेक्षित नही है—व्यवस्था के लिए भिन्न काव्यप्रकार मानना पडता है। यह तो ठीक है, कि, कवि की विवक्षा न होने पर भी वाच्यसामर्थ्य से रसादि की प्रतीति होगी। किन्तु तब रसिक को जो रसप्रतीति होती है वह इतनी दुर्बल रहती है कि उस काव्य को नीरस ही मानना पड़ता है। इस नीरस काव्य की कल्पना करके ही हम 'चित्र' भेद मानते है।"

किन्तु, रसविरहित काव्य की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न पर आनन्दवर्धन कहते है, "ऐसी कल्पना न करने से काम नही चलेगा। अपनी वाणी को सयमित रखना जिन्हे ज्ञात ही नही है (विशृखलगिराम), ऐसे अनेक कवियो मे रसभावो की अपेक्षा ही न रखते हुए काव्यरचना करने की प्रवृत्ति नित्य देखी जाती है। अतएव, विवश होकर हमे भी इस भेद की कल्पना करनी पडी।

हमारे मत के अनुसार ध्वनिव्यतिरिक्त काव्यप्रकार ही सभव नही है। जिन की प्रतिभा परिणत हो गयी है ऐसे कवियो का लेखनव्यापार रसभावनिरपेक्ष रहता ही नही। महाकवियो ने अपने काव्यो मे दर्शाया है कि कोई भी वस्तु रसपर्यवसायी हो सकती है। और हमने भी (आनन्दवर्धन उस युग के ख्यातिप्राप्त कवि थे) अपने काव्य मे यथाशक्ति दर्शाया है। इतना ही नही, तो चाटुवचन तथा सप्रश्नक गाथाओ की गोष्ठियो मे (कविमडली की सभाओ मे) भी व्यग्य अथवा गुणीभूत व्यग्य के अतिरिक्त काव्यप्रकार नही दिखायी देता। अतएव, हमारी दृष्टि में ध्वनिविरहित काव्यप्रकार ही नही हो सकता। काव्यरचना का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की--जिनकी कि प्राथमिक अवस्था होती है—रचना को चाहे तो चित्रकाव्य कहा जा सकता है। किन्तु परिणतप्रज्ञ कवियों के सम्बन्ध मे, ध्वनिकाव्य रूप एक ही काव्य-प्रकार हो सकता है।

आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य पर जो अभिप्राय प्रकट किया है उसे मूल ही में पढना चाहिये। उसमे अधिकाश चित्रकाव्य की आलोचना ही प्रतीत होती है। चित्रकाव्य महाकवियो के काव्य का केवल 'प्रतिबिम्बकल्प' अथवा 'आलेखप्रख्य' अनुकरण' ही है। वह केवल 'काव्यानुकार' अथवा 'वाग्विकल्प' है। आनन्द-वर्धन के मत मे ऐसा काव्य हेय है। रसभगकारक अलकारो का वे तिरस्कार करते हैं। रस का अवधान न रखते हुए काव्यरचना करनेवालो को वे आदर की दृष्टि से नही देखते। किन्तु महाकवि भी जब प्रसगवश, केवल अलकार के मोह के अधीन

प्रयोजनों का निर्देश किया है तथापि उनमे से यश, प्रीति और व्युत्पत्ति ही वास्तव मे काव्यप्रयोजन है। (हेमचन्द्र) प्रीति का अर्थ है आनन्द। यह तो 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' प्रयोजन है। किन्तु व्युत्पत्ति क्या है और यह कैसे सिद्ध होती है यह बताना आवश्यक है। काव्य से प्राप्त होनेवाली व्युत्पत्ति पाडित्य नही है, अथवा व्यवहार के लिये आवश्यक चातुर्य भी नही है। काव्य के परिशीलन से रसिक व्युत्पन्न होता है इसका अर्थ यही है कि रसास्वाद के लिये आवश्यक रसिकप्रतिभा का विकास होता है (रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपा व्युत्पत्तिम्—लोचन)। काव्य के परिशीलन से आनन्दलाभ तथा प्रतिभाविकास रूप दोनों फल रसिक को समकाल ही प्राप्त होते हैं। ये दोनों फल वास्तव मे भिन्न नही हैं क्योंकि इनका विषय एकही है। काव्य मे रसमुख से पुरुषार्थ का दर्शन होता है। (हृदयानुप्रवेश-मुखेन चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिराधेया। नैते प्रीतिव्युत्पत्ती भिन्नरूपे एव, द्वयोरप्येक-विषयत्वात्—लोचन)। यही काव्यगत 'कान्तासमिततयोपदेश' है। आनन्द तथा व्युत्पत्ति मे यह आन्तरिक सबन्ध समझ लेने से ही, 'कला अथवा जीवन' के झगडे से ये प्राचीन काव्यसमीक्षक दूर रहे।

उपसहार

आनन्दवर्धन ने विवेचनपूर्वक की हुई काव्यागो की पुनर्व्यवस्था और काव्य-प्रकारो को समक्ष रखते हुए लिखा गया ग्रन्थ ही मम्मटाचार्य का 'काव्यप्रकाश' है। यह तो स्पष्ट ही है कि काव्यप्रकाश की रचना मे मम्मट ने आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तकृत विवेचन का ध्यान रखा था। मम्मट ने आनन्दवर्धनकृत काव्याग व्यवस्था का अनुसरण तो किया ही, और भी जहाँ तक हो सके इसे ध्वन्यालोक तथा अभिनवगुप्त के ही शब्दो मे प्रस्तुत किया। काव्यप्रकाश के अध्ययन में हमें आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के शब्दो का स्मरण होता है, और ध्वन्यालोक तथा लोचन पढते समय स्थानस्थान पर मम्मट का स्मरण होता है।

काव्यप्रकाश के आजतक कई सँस्करण निकल चुके है; किन्तु ध्वन्यालोक लोचन तथा अभिनवभारती के साथ इसमें तुलना की गयी है ऐसा एक सस्करण निकलना आवश्यक है। माणिक्यचन्द्रने अपनी सकेत टीका में इस दृष्टि से प्रयास किया है। किन्तु वह अब बहुत पुराना हो गया है। इस प्रकार सँस्करण यदि प्रकाशित हुआ तो, ध्वनिमत का सक्षेप मम्मट ने किस प्रकार किया यह स्पष्ट होगा। काव्यप्रकाश का अध्ययन करते समय, तद्‌गत युक्तियों का स्वरूप जब ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थों मे किये गये विवेचन से स्पष्ट होता है तभी काव्यप्रकाश का अनन्यसाधारण महत्त्व ध्यान मे आता है।

काव्यप्रकाश के प्रथम छ उल्लासो मे जितने विषय आये है उनका विवचन यहाँतक किया गया है। इस विवेचन मे आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ग्रन्थो का भरसक उपयोग किया गया है। साहित्यशास्त्र के अभ्यासको को इस विवेचन का प्रस्तावना के समान उपयोग होगा। साहित्यशास्त्र की इस प्रस्तावना की समाप्ति हम लोचन के मगलश्लोक ही से करे, जिससे इस प्रस्तावना की समाप्ति तथा साहित्यशास्त्र का आकरग्रन्थ ध्वन्यालोक के अध्ययन का आरभ एकसाथ ही होगा—

अपूर्व यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकला
जगद्ग्रावप्रख्य निजरसभरात् सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्यात्प्रसरसुभग भासयति यत्
सरस्वत्यास्तत्त्व कविसहृदयाख्य विजयते ।।

• • •

कुछ महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ

प्रकृत ग्रन्थ मे अनेक स्थानों पर ' इस बात की विवेचना आगे की जायगी ' इस प्रकार निर्देश किया गया है । किन्तु प्रमादवश, निर्देश के अनुसार विवेचना नही हुई। इसके अतिरिक्त, मूलत ग्रन्थ मे दोष, गुण तथा अलकार के पृथक् अध्याय थे, किन्तु अन्तत , उनका सक्षेप गुणालकार के एक ही अध्याय में किया गया । इस सक्षेप के कारण भी कई निर्देश न रह सके । उनमें से कुछ एक यहाँ सदर्भ (context) सहित दिये जाते है ।

अध्याय २ – धर्मी तथा अलंकार— पृष्ठ ३९ पक्ति १९

(सदर्भ—लोकधर्मी का स्वभावोक्ति से एव वक्रोक्ति का नाटयधर्मी से किस प्रकार सबन्ध है इसकी विवेचना उत्तरार्ध मे की जायेगी) ।

नाट्य के समान काव्य मे भी रसप्रयोग ही होता है । नाटचगत रस अभिनय के द्वारा सपन्न होता है, और काव्यवस्तु मे भी ' स्वभिनीतता ' होना आवश्यक होता है । अभिनय की जिस प्रकार इतिकर्तव्यता रहती उसी प्रकार कविव्यापार की भी इतिकर्तव्यता रहती है । अभिनय की इतिकर्तव्यता है लोकधर्मी और नाट्यधर्मी एव कविव्यापार की गुणालकार । गुणालकार लोकधर्मी अभिनय साक्षात् भावसमर्पक होता है एव नाटयधर्मी अभिनय सौदर्याधायक होता है (अ. भा)। इसी तरह स्वभावोक्ति मे भावो का साक्षात् समर्पण होता है एव वक्रोक्ति के द्वारा उक्तिवैचित्र्य का आधान होता है (व्यक्तिविवेक) । नाटचगत लोकधर्मी भित्तिस्थानीय है एव नाटचधर्मी चित्र स्थानीय है तथा उनके द्वारा समूहालम्बन से विभाव आदि संपन्न होते है और रसप्रयोग सिद्ध होता है (अ. भा) । इसी तरह सौदर्याधायक वक्रोक्ति तथा अर्थव्यक्ति गुणाधायक स्वभावोक्ति के द्वारा विभावादि-

साक्षात्कार के रसोक्ति सिद्ध होती है (तत्र उपमाद्यलकारप्राधान्य वक्रोक्तिः। साऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्ति । विभावानुभावव्यभिचारिसयोगात् रसनिष्पत्तौ रसोक्ति ।–शृ. प्र) । अतएव अभिनवगुप्त लोचन मे कहते है– " काव्येऽपि च लोकनाटयधर्मस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिक प्रसन्नमधुरौजस्वि शब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता ।"

अध्याय ३ — रसवत्,–कान्तिगुण-रस-पृष्ठ–६९ टिप्पणी क. २५

(सदर्भ—रसवत् कान्तिगुण-रस इस क्रम से ही रस का इतिहास देखना आवश्यक होता है) ।

भामह, दण्डी तथा उद्भट का कथन है कि विभावानुभावसयोग के द्वारा जिसमे रस स्पष्ट तया प्रतीत होता है वह काव्य रसवत् है, अथवा उस काव्य में रसवत् अलकार है, वामन का कथन है कि ऐसे काव्य मे ' कान्ति ' नामक गुण होता है और उसीके कारण काव्य में नवीनता प्रतीत होती है, और रुद्रट का विचार है कि ऐसा काव्यरस से युक्त रहता है । ' रसवत् ' है एक अलंकार, ' कान्ति ' है गुण, ' रस ' है काव्य का सहज धर्म, और इन सबसे काव्यगत सौदर्य का ही निर्देश किया गया है । इससे स्पष्ट होगा कि, रसवत्-कान्ति-रस इस क्रम से काव्यसौदर्य पर विचार क्रमश सूक्ष्मतर होता गया ।

नाटच से काव्यचर्चा पृथक् होते ही, काव्यालकार का स्वतत्र अभिधान उसे प्राप्त हुआ । ' अलकार ' शब्द काव्यगत सौदर्य का वाचक हुआ और इसी अर्थ मे उसका प्रयोग होने लगा । इससे, अलकार, गुण, रस आदि सभी एक व्यापक अर्थ में ' अलंकार ' ही बन गये । भामह के ग्रन्थ मे गुण और अलकारो का भेद नही है। कहा जा सकता है कि सभवत भामह का उससे अभिप्राय भी नही था । भामह के टीकाकार उद्भट का एक वचन इस प्रकार है —

" समवायवृत्त्या शौर्यादय , सयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालकाराणा भेद., ओज प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीना च उभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैव एपा भेद । "

इस वचन से दिखायी देता है कि, गुणालकारो का भेद उद्भट को स्वीकार न था, प्रत्युत उनका आशय है कि यमक, उपमा आदि जिस प्रकार शब्दार्थो के शोभाकर धर्म है उसी प्रकार माधुर्य आदि सघटना के शोभाकर धर्म है । उद्भट का यह विचार भामह विवरण मे है, अतएव सभवत भामह का भी ऐसा ही मत था ऐसा तर्क करने मे आपत्ति नही होनी चाहिये ।

किन्तु काव्यशोभाकरत्व की दृष्टि से सभी काव्याग एक ही होने पर भी, दण्डी का मन्तव्य है कि कोई धर्म मार्गविशेष के असाधारण धर्म होते हैं और, कोई धर्म सभी मार्गों के साधारण धर्म होते है।

पूर्व मार्गविभागार्थमुक्ता काश्चिदलक्रिया ।
साधारणमलकारजातमत्र विविच्यते ।।

इस प्रकार उन्होने काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में कहा है। अर्थात् उनके मत में कोई अलकृतियाँ सभी मार्गो के लिये साधारण होती है और कोई अलकृतियाँ मार्ग मार्ग के लिये विशिष्ट होती है। यह असाधारण अलकार अर्थात काव्यशोभाकर धर्म ही गुण है। दण्डी ने इस प्रकार काव्यशोभाकर धर्मों मे साधारण तथा असाधारण रूप में भेद करते हुए, उस से अलकार तथा गुणो का विवेक सिद्ध किया।

किन्तु केवल इसीसे, गुणो का निश्चित स्वरूप स्पष्ट नही हुआ। यह कार्य वामन ने किया। वामन ने देखा कि काव्यबध के कोई नित्य विशेष होते हैं। काव्य-सौदर्य का निर्माण ही मूलत. उन विशेषो पर अवलबित रहता है। प्रत्युत कोई धर्म शोभावर्धक होते हैं। वैसे ही पूर्वोक्त धर्म नित्य होते है और दूसरे अनित्य हैं। इनमे से नित्य धर्म ही गुण है एव अनित्य धर्म अलकार है। वामन के मतानुसार रीति का स्वरूप नित्यगुणात्मक होने से, गुण और रीति अभिन्न है।

वामन और उद्भट समसामयिक ग्रन्थकर्ता थे। उनके विचारो मे एक महत्त्वपूर्ण भेद है, जिसका कि यहाँ ध्यान रखना आवश्यक है। वामन गुणो को नित्य मानते हुए उन्हे काव्यशोभा के कारक धर्म बताते हैं। अलकारों को वे कारक धर्म नही मानते अपितु शोभावर्धक धर्म कहते हैं। प्रत्युत उद्भट गुण तथा अलंकार दोनो को नित्य मानते है, एव दोनों को कारकधर्म ही स्वीकार करते है।

वामन ने गुणविवेचन एक विशिष्ट क्रम से किया है। ओजस् – प्रसाद – श्लेष – समता – समाधि – माधुर्य – सौकुमार्य – उदारता – अर्थव्यक्ति – कान्ति इस क्रम से उनका विवेचन है। ओज का अर्थ है प्रौढी। वामन कृत विवेचन का आरभ कविप्रौढोक्ति से है तथा कान्ति अर्थात् रसवत्ता से उसकी समाप्ति है। कवि की प्रौढोक्ति मे अभिप्राय होता है (ओजस्); शब्दो की रचना विवक्षित अर्थ (अभिप्राय) मे समुचित होती है (प्रसाद); वर्णित घटना में क्रम, वैदग्ध्य, अनुल्बणता तथा उपपत्ति होती है (श्लेष); उसमे कही भी विषमता अथवा क्रम भेद नही रहता (समता); कवि के काव्य मे अर्थ नवीन हो सकता है अथवा

अन्यप्रेरित हो सकता है, वह व्यक्त हो सकता है अथवा सूक्ष्म (प्रतीयमान) हो सकता है, सूक्ष्म भी भाव्य (अगूढ) हो सकता है अथवा वासनीय (गूढ) हो सकता है (समाधि); कवि इस अर्थ को उक्तिवैचित्र्य (माधुर्य) से, परुषता तथा ग्राम्यता को वर्जित करते हुए (उदारता), हमे यथार्थ रूप मे स्फुटतया प्रतीत कराता है (अर्थव्यक्ति), और ऐसे ही काव्य मे रस दीप्त होता है (कान्ति)। इस दीप्तरसता के कारण ही काव्य मे प्रतिक्षण नवीनता (उज्ज्वलता) आती है। रस के अभाव मे काव्य पुराने चित्र के समान उदास हो जाता है, एवं रसहीनता से कविवाणी वन्ध्य होती है।

वामन के इन अर्थगुणो से क्या स्पष्ट होता है? उदारता तथा सुकुमारता मे लक्षणा है। समाधिगुण मे तो व्यजना का बीज है। वामन का भाव्य तथा वासनीय अर्थ तो अगूढ तथा गूढ व्यग्य का सक्षेप मे रूप है। अर्थव्यक्ति मे अर्थ की स्फुट-प्रतीति और विभावन है, और कान्ति तो रसादिध्वनि ही है। माधुर्य मे उक्तिवैचित्र्य एव अलकारप्रपच अन्तर्गत् है, एव श्लेष मे वस्तुरचना सौदर्य है। प्रसाद मे विवक्षा-समुचित शब्दरचना है एव यह सब ओजस् अर्थात् कविप्रौढोक्ति पर अधिष्ठित है। यहाँ आनन्दवर्धन के इस कथन का स्मरण हो आता है कि कविप्रौढोक्ति तथा कविनिर्मितपात्रप्रौढोक्ति भी सघटना के नियामक हैं। साराश, वामनकृत विवेचना मे ध्वन्यालोक के बीज शब्दभेद से पाये जाते हैं। वामन के विचार से रीति काव्य की आत्मा है, और कविप्रौढोक्ति (ओजस्) से प्रदीप्त रस (कान्ति) ही रीति का स्वरूप है। काव्य के लिये आवश्यक रस की नित्यता वामन ने ठीक पहचानी थी, अतएव उन्होने रस को साधारण अलकारसमूह से पृथक् किया तथा उसे काव्य के नित्यधर्मो मे अर्थात् गुणो मे स्थान दिया।

रुद्रट ने गुणालकार विवेक नही किया। किन्तु उन्होने रसालकारविवेक अवश्य किया। रस तथा अलकार काव्य के शोभाकर धर्म तो है किन्तु उनमे अलकार कृत्रिम धर्म है और रस शोभाकर सहज धर्म ह इस तथ्य को उन्होने ठीक पहचाना, अतएव उन्होंने अलकारो से भिन्न एव पृथक् रूप मे रसों का विवेचन किया। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु कहते हैं —

"अथ अलकारमध्ये एव रसा अपि कि नोक्ता ? उच्यते काव्यस्य शब्दार्थो शरीरम्। तस्य च वक्रोक्तिवास्तवादय कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलकारा.। रसास्तु सौदर्यादय इव सहजा गुणा इति भिन्नस्तत्प्रकरणारम्भ ॥"

इससे, आनन्दवर्धन के पूर्वकाल तक का काव्यसौदर्यविचार हम आलेख मे इस प्रकार बता सकते है —

ध्वनि के पूर्व हुए इस विकास का पर्यवसान तथा पुनर्व्यवस्था ध्वन्यालोक में किस प्रकार की गयी है इसे देखना आवश्यक है, अन्यथा विकास का यह इतिहास पूर्ण नही हो सकता। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत मे गुण, सघटना, तथा रस मे अन्योन्यसबन्ध प्रस्थापित करते हुए यह विषय आया है। वह सक्षेप मे इस प्रकार है—

रीति और गुणात्मता मे वामन ने अभेद माना है; क्योकि उनके विचार से गुण रीति का नित्य धर्म है। उद्भट आदि ने गुणो को मघटनापर आश्रित मानते हुए सघटना एव गुणो मे भेद की कल्पना की एव माना कि सघटना गुणो का आश्रय है। किन्तु आनन्दवर्धन ने सिद्ध किया कि गुण वस्तुत रसधर्म हैं। इस कारण, गुण सघटनापर आश्रित नही हैं, प्रत्युत सघटना हि गुणो पर आश्रित है। यह तीन मत आलेखरूप मे इस प्रकार बताये जा सकते है—
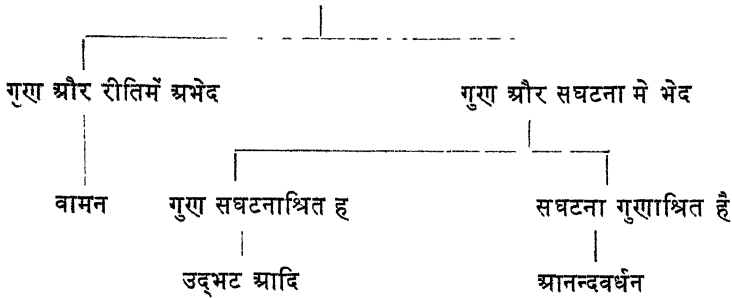
इस का अर्थ है, गुण रस के धर्म हैं। रस गुणी है, माधुर्य आदि उसके गुण है। संघटना अर्थात् रीति इन गुणो के आश्रय से रहती हुई रस को अभिव्यक्त करती है। गुण काव्यशोभा के कारक हेतु नही हैं अपितु वे रस के अभिव्यजक

उपाय है। अतएव रस के अभिव्यंजक होने से ही काव्य मे अलकार, रीति एव वृत्ति को स्थान है। इस प्रकार रसवत्–कान्तिगुण–रस का इतिहास है।

अध्याय ३ पृष्ठ ७१ पक्ति २४–२७

(सदर्भ—भामह २।८५ इस कारिका का अभिनवगुप्त ने आधार लिया है तथा भामहकृत शब्दचारुत्व के विवेचन का पृष्ठगत रसानुगामित्व स्पष्ट किया है। इसके मूल उद्धरण—)

(क) यथारस ये भावा विभावानुभावव्यभिचारिण, तेषा योऽर्थ, त स्थायिभावरसीकरणात्मक प्रयोजनान्तर गतानि प्राप्तानि यदभिधाव्यापारोपसङ्क्राता उद्यानादयोऽर्था तद्रसविशेषविभावादिभाव प्रतिपद्यन्ते तानि लक्षणानि इति सामान्यलक्षणम्। अत एव भट्ट नायकेनाऽपि अभिधाव्यापारप्रधान काव्य-मित्युतक्म्।... व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेदिति।—" सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति-रनयाऽर्थो विभाव्यते ।। इति ।।

(ख) ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत मे आनन्दवर्धन का वचन है—"शब्द-विशेषाणा च अन्यत्र चारुत्व यद्विभागेनोपदर्शित तदपि तेषा व्यजकत्वेनैव अवस्थितम् इत्येव मन्तव्यम्।" इस पर अभिनवगुप्त कहते है—"अन्यत्र भामहविवरणे। विभागेनेति स्त्रक्चन्दनादय शब्दा शृगारे चारव बीभत्से तु अचारव इति रसकृत एव विभाग।" अभिनव भारती अ. १६.

अध्याय ४ पृष्ठ ९३ टिप्पणी क्र. २३

काव्य प्रत्यक्ष से सबन्धित विवेचन पृष्ठ १२२ से १२५ मे आया है।

अध्याय ६ पृष्ठ १३२ पक्ति ५–६

मम्मट को काव्यात्मता से रस ही अपेक्षित है इसके निर्देशक कुछ उद्धरण—

(१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्य।
उभयोपयोगिन स्यु शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स।

(२) ये रसस्यागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा.।।
उपकुर्वन्ति त सन्त येऽगद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलकारास्तेऽनुप्रासोपमादय ।।

अध्याय १५ पृष्ठ (१६८)

रुद्रटकृत रसविवेचन

उद्भट के अनन्तर रुद्रट ने रस पर लिखा है। रसप्रकिया के इतिहास मे

रुद्रट के विवेचनान्तर्गत दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। रुद्रट का कथन है "रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैं ।" उनका विचार है कि रति आदि भावो के समान निर्वेद आदि भी रसनाव्यापार के अर्थात् रस्यमानता के विषय होते है अतएव वे भी रस है। यह विचार हमे अभिनवगुप्त के अत्यत निकट पहुँचाता है। अभिनवगुप्त का कथन है कि रस्यमानता अर्थात् चर्व्यमाणता ही रस का प्राण है। यह भी असभव नही कि अभिनवगुप्त की सामान्यरस-और विशेषरस की उपपत्ति रुद्रट से सबधित हो। सभव है कि अभिनवगुप्त ने रुद्रट से और भी एक बात ली हो। शान्त रस की विवेचना मे शान्त का स्थायी क्या है इस विषय में अभिनवगुप्त कहते है—'कस्तर्हि अत्र स्थायी? उच्यते, इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनम् इति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञान च आत्मज्ञानमेव।" रुद्रट का भी शान्त के सबन्ध मे यही विचार है। वे कहते है—

सम्यग्ज्ञानप्रकृति शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
सम्यग्ज्ञान विषये तमसो रागस्य चापगमात्॥

इस पर नामिसाधु लिखते है—'समग्ज्ञान स्थायिभावः।

● ● ●

सूचि

(ब)

(ह)

(क्ष)

(ज्ञ)